॥ हरि:ॐ ॥

जीवनसोपान

पूज्य श्रीमोटाना पत्रो (साधकोने)

हरि:ॐ आश्रम प्रकाशन, सुरत

॥ हरि:ॐ ॥

जीवनसोपान

(गुजराती पुस्तक 'जीवनसोपान')

(श्रीमोटा के पत्र एक साधक बहन को)

: संपादकों :

हेमन्तकुमार नीलकंठ

नन्दुभाई शाह

: अनुवादक :

डो. कविता शर्मा 'जदली'

हरि:ॐ आश्रम प्रकाशन, सूरत

❑ **प्रकाशक :**
हरि:ॐ आश्रम, कुरुक्षेत्र श्मशानघाट, जहाँगीरपुरा
सूरत–३९५००५, भ्रमणभाष : ९७२७७ ३३४००
Email : hariommota1@gmail.com
Website : www.hariommota.org

© हरि:ॐ आश्रम, सूरत

❑ प्रथम संस्करण : २०२३

❑ पृष्ठ संख्या : ३० + २९८ = ३१८

❑ प्राप्तिस्थान : हरि:ॐ आश्रम, सूरत – ३९५००५.
हरि:ॐ आश्रम, नडियाद–कपडवंज रोड,
जूना बिलोदरा, पो.बो. नं. ७४, नडियाद – ३८७००१.
भ्रमणभाष : +९१ ७८७८० ४६२८८

❑ अक्षरांकन : अर्थ कॉम्प्यूटर
२०३, मौर्य कोम्प्लेक्ष, सी. यु. शाह कॉलेज के सामने,
इन्कमटैक्स, अहमदाबाद–३८००१४.
भ्रमणभाष : ९३२७० ३६४१४

❑ मुद्रक :
साहित्य मुद्रणालय प्रा. लि.
सिटी मिल कम्पाउन्ड, कांकरिया रोड, अहमदाबाद–३८००२२
दूरभाष : (०७९) २५४६९१०१

॥ हरि:ॐ ॥

श्री नटवरलाल माणेकलाल चीनाई को सप्रेम भावांजलि

(अनुष्टुप)

श्रीरामकृष्ण भाव से, प्रेरित परमार्थ से !
सेवा यज्ञ चलाया है, कृतनिश्चयी क्या सही ! १.
देने को बहुत जिसका, कैसा हाथ उदार है !
तीर्थाटन के बारे में श्रद्धा, जिसकी कैसी अपार ! २.
शांति प्रसन्नतापूर्ण, स्वच्छता **जीव** को प्रिय,
क्या संविधान ऐसा है, जिसका जीवन में सच ! ३.
चारों तरफ संपूर्ण, स्वच्छता आईना सम,
जिसे पसंद दिल में, ऐसे शौकीन **जीव** वे । ४.
कभी निपट गंभीर, मुक्त हास्य शायद ही,
तब क्या भजनानंदी, कैसा मस्तराम वह ! ५.
सद्‌गुण दुर्गुण दोनों, मानवी में बसे सही,
देखके दुर्गुण टाला, देखके सद्‌गुण रखा । ६.
वैभव मिला जन्म से, तब भी क्या नम्र दिल से,
तब भी निश्चिंत पूर्ण, ऐसे भी नहीं हो तुम । ७.
तुम क्या **जीव** के भोले ! विवेकी व्यवहारी हो,
वारी जाऊँ सब उसे, देते हुए न देर हो । ८.
अपना मुझ को जान, प्रीति कैसी की मुझ से,
स्वागत मेरा प्रेम से, उदार सहायता की । ९.
बदला चुँका न सकूँ, यह छोटी-सी पुस्तक,
समर्पित कर आपको भाव से कृतार्थ होऊँ दिल से । १०.

– मोटा

निवेदन

(प्रथम संस्करण - हिन्दी)

पिछले कई वर्षों से हमारे हरि:ॐ आश्रम, सूरत और नडियाद के मौनमंदिरों में बिनगुजरातीभाषी साधकों अपनी आध्यात्मिक प्रगति के लिए आने लगे हैं । उन साधकों श्रीमोटा के अमूल्य आध्यात्मिक साहित्य द्वारा मार्गदर्शन प्राप्त कर सके इसलिए श्रीमोटा का आध्यात्मिक साहित्य जो मूल गुजराती भाषा में प्रकट हुआ है, उसका हिन्दी और अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करने का प्रस्ताव हमारे ट्रस्टीमंडल के एक सदस्य श्री रजनीभाई बर्मावाला ने थोड़े वर्ष पहले रखा था । उस अनुसार वह कार्य लगभग सन् २००८-२००९ से शुरू किया हुआ है । ट्रस्ट के अन्य कार्यों की जवाबदारियाँ निभाते निभाते ट्रस्टी श्री रजनीभाई ने 'विद्यार्थी मोटा का पुरुषार्थ', 'मौनमंदिर का मर्म', 'मौनमंदिर में प्रभु', 'देवासुर संग्राम', 'जीवित नर सेएँ' आदि पुस्तकों स्वयं अनुवाद किये हुए हैं । श्रीमोटा के आध्यात्मिक साहित्य का हिन्दी अनुवाद करने में श्री भास्करभाई भट्ट, इन्दौर (म. प्र.) (वर्तमान में स्वर्गस्थ) और डॉ. कविता शर्मा, 'जदली' पीएच. डी. अहमदाबाद का सहकार भी मिला है । अभी अभी पिछले दो वर्ष से इस कार्य को शीघ्रता से करने के लिए श्रीमोटाकृपा से श्रीमोटा के एक प्रेमी स्वजन श्री निरंजनभाई चंदुलाल पटेल ने उत्साहपूर्वक एक धक्का और माारा है कि श्रीमोटा का पूरापूरा गुजराती आध्यात्मिक साहित्य हिन्दी और अंग्रेजी भाषा में अनुवाद कराके ट्रस्ट की वेबसाईट www.hariommota.org पर इ-बुक के रूप में सभी के लिए उपलब्ध कराना । श्री निरंजनभाई ने केवल शाब्दिक धक्का नहीं लगाया, किन्तु इस कार्य के लिए रुपये चालीस लाख से कुछ अधिक की धनराशि भी श्रीमोटा के चरणकमल में अर्पित कर दी है और तो और क्या इससे अधिक खर्च यदि हो तो और अधिक धनराशि देने की तैयारी बताई है । उनका असीम आभार हमारी सीमित

शब्दावलि से व्यक्त करने में हम असमर्थ हैं । इसका बदला चुकाने का सामर्थ्य तो केवल श्रीमोटा में ही है और वे ही चुकायेंगे ऐसी आपश्री के चरणकमल में हमारी प्रार्थना है ।

श्रीमोटा एक अत्यंत गरीब रंगरेज कुटुम्ब से आते हैं । आपश्री ने स्वप्रयत्न से और अपने समर्थ श्रीसद्गुरु श्रीकेशवानंदजी धूनीवाले दादा (सांईखेडा-खंडवा (म. प्र.)) के आध्यात्मिक मार्गदर्शन से संसार का त्याग किये बिना लगभग सत्रह वर्ष कठिन साधना की और सन् १९३४ में सगुण ब्रह्म और सन् १९३९ में निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार किया ।

श्रीमोटा इसके बाद अपने आप स्वयं आ मिले ऐसे प्रयत्नशील जिज्ञासु साधकों को केवल व्यक्तिगत रूप से प्रत्यक्ष में या परोक्ष रूप में पत्रों द्वारा आध्यात्मिक मार्गदर्शन देते थे । यह पुस्तक 'जीवनसोपान' एक साधक बहन को लिखे हुए पत्रों के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है, जो हम जिज्ञासु, मुमुक्षु साधकों के करकमल में रखते हैं । और आशा करते हैं कि वे सब अपने अपने सामर्थ्य अनुसार लाभ प्राप्त करें ।

दि. २६-१-२०२३ **ट्रस्टीमंडल**
(वसंतपंचमी - श्रीमोटा का दीक्षा-दिन) हरिःॐ आश्रम, सूरत

अनुभवी की वाणी

'जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचें कवि !
जहाँ न पहुँचे कवि वहाँ पहुँचे अनुभवी !'

यह उक्ति अनुभवी का दर्शन कितना व्यापक, विशाल और वेधक है उसका सूचित करती है। अनुभवी को आत्मदर्शन होने से उसे नौ कोषों में दीपक प्रज्वलित होते हैं। उसके प्रकाश में उसे जगत की सभी वस्तुएँ करबदरवत् प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है। ज्ञानी का ज्ञान उन विषयों के प्रति मर्यादित होता है। जबकि अनुभवी विषयों से पर जाकर के अतीन्द्रिय की भूमिका में भी सहजभाव से विचरण कर सकता है।

पूज्य श्रीमोटा का 'जीवनसोपान' भी ऐसी ही अनुभवी की वाणी है। एक साधक बहन को आध्यात्मिक क्षेत्र की उन्नति के सोपानों पर चढ़ाने के लिए पूज्यश्री ने इन पत्रों द्वारा मार्गदर्शन दिया है।

प्रस्तुत पत्र 'साधना करनेवाले प्रत्येक **जीव** को लागू हो वैसे हैं। 'तू' सर्वनाम यह तो मात्र प्रतीकरूप लगता है।' (पृ. १७५) यानी कि जैसे भगवान श्रीकृष्ण ने *अर्जुनं निमित्तीकृत्य* जगत को गीतारूपी अमृत का पान कराया था, वैसे पूज्यश्री ने एक बहन को निमित्त बनाकर सभी साधकों को अपने अनुभव के नवनीत का पान करवाया है। वे योग्य ही कहते हैं 'तुम पर लिखें पत्र तो सर्वसामान्य हैं। वे तुझे भले लिखें हों, पर वे सभी साधक-स्वजनों को उद्देश कर लिखे हुए हैं कि जिससे वे सभी के काम आयें।' (पृ. २४१)

पत्रलेखन यह एक विशिष्ट साहित्यप्रकार भी है। इतना ही नहीं, परंतु 'वह भी एक साधना का प्रकार है। हृदय-हृदय को मिलने का वह उत्तम प्रकार का अवसर है।' (पृ. १७५)

इसप्रकार, पत्र द्वारा साधक के हृदय को मिलकर, समझकर उसे उत्तरोत्तर ऊर्ध्वक्रमण करवाने का पूज्यश्री का यह प्रयोग पूज्यश्री का साधकों के प्रति की ममता और वात्सल्य का उत्तम उदाहरण है।

इन पत्रों के द्वारा पूज्यश्री ने साधना के अनेक रहस्यों को खोल दिया है और वह भी शास्त्र की जटिल पारिभाषिक शब्दजाल द्वारा नहीं, परंतु पढ़नेवाले के दिल में एकदम उतर जाय ऐसी सरल और स्पष्ट भाषा में हमारे सामने रखा है । यह इस ग्रंथ की विशिष्टता है ।

'ज्ञानं भार: क्रियां विना' क्रिया बिना का ज्ञान अर्थात् आचरण में न उतरा ज्ञान मात्र भाररूप है । शास्त्र पांडित्यरूपी ज्ञान यह सच्चा ज्ञान नहीं हैं । तत्त्वानुभव वही सच्चा ज्ञान है । और वह अनुभव होता है तभी वह ज्ञान विज्ञान की कोटी में पहुँचता है । फिर वह **जीव** जगत की दृष्टि से पंडित न होने पर भी उसके विचार और वाणी में शास्त्र के रहस्य अपनेआप प्रकट होते हैं ।

नारेश्वर के संत श्रीरंगअवधूत बापजी उच्च कोटि के पंडित होने पर भी अपने आपको *'मूर्खोऽस्मी मूर्खराजोऽस्मि'* ऐसा कहते, वैसे पूज्यश्री भी स्वयं को शास्त्र का ज्ञान नहीं है, ऐसा बारबार कहकर अपनी नम्रता प्रकट करते हैं, परंतु पूज्यश्री की वाणी में शास्त्र के रहस्य किस तरह खुलते हैं, उसका दिङ्मात्र उदाहरण देखें ।

'सहज साधना' के बारे में लिखते हुए पूज्यश्री जो कहते हैं, 'मात्र हम यदि हमारे सभी कर्मों में सभी समय हृदय की सच्ची दानतवाले हों और हमारी भावना यदि एकमात्र प्रभुप्रीत्यर्थ जो तो किया करने की हृदय में हृदय से जाग गयी हो अथवा उस तरह का हमें अभ्यास होता रहता हो अथवा वैसा अभ्यास विकसित करने का जीताजागता प्रयत्न हुआ करता हो और उस समय हमारे मनहृदय श्रीभगवान के प्रति ही उन्मुख रहा करते हों या वैसा रहने के लिए हृदय से प्रयत्न करते हों और उसमें संपूर्ण तल्लीन, एकाग्र और केन्द्रित हुआ करें, तो जो कुछ आवश्यक हुआ करे वह अपनेआप हमारे पास श्रीप्रभुकृपा से उपस्थित हो जाएगा, ऐसा *इस जीव* को श्रीप्रभुकृपा के बल-आधार से पक्का अनुभव हो गया है, यह जानें । वैष्णवधर्म की जो मूल भावना है कि जो तो सब श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ

ही किया करें, वह तो सहज साधना है।' (पृ. १७६) *'मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि'* यह गीता के वचनों का अनुवाद ही लगता है।

'फिर, इन्द्रियों के स्पर्श को तथा इन्द्रियों के विषयों को मन न स्वीकार कर सके इसके लिए निःस्पंदता या नीरवता की स्थापना होनी चाहिए।' (पृ. १२०) ये शब्द अष्टांगयोग के प्रत्याहार नामक पाँचवे अंग का विवरण है।

'फुरसत के समय का सदुपयोग करने की कला आज तो लगभग सभी खो बैठे हैं, पुरुष एवं स्त्री दोनों जन। समय बहता जाता है, जीवन लुढ़कता जा रहा है, ऐसा उसका भान सदृश भी किसी को नहीं है।' ये शब्द *'पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्'* यह भर्तृहरि के शब्दों का ही रूपांतर लगता है।

उसी तरह गुरु (पृ. ३४, ९५), गुरु की चेतना का कार्य (पृ. १६) अभ्यास (पृ. २२, २३), मनःशुद्धि (पृ. ६८, १२३, १२५, २११), नामस्मरण (पृ. २४६), साधना के मार्ग (पृ. २८०) आदि विषयों पर का पूज्यश्री का मनन और प्रतिपादन उनके गहरे आत्मज्ञान की प्रतीति करानेवाला है।

पूज्यश्री की साधना प्रणाली भक्तिमार्गीय है। नामस्मरण और प्रभु-प्रार्थना ये दो उसकी बुनियादी हैं। उसके द्वारा मनःशुद्धि होकर मन अंतर्मुख हो, और विचारों की श्रृंखला धीरे-धीरे शिथिल हो जाय उस प्रकार का सतत अभ्यास करने का पूज्यश्री बारबार सूचन करते हैं। मनुष्य अपने मन, बुद्धि, प्राण, अहंकार, चित्त आदि करणों को शुद्ध बनाकर अपरा प्रकृति के पंजें से किस तरह मुक्त हो सकता है, उसका भी विशद प्रतिपादन पूज्यश्री ने इन पत्रों में किया है।

उसमें भी गुरु की चेतना की महिमा तो पूज्यश्री ने अनेक स्थान पर बखान किया है। साधक गुरु के साथ हिल, मिल, घुल, गलकर तदाकार तन्मय होता है, तभी उसे गुरु की चेतना के सामर्थ्य का अनुभव होता है। पूज्यश्री के मन गुरु का चैतन्य परमात्मा से थोड़ा भी अलग

नहीं है । गुरु के साथ तदाकार हुए *जीव* को ऐसा ही साक्षात्कार होता है, ऐसा पूज्यश्री प्रस्तुत करते हैं । पूज्यश्री के गुरुपन का यह आत्मभाव **'जहाँ जहाँ मन में थकान लगे, संताप हो, ऊब पैदा हो या त्रास लगे तो यह 'मोटा' मर नहीं गया है । उसे हृदय में प्रार्थनाभाव से प्रकट करें । इससे हृदय में हिम्मत, बल, भाव, प्रेरणा, धीरज आदि तुम्हें मिलेंगे । ऐसा तुम अवश्य अनुभव कर सकोगी ।'** (पृ. १४२) इन शब्दों में स्पष्ट हो जाता है, परंतु दूसरे ही क्षण वे अपनी लाक्षणिक नम्रता प्रकट करते लिखते हैं – 'हमारा आधार तो करुणा-सागर कृपानिधि, हजार हाथवाले श्रीभगवान हैं ।' (पृ. १४२)

ग्रंथ की भाषा अधिकतर सरल, रोचक और प्रवाही है, तथापि कहीं कहीं स्थान पर विषय की गंभीरता के कारण वह गंभीर भी हो जाती है । इसीसे कितनी ही जगह पर साधिका बहन ने कितने ही वाक्य न समझ आने पर पूज्यश्री के पास से स्पष्टीकरण माँगा है ।

फिर, पत्रात्मक शैली के कारण कितनी ही जगहों पर पुनरुक्ति हुई हैं । पूज्यश्री उसके प्रति सभान हैं ही और सत्य ही कहते हैं कि 'एक की एक बात अनेक बार लिखना मुझे होता है, इससे यह यथार्थ अधिक गहरे उतरे और उसका महत्त्व *जीव* को समझ आये ऐसा उद्देश्य उसमें होता है ।' (पृ. ००)

पूज्यश्री की इस पुस्तक को सचमुच में तो प्रस्तावना की अपेक्षा है ही नहीं । प्रथम संस्करण के समय वे 'एक अज्ञात संतपुरुष' होने के उनके पुस्तक को प्रस्तावना की आवश्यकता हो सकती है । आज तो पूज्यश्री अपनी दानवीरता से मात्र गुजरात में ही नहीं पर गुजरात के बाहर भी सुप्रसिद्ध हैं, परंतु पूज्यश्री के बाह्यस्वरूप की अपेक्षा उनके सच्चे आध्यात्मिक स्वरूप को समझना हो तो पूज्यश्री के मौनमंदिर में साधना करे अथवा 'जीवनसोपान' जैसे अनुभव के नवनीतसम पुस्तकों का वाचन करे यही एक उत्तम उपाय है । उसीमें ही पूज्यश्री की चेतना स्पष्ट होती है ।

यह प्रस्तावना लिखने का आदेश देकर पूज्यश्री ने मुझ पर बड़ा अनुग्रह किया है। मुझे 'जीवनसोपान' पर चढ़ाने के लिए आपश्री का यह एक कृपापूर्ण प्रयत्न ही है, ऐसा मैं मानता हूँ।

अंत में —

यावत् साधकवर्गोऽत्र लोके साधनतत्परः ।
तावन्मोटासुसाहित्यं साधकाध्वप्रदर्शकम् ॥

जहाँ तक जगत में साधकवर्ग साधना के प्रति अभिमुख रहेंगे, वहाँ तक पूज्यश्री का यह सुंदर साहित्य साधकों को मार्गदर्शन देता ही रहेगा, ऐसा दृढ़ विश्वास है।

ता. ११-५-१९७३

— अरुणोदय न. जानी
संस्कृत विभागाध्यक्ष
एम. एस. युनिवर्सिटी
वडोदरा

संपादकों के दो बोल

(प्रथम संस्करण)

हमारे साहित्य में उपदेश देने के अनेक तरीके हैं । पंचतंत्रादि में आती वार्ताएँ मानो कि पशुओं के बारे में जो बात हो, ऐसी सरल कहानी में, पुराणादि में धार्मिक कथा द्वारा, चित्रों और मूर्तिओं में श्रीभगवान के प्रतिकों के आलेखन द्वारा तथा देवदानवों के युद्धों के दृष्टांतों द्वारा भी शास्त्रकारों ने उपदेश देने का प्रयत्न किया है । नीति और वैराग्यशतक जैसे श्लोकों में भी वही उद्देश्य रहा है । इन सबकी अपेक्षा धर्म की भावना को समझाने तथा साधनामार्ग में सहायक हों ऐसी रचनात्मक सूचनाएँ देकर और उस मार्ग में आते भयस्थानों के प्रति दिशा निर्देश निजी पत्रों द्वारा वही उद्देश्य साधने का प्रकार अनोखा है ।

पत्र द्वारा ऐसी धार्मिक समझ प्रेरित करने के लिए साहित्य हमारी भाषा में होता नहीं है, पर ऐसी पत्रव्यवहार की रीति में एक विशिष्टता यह है कि उसमें अपने आप परस्पर के हृदय का अनुसंधान होता है, इसलिए वह हमारे मनहृदय को वैसे ही किसी दूसरे पढ़नेवाले के मनहृदय को भी स्पर्श करती होती है । जितना निजी संबंध हृदय का अधिक भावभरा हो और घनिष्ठ हो, उतने ही प्रमाण में लेख का मर्म और हार्द पढ़नेवाला अधिक अच्छी तरह ग्रहण कर सकता है, ऐसा हमें नम्ररूप से लगता है । फिर, पत्र लिखनेवाला साफसाफ सामनेवाले **जीव** को संबोधित करके लिखता है यह सही, और इससे तो लेख में अपनेआप हृदय का भाव व्यक्त होने से उसमें असरकारकता विशेष आएगी, पर मात्र जिसे लिखा हो उसे, एक ही व्यक्ति को, उपदेश देने की लक्ष्यवाला वह नहीं होता, इससे भी इसप्रकार का साहित्य केवल निजी नहीं रहता ।

प्रत्येक साधक की कठिनाइयाँ, उसे बाधित विघ्न, उसके स्वभाव की अशुद्धियाँ उसे प्राप्त प्रलोभन, उसे करने पड़ते सामनों के प्रकार आदि में बहुत-सी समानताएँ होती है, इससे भी ऐसे पत्रव्यवहार में वाचक को

लाभकारक और योग्य लगे ऐसा बहुत अपनेआप आ जाता है । खास करके इसलिए कि लिखनेवाला सामनेवाले **जीव** के आधार की समग्रता का ख्याल रखके और उसे उद्देश करके लिखता होता है ।

पत्र यह परस्पर की भावना को जोड़नेवाला एक उत्तमोत्तम साधन है । उसे लिखते हुए हृदय में पढ़नेवाले के दिल में हमें जो भावना प्रेरित करनी है, उसकी प्राणवान चेतनात्मक, एकाग्र और केन्द्रित धारणा यदि रखी हो तो वैसी धारणापूर्वक की भावना पढ़नेवाले के दिल को भगवान की कृपा से स्पर्श करती भी है, ऐसे अनुभव होते हैं । फिर, ऐसी भावना यदि सचमुच जीवंत रखी हो तो उसकी सचोटता भाषा में भी व्यक्त होती है । उसमें एक प्रकार की सरलता है, उसकी सरल-सरल प्रवाहिता सरलता से समझ सके वैसा है तथा सुगम सुगम सब निकला करता हो ऐसा अनुभव हुआ है ।

लेखक की इस लेखन पद्धति में अनोखी कला, एक 'अपूर्वता', जो असल के समय में किसी भी नये ग्रंथ के लिए एक अनिवार्य लक्षण माना जाता था । वह हमें उपरोक्त कारणों से लगा है । हमारे जैसे इस आध्यात्मिक बात में बिलकुल अनगढ़ **जीवों** को उनके साथ के संबंध में आने के बाद से और उनकी हम पर के पत्रलेखन की धारा से, आध्यात्मिक क्षेत्र की बहुत समझ मिली है । आज कुछ भी उस प्रकार के किसी संतमहात्मा पुरुष का लिखा साहित्य पढ़ते हुए उसमें कुछ खास नया हमें नहीं लगता है और वैसा अन्य साहित्य ठीक-ठीक हमने पढ़ा भी है । उसमें बहुत सारी समानताएँ हैं । और फिर बिलकुल सरल, बहुत कम पढ़े हुओं को समझ आये ऐसी सरल भाषा में लिखा - इन पत्रों में निखर आया है ।

लेखक के साथ बहुत समय से अत्यन्त निजी परिचय होने से निजी जानकारी का कथन है कि लेखक ने गुजरात हरिजन सेवक संघ में बहुत वर्षों तक अविरत श्रम लिया हैं । सुबह से रात सोने तक काम इतना रहता कि कुछ भी पढ़ने की संभावना नहीं थी और लेखक को तो इच्छा

ही नहीं रहती, इससे किसी भी दिन किसी भी धार्मिक या आध्यात्मिक साहित्य का या अन्य साहित्य के पुस्तक को पढ़ते किसी ने लेखक को देखा नहीं है, यह निजी अनुभव का सत्य है । तथापि जब वे स्वजनों को साधना के विषय में मार्गदर्शन करने के लिए लिखने लगे, तब आगे से ऐसा कुछ भी उन्होंने पढ़ा नहीं था इस जानकारी के कारण उनके लेखन से अनुभव का नवनीत निकलता देखकर तथा वे लेख अन्य संत-भक्तों, योगी या महर्षि के लेखों से अनेक बातों में समानता देखते हुए हमें सानंदाश्चर्य हुआ । उदा. पत्रव्यवहार में भी साधना का एक विशिष्ट प्रकार है, ऐसे उनके वक्तव्य को भी इस तरह का समर्थन मिला है ।

श्री गीताजी में कहा है कि —

मच्चिता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ (१०/९-१०)

उसका अनुभव हमें उनका लेखन पढ़ने से और उनके पूर्वजीवन से पता होने से प्रत्यक्षरूप से हुआ है ।

इसप्रकार, पत्रलेखन द्वारा धार्मिक भावना प्रेरित करने की एक अलग ही शैली है । उसमें एक ही विषय को लक्ष में रखकर उसके बारे में सब निबंधरूप में दे देने की निरंतरता नहीं होती, पर इसीसे ही निबंध में आ जाती शुष्कता भी उसमें नहीं रहती । हमारे संस्कृत साहित्य में भी निबंध-साहित्य द्वारा धार्मिक उपदेश फैलाने की प्रथा नहीं थी या न के बराबर होगी । उसका एक कारण यह भी हो कि निबंध बुद्धि को स्पर्श करता है और कहानी या पत्रलेखन ह्रदय को स्पर्श करता है और ह्रदय द्वारा प्राप्त आध्यात्मिक समझ विशेषरूप से साधक में पैठती है, क्योंकि उसमें सामनेवाले **जीव** को जो कहना हो, वह साफसाफ कहा जाता है । दोनों *जीवों* के बीच भावना होने से एक प्रकार की मार्दवता उसमें प्रकट होती है । और यह मार्दवता वाचक को हुए बिना नहीं रहती । 'जीवनारंभ' के वाचक को एसा अनुभव होता रहा है, क्योंकि पत्र होने

से उपदेश वह मात्र उपदेश नहीं रहता, परंतु भावना का प्रवाह बहता हो और उसमें हम सरलता से बहते जाते हों और एक प्रकार के रसास्वाद का आस्वादन करते हों ऐसा लगता है ।

धार्मिक भावना-मन-बुद्धि द्वारा प्रेरित की जाय तो जितने प्रमाण में ग्रहण हो सकती है, उससे अत्यधिक प्रमाण में जब हृदय द्वारा किसी को संबोधित और स्पर्श करने में आती है तब ग्रहण होती है, यह सत्य सामनेवाला **जीव** बहुत ही **जीव**कक्षा का हो फिर भी लागू होता है । पत्र पढ़ते-पढ़ते आँख से आँसू भी अनेकबार निकल पड़ते हैं और लेखक पत्रों में *जीव* को 'ठोंक' देते हैं, वह भले ही निजी हो, तथापि सभी *जीवों* में निम्न प्रकार की प्रकृति सर्वव्यापी होने से वह सभी को लागू होती है, इससे प्रत्येक वाचक मानो वह स्वयं को ही लागू होता है वैसा अनुभव करता है । इस तरह, एक को लक्ष में रखकर लिखा गया पत्रव्यवहार अपनेआप सर्वानुलक्षी हो जाता है और सभी को स्पर्श करता है ।

अमुक एक ही व्यक्ति के पर ये पत्र होने से उस व्यक्ति की कक्षा, रुचि और स्वभाव को ध्यान में रखकर लिखे हैं । इससे उतने ही प्रमाण में प्रकाश साधना के विषय में डाला गया है । आध्यात्मिक विषय के सभी पहलुओं और सभी कक्षाओं का निर्देश इनमें नहीं है, इतना ध्यान में रखने की वाचकों को विनती है । इस प्रकार पत्रव्यवहार द्वारा उपदेश यह हमारे साहित्य में एक नया ही प्रकार होने पर भी साधन अत्यंत लाभदायी और असरकारक है ऐसा हमें लगा है ।

हरिजन आश्रम, साबरमती — **हेमंतकुमार नीलकंठ**
ता. १६-११-१९५२ — **नंदुभाई शाह**

॥ हरिःॐ ॥

लेखक के दो बोल

(प्रथम संस्करण)

इस *जीव* को कोई कोई लोग अलग-अलग प्रकार की सुविधा देते हैं, और दूसरा उनका काम भी करते हैं । इस *जीव* से किसीका कुछ वैसा प्रेम से किया हुआ लक्ष में नहीं रखा जा सकता और किसीका कुछ भी कहीं नहीं बन सकता है । कितने ही *जीवों* को ऐसा लगता है कि 'हम उनका इतना सारा करें, इसकी कहीं को गिनती नहीं है और वे हमारा कहीं कुछ गिनते नहीं हैं और हमारा कुछ करते भी नहीं हैं !' फिर, कोई कोई तो ऐसा भी कहते हैं, 'अमुक के घर वे जाते हैं और हमारे यहाँ वे आते ही नहीं ! अमुक को वे प्रेम से बुलाते हैं और हमें उस तरह समझते ही नहीं है ।' इस तरह अलग-अलग प्रकार के **जीव,** इस *जीव* के बारे में अलग अलग तरह से मन में गिनते रहते हैं ।

इस *जीव* को कोई मान-आदर न दें । वे कभी कुछ माँगता ही नहीं । उसका काम भी न करें और करना हो तो अपने जीवनविकास के हेतु की जीवंत जागृति मन में रखकर वह करें । *इस जीव* से किसी भी प्रकार के बदले की अथवा तो हमने ऐसा किया तो उन्हें ऐसा करना चाहिए ऐसी गिनती की मानसिक धारणा किसी प्रकार की *इस जीव* के प्रति न रखें, ऐसी प्रभुकृपा से मिले हुए सर्व स्वजनों को विनती है ।

मुझे कोई न बुलाये इससे कुछ भी गलत नहीं लगेगा और मुझे बुलाये ऐसी किसी के बारे में दिल में अपेक्षा भी नहीं हैं । प्रभुकृपा से हमारा तो कुछ ठिकाना नहीं । कोई हमारा कुछ करे तो हमें उसका करना ही चाहिए, ऐसी कोई बुनियाद बांधी नहीं हैं । 'हम *मोटा* का इतना सब करें और *मोटा* हमारा कुछ माने भी नहीं, इतना ही नहीं, पर उलटा कई बार कठोर वाणी भी बोले, और जी चाहे इस तरह भी बोलें और कोई विवेक भी नहीं रखते !'

जिस *जीव* को हमारे बारे में ऐसा लगता हो, उसे हमारा संग समूल छोड़ देना । हमारा संग जीवनविकास के लिए उपयोगी लगता हो और वह भी अनुभवपूर्वक के ज्ञान सहित का सचमुच लगता हो, वे ही हमारा संग करना चाहते हैं तो करें । जुड़ना हो तो अच्छी तरह जुड़ें । बकरी के गले के दिखावटी आंचल की तरह जुड़े रहना, यह तो बिलकुल बेकार है । इससे उलटा भयंकर त्रास होना संभव है ।

इसलिए सभी को जो कुछ करना होता है, वह अपने आपके लिए ही होता है । हमारे लिए कोई कहीं कुछ करें ऐसी माँग हम करें, तब हमें दुतकारने का सभी कोई स्वजन को प्रेम से हक्क है । ऐसा हक्क जतलाओगे तब भी हमें तो आनंद ही होगा ।

– मोटा

॥ हरिःॐ ॥

एक अज्ञात संतपुरुष

(प्रथम संस्करण की प्रस्तावना)

'एक नये पुस्तक की प्रस्तावना आपके पास लिखवाने की भावना है । आपको कब अनुकूलता होगी ?' ऐसे भाव की माँग जब लेखक ने मुझे पत्र द्वारा की, तब मैंने उन्हें प्रत्यक्ष देखा नहीं था, परंतु एक बहन (जिसे ध्यान में रख करके इस पुस्तक में पत्र लिखे हैं वह) जो मेरे प्रति वर्षों से सद्‌भावना रखती हैं, उसकी पहचान से लेखक के साथ हमारा पत्रव्यवहार कुछ महीने पहले ही शुरू हुआ था । फलस्वरूप इस पुस्तक का प्रेस-मेटर पढ़ जाने और उसकी प्रस्तावना लिख देने को लेखक ने एक महीना पहले मुझ से पूछा था ।

इस बीच उनके 'अक्षरदेह' का हमें अल्प परिचय हो चुका था । अक्षरदेह का अर्थात् उनके प्रकाशित हुए साहित्य का । अभी तक उनकी निम्न पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं -

गद्य साहित्य		पद्य साहित्य	
१. जीवनपगरण	२. जीवनपगडंडी	१. हृदयपुकार	२. तेरे चरण में
३. जीवनारंभ	४. जीवनप्रेरणा	३. मनको	४. श्रीगंगाचरण में
५. जीवनसंग्राम	६. जीवनपाथेय	५. केशवचरणकमल में	६. जीवनकदम
७. जीवनसंदेश		७. कर्मगाथा	८. पुनित प्रेमगाथा

यह सारा साहित्य हमारे पास आ गया था । सारा संपूर्ण पढ़ने का समय मिला नहीं है, पर जो थोड़ा-सा पढ़ा उसमें उनकी जीवनदृष्टि का परिचय हुआ । पढ़ते-पढ़ते अनेक बार ऐसा हुआ कि जिस व्यक्ति के पास साधनामय जीवन की ऐसी जीवंत दृष्टि है, उनका मूर्तस्वरूप-स्थूल स्वरूप कैसा होगा ? ऐसे तो उस बहन ने प्रसंगोपात उस व्यक्ति को 'मोटा' इस नाम से अवगत कराया था और उनके समागम से स्वयं को खूब शांति मिलती है, ऐसा बतलाया था, परंतु 'मोटा' ऐसे नाम से खास आकर्षण नहीं हुआ, इसलिए प्रत्यक्ष दर्शन के बिना किसी प्रकार का

अनुमान लगाना ठीक नहीं लगा... उसके बाद चारक महीने तो ऐसे ही निकल गये... फिर इसे 'जीवनसोपान' नाम के पुस्तक का प्रेस-मेटर पढ़ जाने विषयक लेखक की तरफ से पत्र द्वारा माँग हुई ।

फिर तो परस्पर मिलन की भावना होने पर, उन्होंने आगे से बतलाये अनुसार दीपावली के बाद कार्तिक शुक्ल ३ (ता. २१-१०-१९५२) के दिन, वे स्वयं और उनके स्वजनों में से श्री हेमंतकुमार और श्री वजुभाई जानी, उनकी पत्नी के साथ सायला आ पहुँचे... हमने भी उनके प्रत्यक्ष समागम की अपेक्षा रखी थी । वे पाँचक दिन हमारे संपर्क में रहे । बहुत सारी बातें हमने उनके श्रीमुख से सुनी - उनके अनुभव, सद्‌गुरुमिलन के प्रसंग, आज्ञाधीनता द्वारा अपने जीवन को होड़ में रखने जैसा साहस, साधनकाल, अनेक कसौटियों से पार उतरने के बाद सद्‌गुरु की तरफ से हुई अपूर्व वस्तु की प्राप्ति और साथ-साथ प्रत्यक्ष समागम में दिखे अति नम्र स्वभाव की सुमधुर जीवनसुवास । यह सब साधुजीवन के बहलाये ऐसा लगने से हमारा हृदय आनंद से नाच उठा... फिर तो वे गये और सम्मुख हुए संकेत अनुसार 'जीवनसोपान' का प्रेस-मैटर लेकर उनके प्रतिनिधि के रूप में श्री हेमंतकुमार हमारे पास उपस्थित हुए ।

लगभग ५५० पृष्ठ का हस्तलिखित मैटर प्रतिदिन तीन-तीन बार पढ़ने में मुझे पाँच दिन हुए । निजी रूप में एक ही बहन पर लिखे ये पत्र जीवनसाधना का लक्ष रखकर लिखे हैं । इसलिए निजी जैसे नहीं लगते, तथापि हिन्दू संसार के संयुक्त गृहजीवन में संकलित एक संस्कारी विधवा बहन का व्यक्तिगत जीवन जीवनविकास की दृष्टि से आशा, निराशा और द्वन्द्व के कैसे कैसे भंवर से गुजरती है और उसमें से उसे ऊँचाई पर लाने के लिए, लेखक ने गृहस्थजीवन में रहकर साधना का कैसा अनोखा मार्ग बतलाया है, यही इन पत्रों की विशिष्टता है... बहन ने पत्रलेखक को अपने सद्‌गुरु के रूप से स्वीकार किया है... तब सद्‌गुरु हुए लेखक ने बहन के जीवनविकास के उच्च ध्येय को लक्ष में रखकर उसे साधक-स्वजन रूप स्वीकार किया है । परस्पर के इस संबंध में एक जीवात्मा है, तब दूसरा उच्च आत्मा है । गुरु-शिष्य के संबंध में जो

मान्यताएँ प्रचलित हैं, उससे यहाँ कुछ बिलक्षणता दिख जाती है, और वह यह कि साधक स्वजन के जीवनविकास के लिए गुरु को प्राण देने तक तत्पर रहें ।

इन पत्रों में श्री लेखक... बहन के जीवन की जागृत चौकी रखने और उसे उच्चस्थ लाने के लिए कभी कभी अति वत्सल पिता की तरह संबोधन कर, साधक के उत्तरदायित्व को, उसे मार्मिक रूप से ख्याल देते हैं । अपरिचित वाचक यदि इस प्रकार की साधना का तात्त्विक अभ्यासी न हो तो विचित्र अभिप्राय मान बैंठेंगे । उस भयस्थान की ओर जब लक्ष करने में आया तब श्री लेखक ने पूर्ण निर्भयता से उत्तर दिया 'जगत के जीवों के अभिप्राय मुझे क्षुभित नहीं कर सकते । इतना ही नहीं, परंतु ऐसे प्रसंगों में, एक प्रभु का अवलंबन यही मेरा बल है ।' ऐसा निर्भीक खुलासा होने से मुझे खूब संतोष हुआ । ऐसी अनेक चर्चाओं से ऐसा लगा कि श्री लेखक का साधनामार्ग कुछ इस प्रकार का है –

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणाम् गृहेऽपि पङ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥

अर्थात् जो *जीव* मोहमाया से घिरे हों, वे अधूरी समझ से शायद घरबार छोड़कर जंगल में बसे तो वहाँ भी प्रकृतिबद्ध होने से नया संसार बसाकर अनेक दोषों को उत्पन्न करते हैं, तब ज्ञान-प्रेम-भक्तिपूर्वक, हृदय में हृदय से प्रभु की आराधना करते जो *जीव* अनासक्तभाव से गृहस्थजीवन के कर्तव्य निभाते होते हैं, उनकी शुद्धि के लिए तो गृहस्थाश्रम का जीवन भी एक प्रकार का तपोवन ही है ।

उस ध्येय को लक्ष में रखकर... बहन के आंतरिक जीवन में जब जब निराशा, विपदा, खेद या ऊब उत्पन्न हुई दिखी, तब तब उसे पत्रों द्वारा उत्साह, बल, वीर्य और आत्मिक उल्लास की ताजगी देकर कैसी खूबी से स्थिर, स्वस्थ और शांत करने में आती है, वही पत्रों का मुख्य विषय है... इसलिए हमें वर्तमान मानवजीवन के अनेकविध पहलुओं को–प्रश्नों को अनुभव की दृष्टि से सरल, रोचक और प्रवाही शैली में हल

दिया है। इससे ही तो ये पत्र व्यक्तिगत रूप में लिखे होने पर भी, उसमें शुद्ध-पवित्र आशय होने से, सब कोई पढ़ सकें और उसमें से यथोचित लाभ उठा सकें वैसा है, क्योंकि सभी में चेतनतत्त्व विलास करता होने से तात्त्विक दृष्टि से स्वअनुभव में सभी का अनुभव अंकित हुआ होता है।

स्वजन रूप स्वीकार किये साधक के जीवनविकास के लिए, जपयज्ञ द्वारा सतत नामस्मरण का प्रयोग यह श्री 'लेखक' की साधना का एक लाक्षणिक प्रकार है। प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक, हृदय के उल्लास से, प्राप्त ऐसे तमाम कर्तव्य-कर्म निष्कामभाव से श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ अपने ही जीवनविकास के लिए करते जाय और साथ-साथ प्रभु का स्मरण किया करे उसमें मन, बुद्धि, प्राण, अहं और हृदय को शुद्ध करने की अलौकिक करामात रही हुई है, ऐसा श्री लेखक का अनुभव है। मन, बुद्धि, प्राण आदि करणों (साधनों) में नामस्मरण की पूर्ण प्रतिष्ठा होनी, यह जपयज्ञ की पराकाष्ठा है। वह सिद्ध होते, अजपाजाप का साधक को अनुभव होता है। **इस दौरान जीवन के तमाम क्षेत्रों में ज्ञान-प्रेम-भक्तिपूर्वक, हृदय में हृदय से जुड़े रहना यह सहज साधना है।** इस तरह मैं श्री लेखक की साधना का अर्थ समझा हूँ।

सचमुच, इस प्रकार की पुस्तक को प्रस्तावना की आवश्यकता नहीं है। प्रस्तावना का अर्थ भी दूसरा क्या है ? पुस्तक के विषय को ग्राह्य स्वरूप से जरा विशद करना यही प्रस्तावना या उपोद्घात कहलाता है। इस दृष्टि से सोचें तो यह 'जीवनसोपान' का कोई खास विषय न होने से, प्रकारांतर से पत्रलेखक के हार्द को समझाना यही पुस्तक की प्रस्तावना होगी। इससे भी आगे बढ़ें तो श्री लेखक का जीताजागता स्वरूप - उनका वर्तमान जीवन यही उसकी प्रस्तावना हैं।

श्री लेखक के जीवन को समग्र रूप से पहचानने, समझने के लिए एक विशिष्ट दृष्टि चाहिए। अधिकतर आग्रहपूर्वक उन्होंने अपना जीवन अज्ञात यानी कि गुप्त रखा है... मूक कार्यकर्ता के रूप में साबरमती हरिजन आश्रम में उन्होंने वर्षों तक सेवा की है। तब भी वे खास प्रसिद्ध नहीं हुए। वे जब जब बातचीत या लेखन से अपने को व्यक्त करते

होते हैं, तब तब सनातन अनुभवकोश से मानो कोई जीवंत वस्तु बाहर निकालते हो ऐसा लगता है । त्याग–वैराग्य की भावना से सराबोर और तब भी परमार्थरत ! सिर पर खादी की टोपी, खुला बदन और आधे भाग में लूंगी जैसा सफेद कपड़ा लपेटा अनोखी मस्तीवाले श्री लेखक को देखकर ही निम्न अर्थगंभीर काव्य स्मृतिपट में उभर आता है –

– ये निःस्पृहा स्त्यक्तसमस्तरागाः तत्त्वैकनिष्ठा गलिताभिमानाः ।
संतोषपोषैकविलीनवांछा–स्ते साधयन्ति स्वमनो न लोकम् ॥
– तावद् विवादी जनरङ्जकश्च, यावन्न चैवात्मरसे सुखज्ञः ।
चिंतामणिं प्राप्य वरं हि लोके, जने जने कः कथयन् प्रयाति ? ॥

(जो स्पृहा बिना के हैं, जिनके सभी राग का त्याग हुआ है, जिनकी एकमात्र तत्त्व में ही निष्ठा है, जिनका अभिमान गल गया है, जिनकी इच्छामात्र केवल संतोष के ही पोषण से लय हो गई है, वे अपने मन को ही साधते हैं, नहीं कि दुनिया को ।

वहाँ तक ही मनुष्य विवाद में रचापचा और लोगों को खुश करनेवाला होता है, कि जब तक वह आत्मरस में ही सुख पानेवाला नहीं होता । इस लोक में श्रेष्ठ चिंतामणि मिलने के बाद वह प्रत्येक जन को कहता फिरे ऐसा कौन होगा ?)

श्री लेखक के लिए कुछ ऐसी ही प्रतीति मुझे हुई है... **विशाल जनसमूह के उद्धार की चिंता रखने से अच्छा, जो कोई योग्य अधिकारी हो, उसमें श्रीप्रभुकृपा से भगवती चेतना प्रकट करने को निमित्तरूप बनना, उसे वे स्वयं जगत की महान सेवा मानते हों ऐसा लगता है । इसलिए सार्वजनिक जीवन-लोकसेवा यह उनकी साधना का क्षेत्र नहीं ऐसा मुझे लगता है... ओम शान्ति !**

– मुनि नानचंद्रजी

जन्मजयंती ७६वीं
मार्गशीर्ष शुक्ल १, मंगलवार,
संवत २००८, सायला
ता. १८–११–१९५२

॥ हरि:ॐ ॥

अनुक्रमणिका

स्थूल और सूक्ष्म सर्जन १
घबरानेवाले प्रति समता रखें १
धर्मभावना ठोंक के नहीं बिठाते २
कठिन प्रसंग यह श्रद्धा की कसौटी २
दूसरों पर दोषारोषण न करें २
सच्ची मनुष्यता क्या ? ३
सच्चा प्यार और सेवा किस में है ? ३
जीवनपुष्प सभी दिशा में खिले ४
भावना का मर्म ४
साधना में पीछे हटने में विकास ५
पुनर्जन्म कब और क्यों ? ६
जीवदशावाले का चिंतन से पतन होगा ६
सत्पुरुष का चिंतवन लाभकारी ७
विचारों से मुक्ति का उपाय ७
पुरुषार्थ तो करना ही पड़े ८
आसक्ति कैसे टले ? ८
कर्मबंधन कब न हो ? ९
निर्बल दया न रखें ९
दुष्ट जीवों को भी सच्चे प्रेम से जीतें ... १०
साधक तो अपना ही दोष निकाले १०
तप अर्थात् आनंदपूर्वक स्वीकार किया हुआ दुःख १०
सच्ची दया कौन-सी ? ११
संसारी की दया दोनों को हानि पहुंचाये .. १२
साधक संत के लिए ही प्रेम रखे १२
गुरु की वाणी किस भाव से स्वीकार करें ? १२
भावना बुद्धि को ढँक न दे वह देखें ... १३
दोषों की जुगाली न करें १३
विचारों के लिए प्रार्थना १३
विचारों की श्रृंखला न जोड़ें १३
विचारों के उपाय १४
प्रभु बिन कहीं भी प्रीति न लगाओ १५
अहंता जाने पर ही समर्पण होगा १६
गुरुचेतना ज्ञानभक्ति-निष्ठा के बाद काम करे १६
सर्वत्र सद्भाव जगाओ १६
हमारी कमायी कितनी १७
प्रयत्न और कृपामदद की प्रार्थना करो . १७
बुद्धि और भाव दोनों काम के १९
अच्छा-बुरा दोनों काम के १९
प्रेमगाथा २०
प्रेम प्रकट करने की प्रक्रिया २१
गुरुपूर्णिमा का उत्सव २२
अभ्यास २२
अभ्यास के परिणाम २३
स्पर्श की भावना २३
मन एक में पिरोयें २३
दोष खोजा करो और निकालो २४
स्वयं को देखनेवाला ही दूसरों को समझता है २४
आत्मा को पहचानने की शर्त २५
साधना में गुरु का काम २५
साधना के तीन बल २५
अधोगामी बुद्धि कैसे बदले ? २६
प्रकृति के रूपों में स्वस्थता २६
प्रसन्नता अर्थात् प्रभु की समीपता २७
'दक्षिणा' सामयिक २७
कविता २८
कविता द्वारा साधना २९

अभिक्रम का नाश नहीं २९
ध्यान के प्रारंभ का तरीका २९
अपना सभी गुरु में निचौड़ दो ३०
सच्ची गुरुभक्ति से भावना टिके ३०
वृत्ति, भावना द्वारा योग ३०
साधना में वेग कब आयेगा ? ३१
साहब मिले सबूरी में..................... ३२.
लगनी लग जानी चाहिए................. ३२
अपनी साधना पर ही आधार रखो..... ३२
अंतर की भावना स्थान को पवित्र करेगी .. ३३
सद्गुरु के आगे संपूर्ण निखालिस रहें . ३४
मन की चालबाजी पहचानो ३४
बाद में स्वतंत्र प्रभुदर्शन होंगे............ ३५
स्वयं को प्रभु के हाथ में रखो ३५
प्रगति का आधार उत्कटता की मात्रा पर है.... ३६
अभ्यास का महत्त्व......................... ३६
तामसी के लक्षण ३६
तामस और रजोगुण ३८
सुमेल लाओ ३८
फोटो के बदले भाव का आसरा लो... ३९
महत्त्व का हो उसी से लगान रखें ३९
प्रकृति का वर्चस्व जीतने का उपाय.... ४०
वृत्ति पलटे पर नाश न हो.............. ४१
वृत्ति को जीतने का तरीका ४१
साधना के दौरान वृत्तियाँ जबरदस्त
हमला करती हैं............................. ४२
चेतन की भूमिका ही मनुष्य को टिकाये . ४२
स्वप्न में से अधिक समझ में आयेगा... ४३
सच्ची भावना क्या न करे ? ४३
'अनुभव' हमारा गुरु ४३
ज्ञानपूर्वक नमन का लाभ ४४
ज्ञानपूर्वक समर्पण किया करें ४५
सभी में सद्गुण ही देखें.................. ४५
गुरु बनाने का उद्देश्य ४५
अनुभव से ही गुरु को परखें ४६
जागृत चेतन प्रकृतिवश होगा............ ४६
पुस्तकों का पारायण करें ४७
किस तरह का स्पर्श पावनकारी है ? ... ४८
जीवनहेतु के भान से लाभ............... ४८
गुरुचेतना का भान तारनेवाला है ४८
अनुभव से दृढ़ ज्ञान ४९
बुद्धि को अनुभव का आधार ४९
हार, जीत की सीढ़ी है.................... ५०
किसी के बारे में मत न बाँधो ५०
सद्गुरु का प्रेम अचल है................. ५१
पुरुषार्थ तो करना ही पड़ेगा ५२
निर्बलता का भान होना अच्छा है....... ५३
जीवन सीखने के लिए है ५३
जागृति की आवश्यकता ५४
जागृति प्राप्त करने के उपाय ५४
जीवनारंभ हो चुका है..................... ५५
साधना में त्रिवेणीसंगम.................... ५५
नींद का कारण ५६
साधना का प्रेरणामूल-सद्गुरु ५६
स्वयं अपने अड़चणकर्ता................. ५७
शांति-समता कैसे रहे ? ५८
'विप्रदास' का उपन्यास ५९
भावना-प्रदर्शन की योग्यता ५९
साधना और व्यवहार में आशा.......... ६०
मौनएकांत अनिवार्य नहीं ६०
गुरु शरीर से दूर भले हो ६१
साधना के कुछ सूचन..................... ६२
श्रद्धा के लक्षण ६२
संसार से उत्क्रांति किस तरह ? ६३
हृदय—सद्भावना की परम शक्ति..... ६४
सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ — लगनी ६६

संत कैसे परखें ? ६८
मनशुद्धि की तीन क्रियाएँ................. ६८
गुरु को कौन-सी भेंट काम की ? ६८
गुरु के स्थूल संपर्क को महत्त्व न दो ... ६९
स्थूल संबंध की शर्तें ६९
बालविकास में प्रेम का स्थान ७०
प्रेमगाथा ७१
साधना में शरीर का स्थान............... ७३
प्रसन्नता के लाभ ७३
महत्त्वाकांक्षा रखो ७४
गुरु के साथ परिचय कब बढायें ? ७५
संसार कब तक सँभालें ? ७७
सच्चे साधक की व्याख्या................. ७८
उष्मा व्यक्त क्यों न करें ? ७८
'अमंगल' प्रसंग मंगल कैसे हो ?...... ७९
वैधव्य में बहुत कुछ लादा जाता है.... ७९
भावनापूर्वक वैधव्य पालन करो ८०
शांत वातावरण के लाभ ८०
निर्धन धनवान स्थिति ८०
संवाद का अनुभव करने विसंवाद की जरूरत.................................. ८०
ऊर्ध्व भूमिका में विसंवाद................ ८२
विसंवाद कैसे शांत हो ? ८३
गजल ८४
हृदय को परखो............................ ८४
उत्कट भावना की शक्ति ८५
पहले तो 'राग' प्रकट करो ८५
सद्गुरु का मूल्यांकन क्यों दुष्कर है ? ... ८५
सही लगनी की ही आवश्यकता ८६
चेतनपुरुष वामन-विराट बनता है...... ८६
स्वप्रयत्न बिना की साधना कब हो ? . ८७
स्वप्रयत्न करो वह कब फलेगा ? ८७
भावना मापने का तापमान यंत्र ८८
नम्र और शांत रहो ८८
उच्चात्माएँ आकर्षण करती हैं ८८
समझदार **जीव** उसका लाभ बहुत उठाता है ८९
सद्गुरु की आरजू ८९
साधक का संसार में व्यवहार............ ९०
शांति की स्थापना कैसे ? ९०
त्राटक के लिए स्थूल-सूक्ष्म उपाय ९१
सद्गुरु के साथ हृदय का तार बाँधो... ९२
सद्गुरु का भाव क्यों शीघ्र परिणत नहीं होता ? ९२
गुरु के प्रति विरोध कैसे शांत हो ? ... ९३
सुनिश्चित अर्थात् क्या ? उससे लगे रहो .. ९४
जीवन में शांति की जरूरत............. ९४
दिया ही करो ९५
सद्गुरु का लगातार स्मरण करो........ ९५
गजल ९६
सद्गुरु की लाज रखो ९७
सद्गुरु को क्या देना चाहिए ? ९७
देने की श्रेष्ठ साधना ९८
विघ्न कैसे अनुकूल करें ?.............. ९९
क्या क्या करें ? ९९
मन की शक्ति १०१
मेरी मुराद सफल कर................... १०१
हृदय-हृदय का संधान रखो १०२
सावधान बनो १०३
प्रेम की अमोघ शक्ति १०३
सद्गुरु को लात न मारो १०४
दुष्ट मन को टोको १०५
साधना की दो पद्धतियाँ १०५
मन के प्रवाह को मोड़ो १०५
सत्संग से मन रुकेगा.................... १०६
सत्संग के प्रकार.......................... १०६

सहज साधना कैसे हो ? १०७
गुरु के उपयोग की शर्त १०७
साधना का तापमानयंत्र १०८
गुरु अर्थात् क्या ? १०८
श्रद्धा की महिमा १०८
गुरु की समीपता क्या करे ? १०९
सभी संकोच छोड़ो ११०
अज्ञान कैसे हटेगा ? १११
निकम्मा बैल मत बनना १११
खुलकर प्रार्थना करो ११२
मन की शांति की अनिवार्यता ११३
निश्चयपूर्वक मन पर काबू लाओ ११३
कसौटी के समय प्रार्थना करो ११४
प्रयोग करके प्रभुकृपा अनुभव करो ... ११४
कठिनाई : प्रभुकृपा से प्राप्त मौका .. ११५
अवरोधक तत्त्वों को निकाल फेंको ... ११५
सद्‌गुरु की छटपटी ११६
काम में से चेतना प्रकट हो ११७
अनुष्टुप ११७
साधना पहले तो बाहर से चलाओ ... ११९
कब 'गुरु सब कर दे' ? ११९
समता से सब साधा जा सकता है ... १२०
संकल्पबल से समता मिले १२०
संकल्पबल का प्रभुत्व १२१
साधना में बुद्धि का स्थान १२१
आवेग के सदुपयोग से प्राणशुद्धि १२२
सद्‌गुरु का दर्द १२२
सद्‌गुरु का कार्य १२३
मौन अर्थात् निःस्पंद मन १२३
उफानों का सामना करो १२४
अंतर की एकाग्रता साधने की चाबी .. १२४
मन को शांत करने के उपाय १२५
किसी भी भोग पर निश्चय का पालन करें ... १२६
गुरु की लाचारी १२८
नम्रता के साथ निश्चय पूरा करो १२८
नम्र से नम्र बनो १२९
गुरु में राग होने पर सब होगा १३०
परा और अपरा प्रकृति १३०
दो प्रकार की साधना १३१
योग या साधना की व्याख्या १३२
भूख जगाओ १३४
पलपल सँभालो १३४
सभी कर्म प्रार्थना के साथ करो १३४
प्रभु में तादात्म्य का अर्थ १३४
संपूर्ण निराग्रही बनो १३५
निरपेक्ष प्रेम जगाओ १३५
अपने पहरेदार बनो १३६
दुर्वृत्ति की निराई करो १३६
अपरा प्रकृति की चालबाजी १३७
सहस्रशीर्ष जरासंघ—अहंकार १३७
'दे देना' अर्थात् क्या ? १३८
प्रार्थना में दर्दभरी दानत हो १३८
अहम् जाने पर चेतनाशक्ति
का प्राकट्य १३९
सद्‌गुरु का जीवन कैसे टिकता है ? .. १४०
शरीर का सदुपयोग कैसे हो ? १४०
समझदार के पास से त्याग की आशा ... १४०
कर्म के पीछे की दृष्टि और परिणाम .. १४१
काम के पहाड़ से भी ऊबे नहीं १४१
हमारा आधार १४२
आहुति नहीं, पर प्रकट होना वह १४२
फ्रेंच संत बाई बर्नाडेट १४३
समर्पणयज्ञ आनंद प्रकट करेगा १४३
सद्‌गुरु के आभूषण १४४
साधक की एक ही दृष्टि-सृष्टि.......... १४४
सद्‌गुरु कब धन्य होगा ? १४४

कच्ची समझवाले **जीव** का मरण १४५
किस तरह अटल स्थिर रहें ? १४५
भगवान कब साधना हाथ में लेते हैं ?१४६
हमारी प्रकृति ही कसौटी करेगी १४६
जागृति कहाँ रखें ? १४७
हृदय की प्रार्थना की शक्ति १४८
एक प्रसंग का सदुपयोग १४९
प्रत्येक प्रसंग को गुरु समझो १५०
संतों के जीवन की प्रेरणा १५१
साधना लाभालाभ के लिए नहीं १५१
भाव का महात्म्य १५२
सभी का लीकयुक्त और आडंबरी जीवन १५२
संसार में ही प्रभुमय जीवन १५२
आवेगों को कैसे जीतें ? १५३
सच्ची निर्बलता १५४
भेद से अभेद प्रकटाओ १५५
प्रेमभाव से सहने का मार्ग १५६
संसार में फूलचंदन जैसे जीओ १५७
भगवान की शरण से आनंद १५८
सद्गुरु का आचार के बाद ही उपदेश १५९
प्रेमभक्ति से अद्भुत प्राप्ति १६०
दैवी चेतना को प्रत्यक्ष करो १६०
युद्ध किया करो १६१
स्वप्रयत्न की अनिवार्यता १६२
तादात्म्यभाव की आवश्यकता १६३
समर्पण कैसा होना चाहिए १६४
साधना की सूक्ष्म चाबी १६५
कर्म क्या और अकर्म क्या ? १६५
सच्चा वैष्णव-जीवन १६६
शांति स्थापित होते शक्ति आती है .. १६६
प्रभु को पलपल का साथी बनाओ ... १६७
युद्ध तो चलता ही रहेगा १६८
नवजीवन कैसे पाये ? १६९
अहंता से मुक्त हो जाओ १६९
अहंमुक्त की स्थिति १७०
गुरु की महान मदद १७१
अधिक महत्त्व तो जाप, प्रार्थना आदि को दो १७१
साधक के दुःख का कारण १७२
सद्गुरु से भी साधना को महत्त्व १७२
शांति के उपाय १७३
दो तरफा लक्ष की आवश्यकता १७४
प्रेम के लक्षण १७५
पत्रव्यवहार का हेतु १७५
सहज साधना १७५
सच्ची परतंत्रता १७६
गुरुआज्ञापालन का महत्त्व १७७
हृदय की दानत ही महत्त्वपूर्ण १७७
विचार कैसे शांत हो ? १७८
एकनिष्ठा की शक्ति १७९
अमुक अल्प की जरूरत १७९
अंतर्मुख बनो १७९
शून्य बनकर गुरु को शोभित करें १८०
गुरु को छलना नहीं १८०
कठिन मानकर हताश न हों १८०
साधक की जागती आँखों से देखो ... १८१
भान भूला जगत १८२
सद्गुरु की सफलता कब ? १८२
अंतर रंगने का काम १८२
एक में अनेक का समावेश १८२
हमारी ही प्रकृति का फैलाव १८३
संसारी दलदल से कैसे उबरें ? १८३
मन का गुरु मन को बनाये १८४
संत को कब परखें ? १८४

जीव जैसे रहते एक संत १८५
सत्संग की जरूरत १८५
गुरु में मिश्रित हो जाएँ तो शीघ्र प्रगति १८६
संगम क्यों तीर्थ है ? १८६
स्वयं को संगम से मिला अनुभव १८७
अहंता के लक्षण १८७
संत हृदयसंपर्क से पहचानेंगे १८७
हमारे अशुद्ध निर्णय १८८
समबुद्धि के शुद्ध निर्णय १८८
अंतर्मुखता से समबुद्धि और शुद्धि ... १८८
प्रार्थना का ब्रह्मास्त्र १८९
कर्म की आवश्यकता १८९
बातें नहीं, कार्य करो १९०
समर्पण की भूमिका रचो १९०
अनुभव से बुद्धि स्थिर होगी १९१
अपना निरपेक्ष प्रेम १९१
खुला होने का अर्थ १९२
प्रेमभक्ति १९३
मर जाओ १९४
आंतरिक उष्मा का प्रयोग करो १९४
ज्ञानात्मक भावना से कर्म करो १९४
अपना एक प्रसंग १९५
तत्काल ज्ञान होना चाहिए १९५
सद्‌गुरु को प्रसन्न करो १९६
गुरुकृपामय कब मिले ? १९६
अहम् का सदुपयोग कब होगा ? १९७
सच्चे निर्बल बनो १९८
कैसा **जीव** साधक नहीं है ? १९८
अपना अनुभव १९९
साधक और संसारी का प्रेमभाव १९९
गुरुप्रेम से सर्व के लिए प्रेम २००
मन साधना से दूर क्यों भागता है ? ... २००
मन भागे तब क्या करें ? २०१
विपत्ति में प्रार्थना २०३
दु:खादि कृपामौके हैं २०४
विपद का उपाय : प्रार्थना २०४
अपनी हमदर्दी और प्राप्त हुए आघात .. २०५
पर तुम मुझे शोभा दिलाना २०५
हमारा ही दोष २०६
संसार अर्थात् शुद्धियज्ञ २०६
शूरवीर को सद्‌गुरु की सहायता २०६
प्रेमभरा (प्रिय) संदेश २०७
सभी प्रसंग सद्‌गुरु हैं २०७
इससे संसार पाठशाला है २०८
मारनेवाले प्रसंग तारते हैं २०८
स्वयं का जीवन दृष्टांत २०९
सद्‌गुरु की अपील २०९
क्या क्या करना है ? २१०
समता २११
शुद्धि २११
सर्वत्र प्रभुदर्शन के लिए तप २१३
समर्पण शुद्ध होना चाहिए २१३
कुरुक्षेत्र के बाद विराटदर्शन २१४
सद्‌गुरु की अंतर्यामी शक्ति २१४
प्रसंगों को ही गुरु बनाओ २१५
साधना का ही लक्ष रखो २१५
तमन्ना ही मुख्य और वह कैसे जागे ? २१६
अशुद्ध दानत साधक के लिए अड़चन २१७
साफ दानतवाले अपने को परख सके २१७
ऐसा जीव भी कब उठ सकता है ? ... २१७
स्वयं ने क्या किया था ? २१८
कर्म करें ही, पर अलगता से २१८

अलगता से सहज साधना २१९
लाचारी की दर्दभरी प्रार्थना २१९
दुर्वृत्ति का इनकार करो २२०
समर्पण का रहस्य कब समझ में
आएगा ? २२०
फल की इच्छा के बिना पुरुषार्थ करो .. २२१
साधना में निश्चिंतता कैसे रहे ? २२२
पुरुष पर ही दृष्टि रखो २२३
'भीतर की' (आत्मा) जागने से
क्या होगा ? २२४
जहाँ तहाँ से सीखा करो २२५
सत्संग क्यों न फलेगा ? २२५
प्रेमभक्ति की अनिवार्यता २२६
गुरु के प्रति राग तो करो २२७
गुरु को न धमकायें २२८
सद्गुरु का अविचल प्रेम २२८
साधना की शर्तें २२९
निराशा अर्थात् प्रेम का अभाव २२९
साधक अर्थात् क्या ? २३०
साधना की तीन शर्तें २३०
गुरु की मदद कब ? २३१
रण तो शूरा का २३१
माँ का दृष्टांत २३२
सद्गुरु का सदा सहकार २३२
सच्चा साधक २३३
गुरुस्मरण सब बोझ हलका करे २३५
अतिशय काम से लाभ २३६
हिंमते मर्दा तो मददे खुदा २३७
प्रसंग से प्रसन्नता पाओ २३८
पुनरावर्तन द्वारा जागृति २३९
साधक पत्र में क्या लिखे ? २३९
श्रद्धा २४०
तप से शुद्धि २४०
'अनुभव' सच्चा कब ? २४२
प्रसंग किसे सिखाते हैं ? २४२
प्रभुकृपा २४३
पुरुषार्थ २४४
कृपा २४४
जिसमें उसमें हम ही २४५
स्मरण की अनिवार्यता २४६
साधना हँसीखेल नहीं है २४७
कृपा क्यों न मिले ? २४७
सद्गुरु किससे रीझेंगे ? २४८
रणवीर पर सद्गुरु की कृपा २५०
अनुभविओं के ज्ञान की समानता २५१
सद्गुरु स्मरण करे वह सफल हो २५१
कृपा और पुरुषार्थ २५२
पुरुषार्थ और कृपा २५३
गुरुकृपा का अवलंबन २५६
सद्गुरु का छिपा हाथ पहचानो २५७
अधिक दुःख सद्गुरु को होता है २५८
सद्गुरु का साथ चला भी जाये २५९
प्रकृति के हमले का उपाय २६१
दुःखादि के प्रति साधक की दृष्टि २६१
मुश्किल के उपाय २६२
सद्गुरु की मदद की शर्त २६२
दोष का टोकरा गुरु पर न रखो २६३
भावना का ही महत्त्व २६४
उत्कट इच्छा का महत्त्व २६६
गुरु के साथ हृदयसंबंध करें २६७
अपना दृष्टांत २६९
सर्प के विष में से अमृत २७०
काम तो साधना का अंग है २७१
संशय यानी अश्रद्धा २७१
घरनौकर की नौकरी भी की है २७२
संसार का हेतु २७२

पहले तो कहा हुआ करके बतलाओ ... २७३
कौन सफल होगा ? २७४
'विपरीत' प्रसंगों के समय वर्तन २७५
निराशा में जो टिके वह साधक २७६
साधक के जीवन का स्थूल मृत्यु २७७
उससे कैसे बच सके ? २७८
अपना असंतोष और लक्ष्य २७८
किसी भी तरह जगाने की ही प्रवृत्ति २७९
तीन ही रास्ते २८०
स्वजनों को प्रार्थना २८०
अपने ही जीवन में नजर २८१
अपना अनोखा 'हुंकार' २८१
दिव्य अनुभव क्यों सरक जाते हैं ? . २८२
मात्र हृदय के प्रेम की माँग........... २८२
नम्रता से शक्ति प्रकट होती है........ २८३
ऊर्ध्वीकरण का ही उद्देश्य २८३
महा कठिन मार्ग २८३
घर्षण में टिके वह राग २८४
संताप के सद्हेतु को प्रेम से
स्वीकार करो.............................. २८४
प्रेमभक्ति से ही ज्ञान २८५
सत्पुरुष के प्रवेश की शर्त २८५
अलख .... २८६.
प्रेमभक्ति ही काम की २८६
हमारा आदर्श और कुटुबिओं......... २८७
दबाव से हानि २८८
आदर्श और जीवनवर्तन २८८
वातावरण की असर २८९
दबाव से हानि ही २८९
एकमात्र संभव उपाय : प्रेम २९०
अपना ही सँभालो २९०
दूसरे कब अनुरण करेंगे ? २९०
अनुष्टुप २९१
आरती २९२
साधना-मर्म २९३
पूज्य श्रीमोटा के जीवन का परिचय . २९६
हरि:ॐ आश्रम, सूरत में उपलब्ध
हिंदी-अंग्रेजी पुस्तकों की यादी........ २९७

❑

जीवनसोपान

❑

श्रीमोटा

‘मैं सर्वत्र विद्यमान हूँ !’

– मोटा

स्थूल और सूक्ष्म सर्जन

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. ३-७-१९५१

स्थूल तो अनेक **जीवों** जन्म दिया करते हैं, परन्तु जिस **जीवों** को जीवनविकास का ध्येय है, वैसे **जीव** तो स्थूल को जन्म देना छोड़कर सूक्ष्म में अवतरित होते हैं अथवा तो सूक्ष्म को अवतरित करते हैं और **कारण** को जन्म देते हैं । यानी कि अपने जीवन के ध्येय का मनन, चिंतवन और निदिध्यासन कर करके (वैसा सूक्ष्म व्यवहार) ध्येय और उसके हेतु की पक्की निष्ठा (**कारण**) उसमें जन्म देते हैं ।

घबरानेवाले के प्रति समता रखें

अर्थात् ऐसा प्रसंग बनने पर उसकी किसी भी प्रकार की छाया थोड़ी देर भी यहाँ या वहाँ टिके वह हमारे लिए योग्य नहीं है । इस बारे में एतराज या उत्कट अरुचि हमारे में होती । यदि सामनेवाला **जीव** न देखे, तो दुबारा वह वैसा करे वह भी संभव है सही । वैसा होने पर भी हमें उस प्रकार का एतराज या उत्कट अरुचि उसके बारे में जागने नहीं देनी है । ऐसा बहुत विचित्र लगेगा, परन्तु हमारा मार्ग केवल स्थूल सावधानी रखना नहीं हैं । मान लो कि अनेक बार ऐसा हो, परन्तु यदि हम अपनी दशा में एकाग्ररूप से केन्द्रित रहकर मस्त जीयेंगे, तो वह तो अपनेआप खूब ठंडा बनता जाता है । हमारे बारे में उसके मन से विचार बिलकुल मूल से बदल जाता है । प्रारंभ में हमने उत्कट एतराज या अरुचि न जतलायी होने से शायद वह फिर से वैसा करने को अधिक प्रेरित भी हो । इससे हमें घबराने की आवश्यकता नहीं है । हमें मूर्ख भी नहीं बनना और अज्ञानी भी नहीं बनना है । मूर्ख और अज्ञानी मनुष्य नाहक के घबराते हैं । हमें तो सतत जीवनविकास के ध्येय में ज्ञानपूर्वक जीवित रहा करना है । और यह भान पलोपल जीवित रहे तो किसी से घबराने का कारण ही नहीं होगा ।

धर्मभावना ठोंक के नहीं बिठाते

हिन्दू समाज में विधवा के जीवन में कठिनाई से धार्मिक भावना और श्रद्धा जगाने के जो बेडोल प्रयत्न आजकल होते हैं, इससे तो उलटी अवनति की दशा होती जाती है। समाज का वातावरण और उसकी रचना और उसका मानस और वर्तन जो वर्तमान में व्याप्त है और विधवा को वैसे और वैसी दशा में रखके उसे उपदेश देने का जो ढोंग करता है, वह तो उलटा उसके जीवन में विपरीत प्रत्याघात पैदा करता है। समाज उसके लिए जवाबदार है । उसके जीवन को कुचलने में और रौंदने में वह कारणभूत बनता है । इसमें सारे समाज को कुचलने जैसा होता है, यह देखने के लिए अभी समाज की आँखें खुली नहीं है ।

कठिन प्रसंग यह श्रद्धा की कसौटी

भगवान पर की श्रद्धा यह तो नकद धन है, जैसे नकद धन द्वारा उपयोगी चीज बाजार से ले सकते हैं वैसे भगवान पर की श्रद्धा प्रसंग होने पर हमें यदि सशक्त न बना सके, तो वह श्रद्धा सच्ची श्रद्धा नहीं, पर एक प्रकार का खाली आश्वासन है ऐसा समझें ।

दूसरों पर दोषारोपण न करें

किसी भी मनुष्य पर मानसिक अरुचि हो जाय, वह हमारे लिए अच्छा नहीं है। **दुःख का कारण दूसरे नहीं, पर हमारा स्वभाव और प्रकृति भी उसे उपजाने में बहुत बड़ा भाग निभाती है।** 'हिन्दू समाज में स्त्री को अत्यधिक भोगना पड़ता है, वह स्वतंत्र नहीं, गुलाम है और पुरुषों के समक्ष सामना करना चाहिए' ऐसे आक्रमणकारक विचार और हाँक आजकल समाज में हैं। पश्चिम के देशों में वहाँ की स्त्रियाँ कुछ हम से विशेष रूप से भिन्न कक्षा की हैं, ऐसा मानने का कारण नहीं है। सभी जगह प्रकृति तो समान की समान रहेगी। प्राप्त परिस्थिति से अकुलाकर भागना अथवा सदा उससे असंतोष रखा करना, और उसका दोषारोपण हमेशा दूसरों पर डालना और इससे सदा निराशा रखा करें, यह तो पागलपन को बुलाने जैसा है ।

सच्ची मनुष्यता क्या ?

मन की मान ली स्थिति को और मन में रहे पूर्वग्रहों को अत्यधिक दृढ़ करके उसमें पड़े रहकर मनन किया करने से किसी प्रकार का उद्धार नहीं होता है । इससे तो उलटा मान ली हुई स्थिति को अधिक पोषण मिलता है । प्राप्त जीवन की परिस्थिति से नवचेतन और नवजीवन की आशा के अंकुर उगाने और उस प्रकार का पुरुषार्थ जगाना और पुरुषार्थ करना उसमें सच्ची मनुष्यता रही हुई है । मानो कि अमुक भाई की प्रकृति बिगड़ी हुई है, परन्तु **सुधरे हुए के साथ तो सभी रहते हैं और संसार का सुख उठाते हैं, परन्तु अन्यथा प्रकार की प्रकृति के साथ हृदय से ज्ञानपूर्वक का सुमेल साधकर उसकी प्रकृति को ऊँचा उठाना इसमें सच्चा मानवधर्म समाहित है । भागना तो सभी को आता है, परन्तु परिस्थिति के सामने खड़े रहकर, परिस्थिति में हिलमिलकर, परिस्थिति से ऊपर उठना यह विरल वीर आत्मा का कर्म है ।** किसी की भावना को अनुचित लाड़-प्यार करने से तो जीवन को अधिक दुःखी बनाने का कभी-कभी होता है । इसलिए सच्चे प्रकार की वीरता प्रकट हो यह जरूरी है । जिसका तुम कल्याण करना चाहो अथवा जिसे तुम सुखी करना चाहो, परन्तु जिस विचार से हम स्वयं ही उसमें डूब जाँय, वहाँ तुम उसे क्या मार्गदर्शन देगी ?

सच्चा प्यार और सेवा किस में है ?

आज तो संसार-व्यवहार में अपनी दशा के साथ कोई अधिक भावना बताये, ममता बताये और उसे पसंद अच्छा-अच्छा बोले, वह उसे प्यारा लगेगा, परन्तु वह प्यार सच्चे प्रकार का नहीं है । तुम उसकी दया खाओ और उसकी नाजुक परिस्थिति के बारे में और उसके यहाँ या वहाँ के बारे में तुम साथ में हिल-मिलने लगो और 'अरे रे ! अरे रे ! तुम्हारे दुःख का तो पार नहीं है ! अरे रे ! तुम्हारी ऐसी स्थिति ! तुम्हारे बारे में तो किसी को सच्चा ख्याल तो जागता ही नहीं ! कितना असह्य जीवन है !' ऐसी भावना दर्शाकर के उसे अधिक गुदगुदा मनवाली तुम बना रही हो । इससे और ऐसे आश्वासन से जीवन में कदापि सशक्तता जन्म

नहीं ले सकती है । किसी के मन को अधिक गुदगुदा बनाने में कदापि मददगार न बनें । यह तो भीरुता का रास्ता है । परिस्थिति आ पड़े तो उस परिस्थिति से जीवन में मर्दानगी प्रकट हो, ऐसा कुछ हो सके तो वह उत्तम सेवा है ।

जीवनपुष्प सभी दिशा में खिले

मैं तो विश्वास से जीनेवाला व्यक्ति हूँ। जितना मिला उससे संतोष मानकर अधिक पाने के असंतोष से उत्कट भावना हृदय में प्रभुकृपा से रखा करता हूँ। जीवनविकास का मार्ग यह एकमार्गी नहीं है और उस मार्ग में जीवन का पालन होने से जीवन के सभी क्षेत्रों की योग्य प्रकार की विवकयुक्त समझ प्रकट हुआ करती है । ऐसा होते अनुभव हो तभी समझें और मानें कि हम ठीक रास्ते पर हैं । चेतन के प्रति भावना यह सूक्ष्म और कारण प्रकार की होने पर भी स्थूल में वह निथरता है, तभी चेतन के प्रति भावना निष्ठा बनती है ।

भावना का मर्म

चेतन का कोई आकार या रूप कुछ नहीं है, तब भी वह है । वह व्यक्त न होने पर भी वह व्यक्त होता है । हवा जब चलती है, तब वह व्यक्त हुई होती है । हरपल हवा तो लेते हैं, तथापि उसका ज्ञानभान हमें होता नहीं है या हुआ नहीं है । वैसा ही चेतन के बारे में है । इससे बेकार की निर्बल भावनाएँ दिखला देने में जीवन को फेंक नहीं देना है । जीवन को तो ठोस बुनियाद पर चिनना है । दम बिना की मीठी-मीठी बातें करने से कोई दम मिलनेवाला नहीं है । किसी को भी सहलाने में सार नहीं है, तथापि रोते बालक को तथा दर्द से पीड़ित को ज्ञानपूर्वक सहलाने में सार है । इसलिए कृपा करके अब तुम बैठ जाओ और अपने पैरों पर खड़ी हो जाओ । किसी प्रकार चिंता करने की आवश्यकता नहीं है पर उपाय की आवश्यकता होगी । मनोभावों को छोड़ देना । यह हमारा वेश नहीं है ।

● ● ●

साधना में पीछे हटने में विकास

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. ४-७-१९५१

हिमालय की ऊँची से ऊँची चोटी पर चढ़ना हो, तो अनेक बार अनेक प्रकार की नीची घाटियों से — चढ़ा करने का होने पर भी — गुजरना होना होता है। चढ़ने की दशा में मात्र चढ़-चढ़ करने का हुआ करता होने पर भी वहाँ उतरने का भी आया करता है, परन्तु उस उतरने की दशा में हम चढ़ने के मार्ग पर हैं, उसका हमें सतत भान रहता है, और चढ़ने की दिशा में ही हैं, ऐसी ज्ञानपूर्वक की दशा में उतरने का, घाटी में उतरने का, हो जाने पर भी सचमुच हम उस घाटी में उतरने की दिशा नहीं छोड़ सकते हैं। हम सभी **जीव**दशा में द्वन्द्व के खेल में हैं और प्रकृति की पकड़ में हैं। इससे **जीव**दशा की गति में चढ़उतर तो बारबार हुआ ही करेगी। जिसने चढ़कर ऊपर पहुँचने का मरजिया दृढ़ निश्चय किया है, उसको चढ़ने का श्रम नहीं लगता ऐसा तो नहीं है, और श्रम ऐसा तो उत्कट लगता है कि व्यक्ति टूटकर बिखर जाये, तब भी जाना तो है ही। आराम से बैठे रहें वह उचित नहीं और वापिस भी नहीं जा सकते, इससे मनुष्य चढ़ा ही करता है। ऐसा करते करते जहाँ जाना है, वहाँ वह पहुँचता है। वहाँ पहुँचकर आराम मिलता है। ऊपर का वर्णन जैसे स्थूल चढ़ाई का है, तथापि वह आध्यात्मिक मार्ग की चढ़ाई के लिए हूबहू लागू पड़ता है। हमारे प्रयत्न में हमें जीवित श्रद्धा होनी चाहिए। जिस प्रकार का जैसा प्रयत्न, गति और दिशा हो, उस प्रकार के वैसे वैसे संस्कार चित्त में पड़ेंगे। वह तो एक और एक दो जैसी बात है। इसलिए **इस** मार्ग में जो पुरुषार्थ करेंगे, वह फलित होगा ही ऐसा निश्चय जानें। **जीव**दशा के अन्य किसी प्रकार के पुरुषार्थ में स्थूल प्रकार के लाभ और हानि दोनों साथ साथ समाहित हैं। जब कि आध्यात्मिक मार्ग के प्रयत्न में मात्र लाभ ही है, हानि नहीं है। इससे हम यदि अपने पुरुषार्थ में कोई कमी बाकी न रखते हों, और जो पुरुषार्थ होता रहता हो, उसमें हम अपना पूर्ण रूप से हृदय लगाकर रहा करेंगे, तो वहाँ निराशा को कोई स्थान नहीं है।

पुनर्जन्म कब और क्यों ?

हमारे इस भव की प्रकृति की गति और दिशा जिस प्रकार की हो, उस प्रकार का हमारा पुनर्जन्म निश्चित हे, यह भी निश्चित है। यदि किसी **जीव** को उच्च प्रकार की उत्कट लगनी जिस किसी एक विषय में लगे, वैसे **जीव** का जन्म जल्दी होता है, अर्थात् तुरन्त ही होता है, ऐसा गणितशास्त्र नहीं है। कोई स्थूल विषय के बारे में उत्कट लगनी लगे तो उसका जन्म जल्दी होगा वैसा भी नहीं है, परन्तु विषय की उत्कट प्रकार की भावना जितने प्रमाण में अधिक सात्त्विक, उतने प्रमाण में उसका जन्म जल्दी होगा, वैसा कुछ सही है। और आध्यात्मिक मार्ग की जिसे लगनी लगी है, ऐसे **जीव** का जन्म अन्य प्रकार के **जीवों** से बहुत जल्दी होता है ऐसा अनुभव है। दूसरे प्रकार के लोगों को जन्म लेने से पहले बहुत सारा भटकना पड़ता है। उस प्रकार की दुविधा, घुटन, शर्मिंदगी और लोलुपता की उत्कट दशा में से आध्यात्मिक मार्ग की लगनीवाला **जीव** शीघ्र बच जाता है। मतलब की वैसी दशा में उसे पड़े रहना नहीं पड़ता, यह एक बहुत बड़ा **जीव** को लाभ है।

*जीव*दशावाले का चिंतन से पतन होगा

जीव की हर दशा में हम पतन की पल में हैं, घाटी में हैं या चढ़ने-उतरने की दशा में हैं, उसका भान उस उस समय यदि **जीव** को हुआ करे, तो पतन की बेला में से वह समय पर जागृत हो जाय। अपने हृदय का स्वजन भले न हो, पर उसके विचार यदि अत्यधिक आया करें, और वह स्वजन यदि **जीव**दशावाला हो तो उसका वैसा मननचिंतन होता हो, वह दशा साधक के लिए पतन की बेला है ऐसा समझना। तो फिर इस प्रकार के दूसरे विषयों का मननचिंतन हो। उसका भी वैसा ही समझें। इससे दूसरी सभी अन्य प्रवृत्ति हम करते हों, तब भी हमारा मन तो अपने असली काम में ही लगा रहता हो, उस तरह जीवन की कला साधक को सीखनी रहती है। साधक अपने निर्धार में से अनेक बार गिरता है तो सही, पर जिसे गिरने का भान रहता है, वह शीघ्र ही खड़ा हो सकता

है । **जिसे गिरने का भान जागृत होता है, उसे साधक कह सकते हैं ।** इसलिए हमें ऐसे विचारों की परम्परा होते, यदि अनचीता चौंकना न बन जाँय, तो हम अपने बारे में हमारा माप निकाल लें । दूसरे विषयों के विचारों की परंपरा में से जो एकदम बिच्छू का दंश लगे और मनुष्य एकदम जैसे पैर उठा ले, वैसे झटक करके उसमें से जो मुक्त हो जाता है, वैसे **जीव** को साधक की कक्षा में रख सकते हैं । यह सब लिखने का कारण तो यह है कि हम अपने आपको अधिक अच्छी तरह समझते हो जाँय । हम अपने आप ही अपने को समझ सकें । जिसे अपने आपको मन और प्राण की विविध प्रकार की गति को पहचानने की चाबी मिली है, वैसा **जीव** कोई एक **जीव**प्रकार की दशा में पिरोकर पड़ा नहीं रहेगा । ऐसी अनेक प्रकार की अलग-अलग उलझनों और मंथनों से वह नया नया ज्ञान सीखता रहता है । ऐसा करते करते साधक के मन पर काबू आते हुए वह स्वयं अनुभव करता है । इन सभी कामों के लिए सतत निरन्तर जागृति अनिवार्य है ।

सत्पुरुष का चिंतवन लाभकारी

सत्पुरुष या सदात्मा का चिंतवन या मनन वह ऊपरी कक्षा में नहीं आता है । हमें उनकी चेतना की तो कहीं कुछ सूझबूझ नहीं होती, पर उस बारे में विचार, उनके लेखों का बारबार वांचन और उसका मनन यदि मन में हुआ करे, तो वह अन्य प्रकार के स्थूल विचारों से अधिक उत्तम है ।

विचारों से मुक्ति के उपाय

कोई विचार हटे नहीं तब उसके उपाय का मार्ग लेना वह साधक के लिए अति उत्तम हैं । फिर, उससे भी विचारों की परंपरा और उलझन में उलझ रहे हो । उस समय यदि उसमें पड़े रहने का भान हमें जागे तो जोर से नामस्मरण करने का शुरू करें अथवा तो भगवान को प्रार्थना करें और उनकी कृपामदद की याचना करें । अथवा नामस्मरण किया करते हों, तथापि विचारों की परंपरा मन में होती अनुभव करें तो उस

समय हमारा कोई प्रिय भजन हो, उसका रटन, मनन या चिंतवन करें। इससे भी यदि ऐसा न होता हो तो हमें जिस सत्पुरुष में लगनी लगी हो, उसका स्मरण-मनन किया करें, परन्तु किसी न किसी प्रकार से विचारों की परंपरा से मुक्त होने के हमें उपाय खोज निकालने चाहिए। यदि ऐसा न करें तो तो वह अपना काम करता जाएगा और हम भ्रमणात्मक दशा में रहा करेंगे।

पुरुषार्थ तो करना ही पड़े

भगवान की श्रद्धा कोई एकदम से किसी **जीव** में सौ प्रतिशत जागृत नहीं हो सकती है। कोई ऐसा महान आत्मा हो कि जन्म के साथ ही पूर्वजन्म में की हुई साधना के प्रखर संस्कार लेकर अवतरित हुआ हो, तो वैसे **जीव** को समय पर श्रद्धा हृदय में लग गई हो जानते हैं। बाकी, हम सबके लिए तो **इस** मार्ग के पुरुषार्थ में दिल लगा-लगाकर अपने में रस अपने को ही जन्म देना होता है, यह जानें। जहाँ तक हमारे होते जाते पुरुषार्थ में हमारा हृदय लगा नहीं है, वहाँ तक हमारा वैसा पुरुषार्थ पूरी तरह फलित नहीं हो सकता है। इसलिए **इस** मार्ग का जो कुछ करना है, उसमें संपूर्ण निश्चिंतता, दृढ़ निर्धार, उसकी संपूर्ण महत्ता और योग्यता दिल में जगा जगाकर के जितना किया करेंगे, उतना हमारे लिए उत्तम है। जिस प्रकार के विचार हुए या किये, उस प्रकार का भाव उतने काल तक हम ने अपना बांध लिया वैसा निश्चित समझें। जब उस संस्कार का उदयवर्तमान हो, तब उस प्रकार की गति मन में पैदा होगी। इसलिए हमें तो चौकन्ने रहकर वैसे कुएँ में गिरना न हो, उसकी कितनी अधिक सँभाल रखनी है, वह अब तुम्हें समझ में आएगा।

आसक्ति कैसे टले ?

किसी के प्रति हमें राग, आसक्ति, मोह या भाव हो, तो उसे हमें महामेहनत से त्यागना होता है। इससे उसका काम न करना ऐसा नहीं। निमित्त आने पर काम अवश्य करें, परन्तु वह प्रभुप्रीत्यर्थ करें और उसी प्रकार की भावना मन में रखें - न कि उस स्वजन की। यदि इस

प्रकार का जागृत विचार और उसकी श्रृंखला अटूट मन में रखा करें तो कर्म करने में बाधा नहीं है ।

कर्मबंधन कब न हो ?

परन्तु किसी भी प्रकार के कर्म करते-करते हमारे मन की भावना श्रीभगवान के चरणकमल की आसक्ति में पिरोयी रहा करे या संलग्न रहा करे, तो कोई भी कर्म वह कर्मबंधन नहीं है, पर *जीव* को पार लगानेवाला है, वह निश्चिंत समझें । जितना समय उत्तम प्रकार की भावना के वर्तन में बिताया उतने समय हम सच्ची तरह जीयें वह भी निश्चित है... के प्रसंग के प्रकरण पश्चात् हमें बोध लेना है कि इस तरह किसी के भी विचार आये, वहाँ-वहाँ उस-उस समय अटक जाने का मार्ग खोज निकाले । प्रसंग हमारा गुरु है । जीवन में होते प्रसंग में से जो **जीव** अपने मार्ग का नया पढ़ना सीख लेता है, उसे उस मार्ग की जानकारी बढ़ती है । व्यापार और व्यवहार में भी ऐसा ही है । सच्चा व्यापारी प्रत्येक प्रसंग और प्रत्येक ग्राहक के साथ के वर्तन में व्यापार करने की नयी नयी कला सीख लेता होता है । ऐसा ही **इस** मार्ग के बारे में है ।

● ● ●

निर्बल दया न रखें

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. ५-७-१९५१

....बहन के बारे में तेरे मन में हुई सारी हकीकत तुमने स्पष्ट लिखी है, वह तो तुमने अति उत्तम किया है, परन्तु सीधीसादी एक बात उस विषय में यह है कि हमारे अंदर बहुत दया और भावना हो, परन्तु उससे यदि हम उसकी स्थिति सुधार न सकें वैसा हो और उसके प्रति की भावना और दया के कारण हमारे मन और तन की स्थिति बिगड़ती जाती हो, तो उसमें किसी का भी सलीका नहीं आता । हमारी या दूसरों की भावना सहलाने में सार नहीं है । ऐसी दया या भावना में बहा करने से मन की शक्ति घटती है और बेकार के विचार के चक्कर में पड़ जाते हैं ।

दुष्ट *जीवों* को भी सच्चे प्रेम से जीतें

यह दीपक जैसी सच्चाई हमें एकदम सूझ जानी चाहिए । अनेक स्वजनों और उनकी प्रकृति के स्वभाव का अनंतगुना दोष हो, तथापि मानवता तो उसमें रही है कि उससे हम सवाया उत्तम हों । मेरे साथ परिचय में आये एक भाई हैं, वह सभी बात में पूरे थे, तब भी उनकी पत्नी ने उत्तम रूप से निभाया और आज प्रभुकृपा से ठीक-ठीक मिलाप उन दोनों में आता जा रहा है । यह मेरे ठोस अनुभव की बात है । अनेक प्रकार के दुष्ट और क्लिष्ट प्रकार के पुरुषों को उनकी पत्निओं ने अपने हृदय के प्रेम द्वारा जीत लिया है, ऐसे अनेक उदाहरण आज भी संसार में मिल जाय ऐसे हैं ।

साधक तो अपना ही दोष निकाले

दोष की टोकरी दूसरों पर डालने से अच्छा जो **जीव** अपने दोष को ही अधिक से अधिक देखता है और उसका निवारण करता है, वही **जीव** कुछ सार्थकतावाला है... बहन का तुम पर बहुत भाव है, यह तो अति उत्तम । उस भावना-साधन द्वारा तो उसे तुम चाहो उतना ऊपर ला सकती हो । दूसरों के दोषों के कारण और स्वभाव के कारण हम अत्यंत दुःखी हैं या हुआ करते हैं ऐसा मानने में बड़ी भ्रमणा और अज्ञानता रही है । तुम्हें भी कुछ सूझता नहीं है यह भी आश्चर्य की बात लगती है । जिसमें खमीर है, वैसा **जीव** तो सब परिस्थिति में से ऊपर आने का प्रयत्न किया करेगा ।

तप अर्थात् आनंदपूर्वक स्वीकार किया हुआ दुःख

मृत्यु या आत्महत्या की बात करने में सयानापन नहीं है । यह तो कायरता का लक्षण है । ऐसे भी दुःख तो सहन करना ही पड़ता है । उसके बदले यदि ज्ञानपूर्वक दुःख का स्वीकार करके दुःख यह जीवन को गढ़ने के लिए स्वर्णिम मौका है, ऐसा समझकर उस दुःख को जो कोई **जीव** निवेदन करता है, उस **जीव** को दुःख यह तपस्या है, और

जिस तपस्या में हृदय है, उस प्रकार की तपस्या में आनंद उत्सव रहा है, उसे वह अखरती नहीं है। यदि दुःख अखरे तो वह तप नहीं है। इससे तुम यदि मूल में से समझो तो... बहन के विचार तो थोड़ी देर में हट जायेंगे। फिर, हम उसके विषय में विचार करने से या उसमें उलझा करने से उसका दुःख तो हम मिटा नही सकेंगे, यह बात तो निश्चित है। तो फिर हम भी अकारण दुःखी हों उसमें सार नहीं है।

सच्ची दया कौन-सी ?

'दया यह प्रेम का स्थूल स्वरूप है' यह बात सत्य है, परन्तु वहाँ प्रेम के सच्चे स्वरूप को हम समझते नहीं है। दया, प्रेम या उसकी सहानुभूति के कारण उच्च आत्माएँ निपट हिमालय के शिखरों से नीचे से नीची कक्षा में उतरते हैं और अलग-अलग **जीवों** के साथ नरक की कक्षा में भी प्रवेश करते हैं, और उसकी यातना प्रेमपूर्वक स्वीकार करते हैं, परन्तु वे सब वैसा करते हैं, उस-उस जगह से उस **जीव** को ऊपर ले जाने के लिए। यदि हमारी दया या प्रेम की भावना द्वारा दूसरे **जीव** को ऊपर ले आ सके, तो यह सब सार्थक है, पर हमारी दया या प्रेम में ऐसा बल होता, तो उस प्रेम और दया द्वारा हम ही ऊपर आ सके होते। हृदय से पैदा हुई दया और प्रेम जिसके प्रति वह प्रेरित होता है, उसके तारतम्य परख लेता है और तुम्हारे जैसे गलत दया वह खाता नहीं है।

संसारी कक्षा के **जीवों** की दया या प्रेम वह दया या प्रेम नहीं है। यह तो **जीव**प्रकार की खाली खाली लोलुपता है। दया द्वारा तो यानी करुणाभाव से तो हम दूसरे **जीव** के साथ तादात्म्य का अनुभव कर सकते हैं और दुःख में भाग भी ले सकते हैं। वह जो भुगतता होता हैं, वह हम भी भुगतते होते हैं और ऐसा करके उनके साथ एकता का अनुभव भी करते होते हैं। करुणा द्वारा जगतमात्र के साथ वैसे दुःख में संत आत्माएँ हिस्सा लेती होती है। वह दया या करुणा हमारे में हो, ऐसा तो अवश्य चाहता हूँ। इससे दया होनी यह साधक का परम लक्षण है।

दूसरों का दुःख देखकर मात्र विचारो में ही न पड़ा रहे, पर उसके दुःखनिवारण के उपाय में लगातार लगा रहे और दुःख दूर न हो, वहाँ तक चैन से बैठा न रहे और चैन न पड़े तो वह दया सच्ची । हम ऐसा कर सकने की शक्ति में तो नहीं हैं ।

संसारी की दया दोनों को हानि पहुँचाये

इसलिए हमें समझना चाहिए कि हमारी दया या प्रेम हमें ही उल्टा निर्बल असहाय बनाते हैं और हमारा बल हर लेते हैं । जो हमें सच्चा कर्म करना है, उसे भी वह छुड़वाते हैं । ऐसी दया तो पतन का कारण बनती है । सच्चे अर्थ में दया या प्रेम उन्नति का कारणरूप है । इसलिए... बहन के प्रति दया और प्रेम यदि तुझे उन्नति के मार्ग में प्रवेश कराये वैसे हो, तो उसके सामने मुझे आपत्ति नहीं ।

साधक संत के लिए ही प्रेम रखे

संतात्मा के प्रति प्रेम हमें टकराते-भटकते भी ऊँचे मार्ग पर ले जानेवाला है । अनेक प्रकार की हमारे **जीव** की प्रकृति में वह सूक्ष्मरूप से प्रवेश करके हमें मार्गदर्शन देता रहता है और ऐसा अनुभव हो या हुआ करे तो उसके प्रति हमारा प्रेम जागृत होता जाता है ऐसा समझें । संतात्मा के प्रति का प्रेम हमें सलामत स्थिति में नहीं रहने देगा, यह निश्चित समझना । इसलिए यदि प्रेम रखना हो तो केवल वहीं रखें ऐसा अनेक अनुभविओं ने अपने जीवन द्वारा अनुभव करके ऐसे सत्त्व का निचोड़ जगत के आगे रख दिया है । यह सब समझ में आये ऐसा है और वह बुद्धि की दलील द्वारा कबूल हो सके ऐसा है ।

गुरु की वाणी किस भाव से स्वीकार करें ?

तुम्हें मेरे साथ दलील नहीं करनी ऐसा कोई मनाई हुक्म नहीं है । तुम्हें जो सत्य लगता है, वह तुम लिखती हो और उस पर मुझे जो सत्य लगे वह मैं लिखता हूँ । उसमें से तुम्हें जो सत्य लगे वह तुम स्वीकार करो । मैं कहता हूँ इसलिए स्वीकार नहीं करना है । **स्वीकार करना इसका अर्थ तो यह कि उसमें से फिर उससे वापिस हटने जैसा न**

हो वह । यानी कि उस तरह बुद्धि को मठार-मठारकर हमें जो तो ग्रहण करना है ।

भावना बुद्धि को ढँक न दे वह देखें

हम बुद्धि में भावना का तत्त्व जुड़ने देते हैं, इससे सही रूप में सोचने की आदत और उसका सही गुण हम में जागृत नहीं रह सकता है । अनेक बार एक और एक दो जैसी हकीकत हो, फिर भी भावनाओं की लहर फिर जाने से हमारे ख्याल में वह आ नहीं सकता, ऐसा होता है ।

दोषों की जुगाली न करें

हमारे दोषों के बारे में हमें जानना चाहिए, परन्तु उसका मननचिंतवन किया करना जरा भी उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से उसका जोश बढ़ता है । जो **जीव** 'मुझ में वासना है, मुझ में वासना है', ऐसा बारंबार विचार करें तो उसकी वासना का बल बढ़ेगा, घटेगा नहीं । **दोष का मननचिंतवन दोष का बल बढ़ाता है । इसलिए हम में क्या-क्या दोष है, उसका ख्याल रखकर वह न हो, उसकी सावधानी रखें यह पर्याप्त है, परन्तु उसकी जुगाली तो न ही करें ।**

विचारों के लिए प्रार्थना

- उस अनुसार तुमने... बहन के विचारों की जुगाली की है, उसका यह परिणाम आया है । इसलिए अब उसकी जुगाली करना छोड़ देना । जब-जब उसका विचार आये, तब उसके प्रति भावनाओं का बल या जोश प्रकटकर हृदय से हृदय में श्रीभगवान की प्रार्थना करें कि 'हे प्रभु ! तुम उस **जीव** का कल्याण करना ।'

विचारों की श्रृंखला न जोड़ें

नामस्मरण पर अधिक झुकाव देने का तुम ने सोचा है उसका अमल करना । जो **जीव** विचार करके संपूर्ण उसका ठीक से अमल नहीं करता है तो उसके असली विचारों में जो शक्ति, बल, उत्साह होता है,

वह उसका संपूर्ण अमल न होने से घट जाता है। इसलिए हमें तो ऐसे रचनात्मक योग्य विचार को महत्त्व देकर उस अनुसार संपूर्ण वर्तन करना रखें। तभी उस आये विचार की सार्थकता है। बाकी के विचार तो बांझ हैं। अनेक विचार आकर चले जाएँगे। उसके साथ हम स्वयं अपने आपमें उन विचारों के प्रति रहे हुए राग द्वारा उन विचारों के साथ दूसरी श्रृंखला न जोड़ें। जो विचार को ऐसे के ऐसे बह जाने देते हैं उसमें तटस्थता का गुण सहजता से पोषित होता जाता है। **मात्र कोई *जीव* दूसरी कोई साधना न करे, किन्तु इतना ही किया करे कि अनेक प्रकार की उठती विचारों की परंपरा में स्वयं अपने आप आनुषांगिक दूसरी श्रृंखला न जोड़े तो वह अपने असली स्वरूप को जरूर पा सकता है।**

विचारों के उपाय

तो यहाँ ऐसा प्रश्न हो कि 'कोई काम करने का विचार आये तो क्या करें ?' ऐसे जो मुद्दे हैं, उन्हें अपनी नोटबुक में नोट कर लें, और जो काम करने जैसा हो उसे कर डालें अर्थात् निपटा दें। ऐसा करते-करते विचारों की चक्रमाला जरूर रुकने लगेगी, अथवा तो हमें यदि भगवान की भक्ति की लगनी लग जाय तब भी, वैसा होता रुक जाएगा। जैसे तुम संपूर्ण... बहन में पिरोयी हुई थी, तब खाना भी पसंद न था और नींद भी नहीं आती थी यह सत्य है, उस तरह श्रीभगवान की भक्ति में लीन हो जाये तो बेड़ा पार हो जाय। ऐसी लगनी लग सके ऐसी तुझ में शक्ति है। जो कोई **जीव** दूसरे **जीव**स्वभाव की कक्षा में इतनी सारी भावना से उसके साथ एकमन हो जाता है और उसके ही विचारों में खिंचा करता है, वैसा **जीव** यदि दूसरी तरफ का पलटा ले ले, तो उस दिशा में भी वह वैसा वर्तन कर सकता है। हमें तो जहाँ तहाँ सामग्री चाहिए। वह सामग्री तुझ में है। उसके सच्चे उपयोग की दिशा का ज्ञानभान तुम्हें पूरा जागा नहीं है, वह अभी सबसे बड़ी खोट है। प्रभुकृपा से हमें वह भान तुम्हें जगाना है, परन्तु हम कौन ? हम से हो ऐसा कुछ नहीं है। तुम में उस विषयक उत्कट जिज्ञासा, उत्साह

और तमन्ना पूर्णरूप से जागृत हो तो कुछ बन सके । प्रभु तुम्हें ऐसी सद्बुद्धि दे यही प्रार्थना ।

• • •

प्रभु बिन कहीं भी प्रीति न लगाओ

कुंभकोणम्   ॥ हरिः ॐ ॥   ता. ९-७-१९५१

तुम अपने मन को इन सब झमेलों से हटा लो यह बहुन आवश्यक है । उन उन व्यक्ति का हमारे हिस्से में जो काम आये, वह प्रभुपीत्यर्थ कर लेना और पीछे से मन में बिलकुल खाली रह सके ऐसी स्थिति रखनी, यह हमारे लिए योग्य है । तुम हजारों बार ना कहो और दूसरा कुछ भी कहो तब भी हमने जिस.... बहन के बारे में लिखा है वह हमें सही लगता है । उस विषय में जो कुछ लिखा है, वह तुम्हें सोचने जैसा है । हम उस **जीव** को पहचानते या जानते नहीं हैं । तथापि जो लिखा है, वह यथार्थ है और तुम्हें उस बारे में कुछ भी मन में झंझट न होने देनी ऐसी मेरी बिनती है । तुम्हें विवाह उस **जीव** के साथ करना नहीं है । तुम्हें विवाह तो श्रीभगवान के श्रीचरणकमल के साथ करना है । जिसके साथ विवाह करना हो, उसके साथ प्रेम जोड़ना यथार्थ है ।

भगवान तो कहे, 'तुम्हें मेरे साथ विवाह करना है और मुझे तो मात्र ना के जैसा ही चिंतन करती हो ! मेरा जिसके साथ कोई संबंध नहीं, ऐसे ऐसों का तुम बहुत विचार करती हो, रात की रात उस **जीव** के विचारों में निकाल दे और मेरी तो तुम्हें कोई चिंता ही नहीं है ! तुम मुझ से अधिक दूसरे **जीवों** में बहिर्मुखता से मन रखती हो । मुझ से जिसे-जिसे विवाह करना हो, उसे तो पलोपल एकमात्र मेरा ही विचार चिंतवन और मनन किया करना होगा । इसके अलावा एक तरफ जगत की सभी उत्तम वस्तु के प्रति का प्रेम या भाव और दूसरी तरफ उससे अनंतगुना प्रेम या भाव मेरे साथ रखना रहता है । ऐसा हो वह मेरे साथ विवाह कर सके, बाकी के नहीं ।' इसका उत्तर हम भगवान को दे सके ऐसा नहीं है । हमें यदि भगवान का वरण करना है तो लड़खड़ाने से नहीं चलेगा । पक्का खबरदार बनना है ।

अहंता जाने पर ही समर्पण होगा

जागृत रहकर मन को विकसित करना है। जहाँ तक हम शरणागति प्राप्त नहीं करते, वहाँ तक हमारा **इस** मार्ग में कुछ भी भाग्योदय नहीं होगा। इसलिए यदि **इस** मार्ग में जाना हो तो सचमुच में सचेतन होना पड़ेगा। पागलपन किया करने से उसमें कुछ रास नहीं आएगा। **हमें तो संसार होने पर भी मानो वह है ही नहीं ऐसे बर्ताव करना है। संसार के सकल कर्म हमारे नहीं है, परन्तु हमारे अंदर की प्रकृति जो बाहर भी व्यक्त है, उस प्रकृति के गुण-स्वभाव द्वारा होता है। इसलिए वह कर्म चेतन के नहीं है। और हमारे सकल कर्म में से संपूर्ण रूप से अहंता की वृत्ति निकल गये बिना हमारा जो तो भगवान को प्रेमभक्ति द्वारा योग्यरूप से संपूर्णरूप से समर्पण नहीं कर सकते हैं।** मुँह से या बहुत हुआ तो विचार से 'यह तुम्हें समर्पण करता हूँ' ऐसा कहें तो वैसा समर्पण जीवनविकास में कुछ उपयोग का नहीं हैं। उसे तो वह पसंद भी नहीं और उससे रंग भी नहीं जमता।

गुरुचेतना ज्ञानभक्ति-निष्ठा के बाद काम करे

सभी किसी को इस जगत में किसी न किसी पास से कुछ सीखना होता है वैसे ही गुरु के पास से भी सीखना है। शिष्य या साधक के मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहम् और अंत में हृदय, वह जहाँ तक गुरु के भाव में ज्ञानपूर्वक और प्रेमभक्तिपूर्वक पूरी तरह सन्निष्ठ होकर मिश्रित होकर मिल नहीं जाते, वहाँ तक गुरु का चेतनात्मक भाव वह चाहे, तब भी उसके (साधक के) अंतर में काम नहीं कर सकता है। ऊपर 'ज्ञानपूर्वक' यह शब्द प्रथम रखा है। इससे हम जो जो करे उसके उद्देश्य का दीपक जैसा स्पष्ट ज्ञान हमें जगमगाता (प्रज्वलित) हमारे अंतर में होना चाहिए।

● ● ●

सर्वत्र सद्‌भाव जगाओ

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. १०-७-१९५१

सभी के प्रति हृदय में सद्‌भाव निष्पन्न हुए बिना साधक में भक्तिभाव कभी जागृत नहीं हो सकता है। 'अच्छे' के प्रति सद्भाव जागे

उसमें उसकी कोई कीमत नहीं है, पर ‘हीन’ के प्रति भी सद्‌भाव जगाकर जीवित करना है, वह साधक को ख्याल में रखना है। हृदय में सद्‌भाव की पूँजी अत्यधिक प्रमाण में जागृत करनी पड़ेगी और उसमें विवेक जीवित करना है, तभी हम सभी के तत्त्व को ग्रहण करने की भूमिका जगा सकेंगे। इस मौन के समय... भाई ने सद्‌भाव के प्रति झुकाव दिया था, वह उनके मौन के निवेदन में से पढ़ा था। इसलिए जो-जो बुरा जगत में है, वह अकेला मात्र लगता है वैसा ठोस ‘बुरा’ नहीं है, वह तो उस चिन्मयी चेतना का किसी न किसी प्रकार का अवतरण आधार स्वरूप है। तथापि जिस अवस्था में वह वैसा दिखता है और अपितु जैसे कोई मानव में कोई दुर्गुण हो, कोई बुरी आदत हो, तब भी उसमें सद्‌गुण होने पूरी तरह संभव है, बल्कि ऐसे खिसके हुए और मर्यादा के बाहर गये दिखते ऐसे **जीव** की संभावना आध्यात्मिक मार्ग में प्रवेश करने की शायद अधिक योग्यतावाली भी हो। कितने इस प्रकार के **जीव** भक्त या संत हो गये हुए के उदाहरण भौजूद हैं। इसलिए वैसी हमें लगती किसी की कमी, खराब आदत या दोष से हम संकुचित हो यह उचित नहीं है, किन्तु ऐसों के प्रति भी हृदय का सद्‌भाव हमारा जीवित रहे और यत्‌किंचित् भी तुच्छता या अवगणना प्रकट ही नहीं हो तो वह उत्तम होगा।

हमारी कमायी कितनी !

तुम अब कुछ जागृत हुई है, तो नामस्मरण पर विशेष महत्त्व देकर उसमें से भक्ति की प्रेरणा लो और मन को श्रीभगवान के विषय में जागृत बना सकें तो उत्तम बात। काल अखंडरूप से बह रहा है। उसमें जितने पल उत्तम प्रकार की भावना के वर्तन में बितायें, उतने समय में वैसे जीवन की हम उस प्रकार की कमायी कर सकें वह निश्चित जानें। ऐसा कर -करके अखंड धारावत् हमारे जीवन की साधना का सातत्य सँभला रहे उस तरह जीवन में व्यवहार करना है।

प्रयत्न और कृपामदद की प्रार्थना करो

जहाँ तक हम **जीव**दशा में हैं, वहाँ तक जीवन की सच्ची चाबी और सच्चा हल हम प्राप्त नहीं कर पाते हैं। तथापि किसी अदृष्ट की

ओर हमें आकर्षण जागता है, कि कितने ही **जीवों** को चालू जीवन के असंतोष से धकेलकर किसी न किसी अदृष्ट की ओर प्रेरणा पाने का होता है । प्रचंड असंतोष जागते ही या तो **जीव** बिलकुल निराश हो जाता है, या तो कोई **जीव** प्रचंड पुरुषार्थ करके और उस असंतोष के कारण के मूल में उतरकर उसमें से अपने नग्न से नग्न रूप का पृथक्करण करके उसमें से समन्वय पाने में भाग्यशाली बनता है। जो अपने जीवन की परवाह करता है, या जिसे परवाह करने का सच्चा पूर्णरूप से भान जागता है, वैसा **जीव** भी कभी कभी तो **जीव**दशा में लुढ़क पड़ता है, पर हमें तो जहाँ ऐसा जागृत भान जागा ही नहीं है, ऐसों को तो कहना ही क्या ?

हमने किये निर्णय या संकल्प की दृढ़ भूमिका अभी हम पक्की नहीं कर सके हैं, और उस संकल्प को जीवित भी नहीं कर सके हैं, ऐसी स्थिति में इधर-उधर हिल उठने का हो तो वह जीवनविकास की दृष्टि से बहुत कठिन समय है । वैसी स्थिति में ज्ञानभान रखकर खड़े रहना वह साधक के लिए बड़े से बड़ा तप है। ऐसे समय में ही सच्चे हृदय के प्रयत्न की आवश्यकता खड़ी होती है। प्रयत्न के बिना कहीं कुछ नहीं होनेवाला है। सभी प्रवृत्तियों में प्रयत्न की आवश्यकता रहती है। उसमें भी **इस** मार्ग में तो विशेष जागृत प्रयत्न की आवश्यकता है। प्रयत्न के साथ साथ हमें भगवान की कृपामदद जब-तब माँगते रहनी है । श्रीभगवान की कृपा का अवलंबन यह हमारे लिए अंधे की लकड़ी समान या अंधेरे में दीपक की गरज पूरी करता हो जाय ऐसा हो जाना चाहिए। जीवन में जिसे अवलंबन की शक्ति, उसका ज्ञान और उसका अनुभव जाग जाता है, वह निश्चिंत और निर्भय बन जाता है और निर्भय होता जाता है ।

जो अवलंबन हमने कहा वह अवलंबन ऐसे के ऐसे खाली विचारों और बुद्धि में पड़ा रहा तो वैसा आलंबन, भिखारी स्वयं करोड़पति हो गया है वैसा स्वप्न आते वह उसके जागृत जीवन में काम में नहीं आता है, बल्कि दुःख, उद्वेग करनेवाला होता है, उस अनुसार वैसे आलंबन के बारे में हमें समझना है। अंधा जिस तरह लकड़ी के आधार द्वारा अपने

निर्धारित स्थान पर पहुँच सकता है, वैसे ही हम अंधे हैं और आलंबनरूप लकड़ी जीतीजागती यदि हमारे हाथ में नहीं होगी तो हम रुक जाते हैं। इसलिए आलंबन को पहले तो साधक को जागृत ख्याल, जागृत भान रख रख के जीवन में काम चल सके इस तरह जीवित करना है। इसके बिना हमारा मार्ग कटनेवाला नहीं है और हम **जीव**दशा में से हट सकनेवाले नहीं है । आलंबन पुख्ता हो तभी काम हो ।

बुद्धि और भाव दोनों काम के

जीवन के बारे में हमारा संकल्प भी यदि दृढ़ और मरजिया निर्धार का न हुआ तो जो अवलंबन लिया हो उसमें प्राण आएँगे नहीं । उसमें हृदय भी उँड़ेल नहीं सकते । संकल्प को मजबूत करने में बुद्धि और भावना की जरूरत होती है। बुद्धि वह ज्ञान का एक करण है और भावना, सहानुभूति आदि भाव का करण है। इससे संकल्प को दृढ़ करने में बुद्धि और भाव की बारंबार मदद लेनी होती है। हमारे संकल्प में यदि भाव की वृद्धि न हो तो वह संकल्प कोरा रहता है, और वह जड़ जैसा रहता है। यदि हमारे में बुद्धि सतेज और सूक्ष्म न होती हो तो उसमें हमारा हृदय नहीं ऐसा निश्चित जानें। भाव की मदद द्वारा उसमें चेतन ला सकते हैं। जीवनविकास के मार्ग में बुद्धि और भाव दोनों जरुरी हैं।

अच्छा-बुरा दोनों काम के

सकल कर्म हम भगवान प्रीत्यर्थ करते हों जाय तो रागद्वेष बहुत घट जाने की संभावना हैं। 'अच्छा या बुरा' कोई भी कर्म यदि भगवत्प्रीप्यर्थ करने का जागृत ज्ञानभान हमें हृदय में प्रकट जाये तो जगत से **जीव**दशा के 'अच्छे या बुरे' का ख्याल ही **जीव** को जैसा भान रहता है वैसा भान उस-उस समय **जीव** को वैसे-वैसे कर्म में न रहे। हमें जो कुछ करना है, वह भगवान के लिए - यानी अपने जीवनविकास के लिए करना है। जो कुछ आता है वह हमें नया-नया सिखलाने के लिए आता है। इसलिए जो कुछ बनता है, उसमें से हम क्या सीखते हैं, उसका हृदय में सचमुच अनुभव लेते जाये । कुछ समय तक उस प्रकार की टीप्पणी रखनी भी उत्तम है ।

जितने 'अच्छा' हमें प्रेरणा देता है, उतनी 'बुरा' भी प्रेरणा जरूर दे सकता है । दोनों प्रकार के प्रसंग **जीव** को जगाने के लिए, चलाने के लिए, भान प्रेरित करने के लिए, भावना को सतेज करने के लिए और बुद्धि को सूक्ष्म बनाने और प्रेरित करने के लिए जीवन में मिला करते हैं ।

● ● ●

प्रेमगाथा

कुंभकोणम्   ॥ हरिः ॐ ॥   ता. १२-७-१९५१

जीवन में जैसे जिस प्रकार के संस्कार उस प्रकार की जीवन में गति और मति रहती है । यद्यपि प्राण उस प्रकार के रहते नहीं हैं, तब भी उत्तम प्रकार के जिसके जीवन में संस्कार हैं, उसका कोई दबाव प्राण की उच्छृंखलता पर होता है सही । यह हकीकत अनुभव की है और बृद्धि को स्वीकार करने में आपत्ति आये वैसा नहीं है । उसी तरह जीवन में जिस प्रकार का उत्कट प्रेम है, उस प्रकार की समझ, गति अवश्य रहती है । प्रेम की बात में विशेषता तो यह है कि मन भी वैसा रह सकता है और प्राण की उच्छृंखलताएँ भी अवश्य शांत होती हैं । संस्कार से अधिक जीवन में प्रेम का महत्त्व विशेष है । प्रेम से भी भाव का मूल्यांकन जीवन में श्रेष्ठ है । ऐसा भाव प्रकट होते ही मन, चित्त, प्राण, बुद्धि और अहम् भी उसके राग में रहते हैं, यह उसकी सविशेषता है, परन्तु ऐसा भाव सहजता से जाग नहीं जाता । पहले तो प्रेम जागता है । **प्रेम के जागे बिना भाव नहीं जाग सकता ।** इससे **इस** मार्ग में प्रेम और वह भी अत्यन्त उच्च प्रकार का, वह साधक के लिए अति महत्त्वपूर्ण है । प्रेम उसकी उच्च में उच्चतम कक्षा तक न पहुँचे, वहाँ तक हृदय से हृदय में हृदय को शुद्ध और संपूर्ण समर्पण करने की ताकत नहीं प्राप्त कर सकते हैं । जिस प्रकार का प्रेम उस प्रकार का मननचिंतवन रहा करे, यह भी समझ आये ऐसा है । इससे प्रेम जिसके प्रति जागे उसके सत्त्व में और उसमें मन लगाकर के उसमें लय हो जाने का काम भी प्रेम कर सकता

है । प्रेम तद्रूप बना देता है । ऐसे प्रेम के प्रभाव और लक्षण हैं । 'प्रेमलक्षणा भक्ति' यह भक्ति का उत्तम स्वरूप है । भक्ति का स्वरूप एकाकार हो जाना, वह ऐसे प्रेम बिना नहीं हो सकता है ।

'प्रेम प्रकट हुए बिना हरि पाना यह तो दुष्कर कर्म है ।'

प्रेम प्रकट करने की प्रक्रिया

तब अब प्रश्न होता है कि वह प्रेम किस तरह प्रकटे ? पहले **जीव**दशा में तो मोह, राग, आसक्ति हमें हो और फिर उसमें विवेकशक्ति द्वारा हम उसे शुद्ध स्वरूप में विकसित करते जाँय । मोह हमें एक की एक स्थिति में तामस द्वारा जड़ता में ही बांधे रखेगा । राग और आसक्ति उससे कुछ थोड़ी उच्च कक्षा की कहलाती हैं । एक परिस्थिति से दूसरी परिस्थिति बदलाती हो, तब भी मोह, अपना स्वरूप बदलता नहीं है । जब कि प्रेम तो एक की एक परिस्थिति में हमें कभी जकड़कर नहीं रखता है । प्रेम का स्वरूप सत्त्व के साथ यानी कि सत्त्व की भूमिकावाला रजोगुण से जुड़ा हुआ हो –– तथापि उससे भी उच्च कक्षा का प्रेम है –– उसमें प्रेम का शीघ्र विकास और गति हुआ करती है । केवल सात्त्विक भूमिकावाला प्रेम हमें जिसमें प्रेम मिश्रित या मिला है उसमें ही रखता है । उससे पर जाने के लिए सात्त्विक भूमिका से भी जीवात्मा को पर जाना रहता है । इस समझ की दृष्टि से देखें और सोचें तो जिसे हम जीवन के गुरु गिनें, मानें या स्वीकारें उनमें उच्च से उच्च प्रकार का प्रेम हमारे हृदय में जाग जाय, इतना ही नहीं, उसकी सुवास मात्र नहीं, परन्तु उसका अस्तित्व और उसकी ठोस उपस्थिति हमारे मन, बुद्धि, चित्त, प्राण, अहम् और हृदय में प्रकट होकर फैल जाय, तभी गुरु की चेतनाशक्ति हम में काम करती हो सकती है । प्रेम यह तो होते होते विकसित होता है । प्रेम को मर्यादाएँ नहीं हैं । **प्रेम का मूल भाव है । भाव का मूल चेतन है ।**

• • •

गुरुपूर्णिमा का उत्सव

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. १४-७-१९५१

गुरुपूर्णिमा का दिन प्रत्येक *जीव* को अपने-अपने तरीके से व्यक्तिगत रूप से मनाना होता है। प्रत्येक साधक उस दिन गुरु के शरीर को नहीं, उनके मन को नहीं, या उनकी बुद्धि को नहीं, परन्तु उनके भाव को महत्त्व देकर उनकी जितनी वास्तविकता हमारा मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहम् स्वीकार करे उस तरह बिताना है। वह संपूर्ण दिन गुरु की भावना में अखंड रूप से बहे और गुरु की भावना का संपर्क हमारे किसी भी करण को हो तो वह दिन हमारा ठीक से उत्सव हुआ गिना जायेगा।

अभ्यास

हम अपने में हैं उससे अधिक बाहर विशेष हैं। इसलिए साधक तो स्वयं अपने में जितना अधिक रहे उतना उत्तम। बाहर की माथापच्ची, झंझट, बातचीत को, बाहर के काम और बाहर के स्वरूप को उसे चिपके रहना नहीं है। जब जब ऐसा हो, तब उसे झटका देकर अलग हो जाना है और अंतर में मुड़ा करना है। दिनभर में ऐसी अनेक बार जागृति रखा करें तो अंतर में मुड़ा करने का अभ्यास पक्का होता जाएगा। जो कुछ अभ्यास से आता है। अभ्यास के बिना साधना में प्राण नहीं आ सकते। अभ्यास दृढ़ होने पर उसमें हृदय भी उँडेल सकते हैं और शामिल हो सकता है। अभ्यास से एक प्रकार की लत जागती है। अभ्यास से जो लत जागती है, उसमें एक प्रकार की परंपरा हो जाना संभव है सही, इससे अभ्यास में बारंबार हमें बुद्धि द्वारा, कल्पना द्वारा, हृदय की भावना द्वारा, भावना का उद्दीपन बारंबार किया करना होता है। कुछ हृदय में शुष्कता लगे कि तुरन्त ऊपर के तरीके से भावना को जगाते रहना है। दिन में कुछ नहीं तो बीस-पच्चीस बार इस तरह भावना को जगाने को प्रयत्न करना है। मैं तुम्हें उपाय तो बतला रहा हूँ, पर तुम उस अनुसार करो तब न ? ऐसा करने से उपाय की योग्यता और महत्ता का पता चलता है। इसलिए ज्ञानभान रखकर किया करने में ही सार है।

अभ्यास के परिणाम

हम अपने अभ्यास में यदि दृढ़ और पक्के होते जाएँगे, और अपने अभ्यास में ही अपने मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहम् लगे रहते होंगे, तो आगे-पीछेवालों को भी हमारी समझ पड़ा करेगी । उनको भी होगा कि 'यह लड़की सचमुच अब कुछ करती है तो सही ।' पर उन पर छाप छोड़ने या असर पैदा करने के लिए नहीं, पर हमें तो जो तो कुछ करना है, वह स्वयं अपने लिए ही करना है ।

स्पर्श की भावना

जीवन में से सब प्रकार के संकोच और विस्तार को हमें ज्ञानपूर्वक छोड़ देना है । स्थूल नियमों के पालन से शरीर की पवित्रता जन्म नहीं लेती है । शरीर पवित्र है सही, परन्तु कब पवित्र हो और किस तरह वैसा हो सकता है, वह हमें अनुभव से सीखना है । स्पर्श से डरने की आवश्यकता नहीं है । घबराने का कारण नहीं है । इससे जिस तिस का स्पर्श किया करना वह भी ठीक नहीं है । स्पर्श की भड़क और फड़क के लिए यह जरूरी है, और उसकी वैसी तनमन की मान ली समझ में से हमें हट जाना है ।

मन एक में पिरोयें

...उसमें हमारे लिए तो उत्तम प्रकार का भाव जागे वह ठीक है, परन्तु सामान्य कक्षा के **जीव** में केवल शुद्ध प्रकार का भाव हो या रहे, वह स्वाभाविक भी हो और स्वाभाविक न भी हो... हमारा मन भी ऐसे विषयों में कुचला करे या उसकी निंदा करे ऐसा न रखें । जो तो वस्तु में मन लग न जाय उसकी संपूर्ण सँभाल रखनी है । मन मात्र किसी न किसी एक जीवनविकास की भावना में रमा करे और वैसे ज्ञानपूर्वक व्यवहार करे, उतना हमें जागृति से किया करना है । हृदय की भावना से भगवान की कृपामदद के लिए दिन में बारंबार प्रार्थना किया करनी है । नामस्मरण की झलक में भावना का प्रवेश होने देना है । हम जीते हैं वह किस लिए ? उसका भी विचार करना है । कोई स्थूल प्रकार या

दूसरे प्रकार के विचार उपजते भान रखकर, चेतकर, जीवन के रचनात्मक पहलू के विचार किया करना है । किसी न किसी प्रकार से एक ही भावना में जीया जाय ऐसा किया करना है । हमें ठाटबाट से खुशी में इधर–उधर टहलना है हृदय की भावना में । यही हमारे सही रंग और रस हैं ।

● ● ●

दोष खोजा करो और निकालो

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. १६–७–१९५१

साधक को अपनी प्रकृति किस प्रकार की है और उस प्रकृति में कौन–कौन से गुण और अवगुण हैं तथा किस प्रमाण में हैं, उसका निश्चित यथार्थवाला ज्ञान हो जाय यह आवश्यक है । इतना ही नहीं, परन्तु अपनी प्रकृति कहाँ–कहाँ अड़चन डालती है, वह उसे खूब खूब गहराई में सालता है, तभी वह उसके लिए सँभाल रख के, जागृति रख के, कुछ प्रयत्नवान हो सकता है । तुम में जो जो दोष हो, उनकी एक सूची बनाये, परन्तु उन दोषों के बारे में बारंबार विचार न करें । वे दोष एक के बाद एक जाय ऐसे जागृत प्रयत्न में रहें । जो दोष को दोष रूप में जानता है और उस बारे में सजग रहता है, वैसा **जीव** एक दिन उसकी पकड़ में से सुस्त पड़नेवाला है ।

स्वयं को देखनेवाला ही दूसरों को समझता है

सचमुच में तो हम किसी को पहचान नहीं सकते, तो अनुभव तो कैसे कर सकते हैं ? जो **जीव** अपने आपको ठीक से अनुभव कर सकता है, वैसा **जीव** कुछ अंश में दूसरों को समझ सकेगा । चेतन में एकपन है, परन्तु प्रकृति में अनेक प्रकार की विविधता और विस्तार है । आत्मा प्रकृति में रही होने से और प्रकृति के रूप से वर्तन करती होने से तथा प्रकृति द्वारा व्यक्त हुई होने से, सभी में प्रकृति ही मुख्यतः बाहर से तो दिखती होती है । प्रकृति का स्वरूप तो प्रत्येक का विविध ही होगा । इसलिए उसे पहचानना यह तो कठिन काम है ।

आत्मा को पहचानने की शर्त

तुमने लिखा है कि '**मोटा** को अब तक मैं पहचान नहीं सकी हूँ।' परन्तु जब हमें कोई दूसरे जीवात्मा के बारे में हृदय की लगनी लगती है, तब वह पहचानने की खटपट में भी पड़ता नहीं है । वह तो अपने आप उस समय उसमें प्रवेश कर जाता है । जिसे हमें जानना, समझना और अनुभव करना है, वह तो हमारे अपने अंदर रहा हुआ चेतन है । उस चेतन को अनुभव करने के लिए हमारी अपनी प्रकृति पर का विजय यह एक बड़े से बड़ी अनिवार्य शर्त है और वह साधना बिना संभव नहीं है । **जीव** की उस प्रकार की उत्कट जिज्ञासा वह उसमें सत्य की बुनियादरूप है । वैसी जिज्ञासा के बिना उस मार्ग में प्रवेश लगभग असंभव है । जिज्ञासा के साथ जिज्ञासा के मार्ग पर पुरुषार्थ करने के लिए अदम्य उत्साह और हृदय के बल के साथ-साथ साधक को प्रयत्न कर-करके, बारंबार जगाकर, स्वयं सजीवन किया करना है ।

साधना में गुरु का काम

तो फिर ऐसा प्रश्न उठता है कि गुरु का क्या अर्थ ? गुरु का अर्थ तो वह हमें मार्ग की दिशा और गति बतलाये । हमें बारंबार समझाये और अंतर की प्रेमभक्ति को, हृदय तदाकार हुआ हो तो, उनकी चेतनाशक्ति का भी संपर्क हो तो उससे होते अनुभव द्वारा हम मार्ग में सुदृढ़ हो सकते हैं ।

साधना के तीन बल

उत्कट जिज्ञासा यह पहला सत्य है । दूसरा सत्य सद्‌गुरु । तीसरा सत्य है हमारा अपना सतर्क और मुक्त होते जाते बुद्धि और भाव । साधक की 'मुक्त होती जाती बुद्धि' यानी क्या ? ऐसा प्रश्न हो । बुद्धि दो प्रकार की है । एक बुद्धि तो अनेक प्रकार की समझ, आदत, बुरी आदत से युक्त और अनेक प्रकार के पहलुओं से रंगी हुई होती है । यह बिलकुल **जीव** प्रकार की निम्न (अधोगामी) प्रकार की बुद्धि है । दूसरे प्रकार की बुद्धि जिसमें सद्-असद् का विवेक जागा हुआ है और जिसका अलग-

अलग अनेक प्रकारों की समझ से छूटकारा होता जाता है ऐसी बुद्धि। यह दूसरे प्रकार की बुद्धि इस मार्ग में उपयोगी है। पहले प्रकार की बुद्धि **जीव** को इस मार्ग में अत्याधिक पीड़ारूप है।

अधोगामी बुद्धि कैसे बदले

जिज्ञासा के साथ उसका संकल्प यदि दृढ़ और मरजिया निर्धारणवाला हो तो वह हमें जगाये और उठाये बिना नहीं रहने देता। इसलिए हमें अपने विचारबल को अभी अत्यधिक शिक्षित करना है। हमारा विचारबल एक ही प्रकार की दिशा और गति में सतत मननचिंतवनवाला रहा करे और उस भाव का उद्दीपन रहा करे और उसके वैसे ही वर्तन अमल हुआ करे, तो निम्न प्रकार की बुद्धि जरूर हटने लगेगी और अपने पुरुषार्थ में हमें रस जमने लगेगा।

प्रकृति के रूपों में स्वस्थता

प्रकृति में रहा हुआ चेतन अनेक प्रकार के रूप - नये नये रूप धारण करता है और वह एक होने पर भी अनेक रूप होता है। हम भी एक होने पर भी अनेक प्रकार के बारंबार हुआ करते हैं और बदला करते हैं। आकार एक भले ही दिखे पर आकार में प्रकार अलग-अलग हुआ करते हैं, इसका प्रत्येक **जीव** को अनुभव होता है, ऐसे अपने होते अलग-अलग प्रकार में जो **जीव** शांति धारण कर सकता है, धीरज रख सकता है और बुद्धि द्वारा, विवेक का उपयोग करके, जो **जीव** समता रखने का जागृत प्रयत्न करता है, वैसा **जीव** प्रकृति से उत्पन्न ऐसेऐसे अलग अलग पलटने में और उसके वेश से हिल नहीं उठता। प्रकृति के वैसे प्रपंच और भँवर में वह फँसकर असमंजस में भी नहीं पड़ता है। प्रकृति के ऐसे होते या आते रूपों से वह सजग रहता है और प्रभुकृपा से उनका निवारण भी कर सकता है।

● ● ●

प्रसन्नता अर्थात् प्रभु की समीपता

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. १९-७-१९५१

'शिष्य कि उन्नति वह गुरुदक्षिणा' यह तुम्हारा वाक्य अति उत्तम है, और यही चाहिए । दूसरा तुमने जो कविता लिखी है, उसका छंद शार्दूलविक्रीडित नाम से है । हमारी प्रार्थना का स्वर दिल में मधुर लगे तब भाव सविशेषरूप है ऐसा समझना । अत्यंत कठोर लगे तब मन का ठिकाना नहीं है अथवा तो कुछ अकुलाया हुआ है ऐसा जानें, मन में खूब प्रसन्नता हो तभी सभी कुछ हमें अच्छा लगता है ।

चौमासे में एक बार भोजन करना यह अच्छी बात है, परन्तु जो एक बार भोजन ले वह पूरी तरह से खाये । एक बार खाना हो तो शाम को खाये तो ठीक ।

तुम्हारा स्वभाव भावनाप्रधान है । इससे ऐसे दूसरे काव्य भी तुम रच सकोगी । लिखी हुई कविता में मात्र एक ही जगह भूल है । बाकी जिंदगी शेष रहे जगत में' इसमें 'रही' शब्द है, तुम्हारे ऊपर अनुसार लिखने से मात्रामेल बैठ सकता है ।

'दक्षिणा' सामयिक

जब जब ऐसी ऊष्मा हो तब लिखना... भाई ने लिखे काव्य में से जो उतारने का मन हो वह उतार लेना । विशेष तो कुछ लिखना नहीं है । 'दक्षिणा' त्रिमासिक पोंडीचेरी से निकलती है, वह भी पढ़ने जैसी है । आश्रम में पुराने भरे हुए अंक हैं, उन्हें लाकर पढ़ सकते हैं । साधना करनेवाला प्रत्येक साधक को उनका सँभालपूर्वक अभ्यास करना चाहिए ऐसा मेरा मत है । आध्यात्मिक क्षेत्र का ऐसा महत्त्वपूर्ण लेख अभी तक गुजराती साहित्य में संपूर्ण तरह से विकसित नहीं है । साधक को यह अति उपयोगी होगा वैसा है ।

• • •

कविता

कुंभकोणम्   ॥ हरि:ॐ ॥   ता. २३-७-१९५१

हरिगीत छंद की प्रार्थना मिली है । कविता में पंक्ति का अंतिम शब्द जिस प्रकार का होता है वैसा ही दूसरी पंक्ति का अंतिम अक्षर होता है । यानी कि प्रास मिलाये हो, तो उसे गाने और पढ़ने में प्रसन्नता और भाव उत्पन्न होते हैं । इसलिए उसका ख्याल रखते रहना और ऊष्मा जागी हुई होती है तो वह सरलता से हो सकता है । अपने आप जो हो वह लिख लो । इसके लिए प्रयत्न न करे । तुमने लिखी प्रार्थना नीचे अनुसार सुधार सकते हैं –

हरिगीत

गुरुपूर्णिमा के शुभ दिन गुरुभावना दिल में रख,
प्राप्त अनुग्रह जिसका ये प्रार्थना उसे रख । १.

जिसका परिचय अल्प मुझ को वर्ष पहले तो हुआ,
मैंने पिछाना, प्रभु-कृपा, तारणहार वही हो । २.

जिसने मुझे समझाया 'जीवन का क्या अर्थ है ?
तू व्यर्थ क्यों बिताये जीवन ? सोचने का धर्म हैं । ३.

लाचार न तेरी स्थिति, तुने पायी है प्रभुकृपा,
भान जिसने जगाया ये प्रार्थना उस चरण में । ४.

माता के वात्सल्य से जिसने मुझे सँभाला है,
उलझी हुई मुझे बचा के प्रेम से ली पद में । ५.

'जागो स्वजन ! क्यों व्यर्थ खोते तुम जीवन सब ?'
स्वर निकाले जिसने यह प्रार्थना उन्हें रखूँ । ६.

यह सुकोमल भाव, मधुरा मीठा दिल में भरा,
'यह हर्ष रहे' रोज मुझ में, यह प्रार्थना तुझे की । ७.

कविता द्वारा साधना

कविता में प्रास हो तो अधिक आह्लाद देता है, और एक प्रकार की मन में सुरुचि लाता है। आजकल के कविओं में प्रास के प्रति अधिक झुकाव रहा नहीं है । मैंने जितना कविता में लिखा है, उसमें कमज्यादा प्रमाण में मात्रामेल और प्रास के प्रति जागृत भाव रखा है । काव्य को रचने के लिए हृदय में उष्मा भाव का जो जोश आना चाहिए वैसा कुछ मुझ में अधिक नहीं था । अत्यंत गरीबी और कठिनाई में जिंदगी बीती थी, उसकी छाया जीवन पर पड़ी थी । तथापि काव्य द्वारा व्यक्त करना मुझे बहुत अच्छा लगता था और... भाई निमित्तरूप से मिल गये। इसलिए इस तरह से जो तो लिखा है। तुम जरूर जब ऐसी तरंग हो तब कविता लिखना । भगवान की प्रार्थना बिना दूसरा कुछ लिखना हमें होता नहीं है ।

अभिक्रम का नाश नहीं

प्रयोग का परिणाम एकदम नहीं आता है । प्रयोग लेकर बैठे हो तो लाखों बार निराशा लगती है, तथापि उसमें से सत्य प्राप्त कर ही सकेंगे ऐसा जिसमें आत्मविश्वास दृढ़ हो गया है वैसा **जीव** उसे दृढ़ता से चिपका रहता है। फिर हमारा प्रयोग तो साधना के लिए है। इसलिए उसमें मानो सफल न हों, तब भी वह प्रयत्न कभी बेकार नहीं जाएगा । इस सत्य का भान और ज्ञान साधक के मन में बहुत बड़ा आश्वासन प्रेरित करता है ।

ध्यान के प्रारंभ का तरीका

गुरुपूर्णिमा के दिन प्रथम बार ही तुम ध्यान में बैठी और उस ध्यान के दौरान मात्र कुछ ही विचार जागे वह बहुत अच्छी वात है। प्रतिदिन पा-पा घण्टे सुबह-शाम ऐसा ध्यान करते रहना। पहले पाँच मिनट हृदय की भावना से नामस्मरण करना, भगवान की कृपामदद प्रेमभक्ति से माँगना, उसके बाद मन में निश्चेष्ट होने की भावना लायें । ऐसा करते-करते जो कुछ विचार पैदा हो, उसे साक्षी रूप से देखा करें । उसे हम

अनुमति न दें । **यानी कि जो एक विचार उपजा उसके अनुसंगीपन में हम अपने आप दूसरा विचार न जोड़ें, इससे हम अपने विचारों की शृंखला की परंपरा जोड़ते न रहें ।** अभी तो इस प्रकार तुम्हें किया करना है और जो कुछ किया करें उसमें जो जो कुछ हो या बने है उसे बिलकुल खुलकर लिखा करना ।

अपना सभी गुरु में निचौड़ दो

साधक और गुरु के बीच हृदय की सरलता, सहजता और खुला भाव जितना खुलकर होगा उतना उत्तम है । मन, चित्त, प्राण, बुद्धि, अहंकार और हृदय अथवा जिसे हम सर्वस्व अपना गिनते हों, वह सब भी उसका ही हो जाय – उसके मय हो जाय, यह भावना सदा रमा करे ऐसा ज्ञानभक्तिपूर्वक का प्रयत्न और अभ्यास हमें करना होता है ।

सच्ची गुरुभक्ति से भावना टिके

जहाँ तक सख्त आघात और धक्का न लगे वहाँ तक गुरु के प्रति भावना सुकोमल रहती है, पर अनेक प्रकार के उलटेसीधे प्रसंगों में भी उनके प्रति हृदय की भावना सतत ज्ञानपूर्वक की जागृतिरूप से जीवित सँभला करे तो मन दूसरे विषयों में गया हो, तब भी उसकी भूमिका की वह भावना झिलमिल रहा करती है, ऐसा मेरा अपना साधनाकाल का अनुभव है ।

वृत्ति, भावना द्वारा योग

हृदय की प्रेमभावना की सुकोमल भावनाओं का उपयोग जीवन की भावना को जीवित रखने के लिए सतत करनी होती है । कोई भी भावना या वृत्ति या विचार यह मूल तो शक्ति का स्वरूप है । वृत्ति, भावना या विचार द्वारा जैसे हम प्रत्येक कर्म में प्रवेश करते हैं, उसी तरह उसके द्वारा जीवनविकास के कर्मयज्ञ में भी हम प्रवेश कर सकते हैं ।

बहुत समय पहले प्रकाशित हुई पुस्तकों में से अमुक अमुक पन्ने पर के लेख पढ़ जाने के लिए बतलाया था, वह तुमने अभी तक पढ़ा

नहीं लगता है । हेमंतभाई के हस्ताक्षर से वह लेख तुझे लिखा गया है । शायद अप्रैल की आखिरी तारीखों में होगा । वह पढ़ जाना ।

पूज्य श्रीअरविंद का लिखा 'माँ' पुस्तक है, वह तुम जरूर पढ़ जाना । तुम्हारे पास वहाँ न हो तो हमारे हरिजन आश्रम में है । जब जाओगी तब ले आना । कोई भी पुस्तक पढ़ने लाये हों, तब उसे समय से पढ़कर लौटाने की आदत बहुत अच्छी है ।

● ● ●

साधना में वेग कब आएगा ?

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. २४-७-१९५१

जीव की जिज्ञासा उत्कट हो तथापि उसकी साधना एक-सी सतत हुआ नहीं करती है । मेरी जिज्ञासा उत्कट तो थी, पर उसके साथ वह सतत, स्थिर और ऊर्ध्वगामी ऐसे तीन लक्षण उसमें जो होने चाहिए वे न थे, अधूरे थे । इसलिए साधना में जमते-जमते और स्थिर होते छ वर्ष लगे । जिस **जीव** की जिज्ञासा सतत, स्थिर, ऊर्ध्वगामी और उत्कट हो उसे साधना में दृढ़ होनें में देर नहीं लगती । जिज्ञासा के अलावा साधना में दृढ़ होने के लिए दूसरे गुणों की जरूरत होती है । साधना के प्रति दृढ़ निश्चयात्मक मन, बुद्धि और प्राण से हुआ निर्धार हो तो उससे साधना में अधिक वेग मिलता है । इसके अलावा जीवन में दूसरा कोई मार्ग नहीं है और जीवनविकास के लिए साधना ही अंतिम मार्ग है । ऐसी जिस **जीव** को आत्मप्रतीति है, वह किसी से फिर व्याप्त नहीं होता है, परंतु हमारे में इतना सारा मिलावटवाला रहा हुआ है कि उसे पूछो ही मत । साधक को नम्र से नम्र होना चाहिए । उस दिशा में हमारा संपूर्ण जागृत प्रयत्न और अंतर का प्रेमभक्तिभरा सहकार अभी तो जागृत हुआ नहीं है । दो वचन उग्र चरपराहट अपमानभरे कोई कहे तो मन छटपटा उठता है । साधक में से अभिमान पूरी तरह पिघलना चाहिए तथा प्रत्येक कर्म में प्रभुप्रीत्यर्थ वह हुआ करे ऐसी आंतरिक भावना और वह होने के बाद उसका प्रेमभक्ति से ज्ञान द्वारा समर्पण होना कि वह सब हुआ करे — और वह भी सहजता से — तभी साधना पक्की हुई गिनी जाएगी ।

साहब मिले सबूरी में

यह पढ़कर 'हाय हाय ! अब तक तो एक भी नहीं लिखा' ऐसा पुकारने की जरूरत नहीं है । एक कदम भी यदि बालक चलना सीखता है, तो उसकी चलने की क्रिया से उसमें आत्मविश्वास आ जाता है । एक कदम यदि इस मार्ग में दृढ़ता से हमने रखा तो वह उसका लक्षण जरूर देता रहता है । हमारा आत्मविश्वास बढ़ाता जाता है । चलते-चलते ही पथ कटता है । जिसने चलने के बारे में सोचा है, उसके मन में 'कब पथ कट जाएगा, कब पथ कट जाएगा' ऐसा सोचना नहीं है । हम किस तरह से अभी अधिक चलें और योग्य रास्ते चलें ऐसा सोचा करना है । **इसलिए हमारा अहम् जहाँ जहाँ झाँका करे वहाँ-वहाँ हमें चेतकर उससे निवृत्ति प्राप्त करनी है । हमारे अहम् को कोई आघात दे तो वह भगवान की कृपा है ऐसा समझना ।**

लगनी लग जानी चाहिए

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. २५-७-१९५१

प्रारंभ में जो नया काम लिया, उसमें उत्साह और पीछे से मंदता यह रजोगुण और तमोगुण का मिश्रण है । तमोगुण की भूमिका और उस पर रजोगुण काम करता है । तुमने बचपन से अब तक की उस प्रकार की आदत जो लिखी है, वह आदत यदि एक ही प्रकार का कहीं कुछ करने का बतलायेंगे तो उसमें भी तुम लिखती हो कि वैसा ही होगा, हम तो कहते हैं कि सतत एक-सा गंगा के प्रवाह जैसा मीठा, मधुर, नामस्मरण रुके बिना किये जा । वह एक ही करोगी तब भी चलेगा । फिर हमारा दोष न निकालना । सत्य बात तो यह है कि जीवनविकास की सच्ची पूरी तरह की लगनी लगी नहीं है ।

अपनी साधना पर ही आधार रखो

इस जीव के साथ अधिक स्थूल परिचय होने से जीवनविकास के प्रति उत्कट जिज्ञासा जागे वैसा मानना यह भी ठीक नहीं है । हाँ, इतना सही कि इस **जीवात्मा** के प्रति अधिक राग हो और इस तरह कुछ

आकर्षण नढ़े । हमें घबराने का कोई कारण नहीं है । जो कुछ हो उसे किया करें और अधिक से अधिक जागृत, सचेतन रहने को मथा करें, और भगवान को प्रार्थना-भाव से जो जो कुछ करें उसका आत्मनिवेदन किया करें । उसकी कृपामदद के लिए बारंबार प्रेमभक्तिभाव से प्रार्थना किया करें । मोह, ईर्ष्या, डाह, क्रोध, मैंपन आदि हो सके उतना कम करते जाय । इतना यदि भान रखें तो धीरे धीरे सब राग में पड़ता जाएगा । बाकी, **एक में अनंत हैं और अनंत में एक है । हम अनंत में बाहर बँट गये हैं । उसमें से पराङ्गमुख होना यानी कि अनंत में से एक हमें बनना है ।** इसलिए अनंत साधन हो तो उसके द्वारा भी एक हों । जहाँ-जहाँ वृत्ति बहिर्मुख हो, वहाँ चेता करें और उसे बटोरकर समेंटे । उसे अंतर में मोड़ने का प्रयत्न करें । ऐसा सजग चेतनावाला प्रयत्न हुआ करे तो वैसे अभ्यास में से भी हम में प्राण आते हैं । क्रोध होता है तो उसकी निशानी होती है । स्वप्नें आते हैं तो उसकी निशानी होती है । भावना होती है तब भी उसकी निशानी होती है । तो क्या हम मनहृदय से एकाग्र भाव से यदि साधना करेंगे तो उसकी निशानी क्यों नहीं होगी ? इसका ख्याल करना ।

● ● ●

अंतर की भावना स्थान को पवित्र करेगी

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. ३०-७-१९५१

हरिजन आश्रम में जाकर परस्पर सत्संग हो वह उत्तम बात है । वहाँ अन्य यहाँ वहाँ की बातों में समय न बिताये यही योग्य है । **जिस स्थान पर जाते हों और वहाँ से कुछ लेने की इच्छा हृदय में हो या रहे, उस स्थान विषयक भावना हृदय में तीर्थ जितनी प्रेमभक्तिवाली हो जाती है, तो उस स्थान पर कोई चिड़िया न हो, तब भी वहाँ से हमें प्रेरणा-संदेश मिल सकता है, ऐसा इस *जीव* का अनुभव है ।** नडियाद में जिस स्थान पर मेरे गुरुमहाराज के साथ रहना हुआ था, उस स्थान को अब भी उसी भाव से देखा करता हूँ । साधनाकाल में वहाँ अनेकबार जाता, उनका प्रार्थनाभाव से स्मरण करता और जो कहना होता वह कहता । तीर्थ

की पवित्रता और भावना हमारे हृदय में उसे उठाव दें ऐसी हो सके तो वहाँ लेनदेन हो सकती है ऐसा भी अनुभव है । इसलिए तुम्हें हरिजन आश्रम में जाने का मन होता है, यह तो उत्तम बात है, परन्तु उसके साथ साथ ऊपर कहा वैसा ज्ञानपूर्वक की उस विषयक हमारी भावना जीवित हो, वह विशेष जरूरी है, तभी कुछ ठीक लाभ मिल सकेगा ।

सद्‌गुरु के आगे संपूर्ण निखालिस रहें

मेरी ओर से तुम्हें भय रहता है, उसका कारण समझ नहीं आता । मैंने ऊँची आवाज से कुछ कहा भी नहीं है, परन्तु भविष्य में नहीं कहूँगा ऐसा नियम भी नहीं है । जो संसारी भाव जागता है, उसका कारण उस उस प्रकार के अनुभवों की समझ संस्कार रूप में पड़ गयी होती है इससे जागती है । प्रेम में एक प्रकार का भय रहा है यह सही है, परंतु भय के भाव मन में से निकल जाना चाहिए, तभी अधिक निखालिस हो सकते हैं । अभी तो कितना ही ऐसा पड़ा होगा कि जो कहना बाकी होगा ! हृदय के मध्य बिन्दु में जो कुछ है वह है सही, परंतु उसका व्यक्त होना ऐसे ही नहीं हो पाता । वह तो अमुक प्रकार का निमित्त बने तब ही व्यक्त होता है । एक प्रकार का भक्त निमित्त बनते या जागते प्रभु को प्रार्थना करे और दूसरे प्रकार का भक्त सदा ही प्रभु के भाव में रहे, निमित्त हो या न हो तब भी । मन में जो कोई भाव जागे उसे वैसे के वैसे आकार में मेरे आगे रख देने में तुम्हें किसी प्रकार का संकोच अनुभव नहीं होना चाहिए । वह भाव फिर भले न अच्छे से अच्छा हो या खराब से खराब हो तब भी । यदि तुम ऐसा करती हो जाओगी और इस तरह यदि तुम निखालिस होती जाओगी, तब तुम्हारा बहुत-सा भार हलका हो जाएगा । जीवन में कोई सच्चा स्वजन मिला है, उसका तुम्हें सच्चा पूरा अनुभव उस समय होगा ।

मन की चालबाजी पहचानो

मन के खेलों को हमें पूरी तरह जाहिर करना है । उसे हम सतत देखा करते हैं, उसके हावभाव समझ सकें ऐसा जब उसे लगता है, उसके

बाद ही वह अनेक सूक्ष्म रूप से दूसरे हथकंडे अपनाता है और वैसी उसकी चालबाजी हम यदि संपूर्ण अंतरस्थ तटस्थ हुए हों तो ही परख सकते हैं । जीवन में जो समझ की कक्षा, माप, मान्यताएँ रही हैं तो ही वही मात्र सत्य है और उसके द्वारा ही जो तो कुछ समझना है, ऐसा हमें मानना नहीं है । जो जो कुछ है, वह वह और वैसा वैसा सब हमारी अपनी दशा के कारण वैसा है ।

बाद में स्वतंत्र प्रभुदर्शन होंगे

बाकी तो अपनी **जीव**प्रकार की मनोमय भूमिका बदलते प्रकृति को प्रकृति की तरह भले देखे, तथापि उसके पीछे का संचार श्रीप्रभु का है, वह भी उस समय हम से अनुभव करना हो सकेगा । ऐसा होने से सभी किसी की प्रकृति को जानने से, उसे उस प्रकार से दोष में डालना हम से नहीं हो सकेगा । इस प्रकार, यदि हम अपनी प्रकृति को योग्य रूप से मठारेंगे और अपनी भावना को इस तरह उसकी उत्कटता में प्रकटाकर प्रत्येक कर्म में उसका ज्ञान रखेंगे तो उसके प्रभुपन में हमारा कर्म पनपने लगेगा ।

स्वयं को प्रभु के हाथ में रखो

हमारे **जीव**पन में अहंता प्रधानरूप से व्याप्त है और वह अहंता है भी क्या ? यह अहंता भी चेतन की निम्न कोटि का प्रकारान्तर है । यानी कि उस अहंता में हम चेतन का भान रखें तो वह अहंता कम होगी । बारंबार प्रभु को प्रार्थना किया करें और वही हमारा सहायक और तारणहार है, ऐसी भावना रखके प्रभु हमें जीवन के सभी प्रसंगों में मार्गदर्शन करें इस तरह हमें अपने को उनके हाथ में रख देना है । सचमुच तो सतत एक-सा श्रीभगवान की भावना से हमारा मन रंगा हुआ रहे वैसे कोई न कोई उपाय हमारी बुद्धि से खोज-खोजकर उन उपायों के प्रयोग हमें करते रहना चाहिए । हमारा यह आध्यात्मिक क्षेत्र, यह सबसे बड़ा आविष्कार का क्षेत्र है । उसमें इस मार्ग के अलग-अलग प्रयोग ज्ञानभक्तिपूर्वक यदि हम करते न रहें तो ऊपर नहीं आ पायेंगे । '**मोटा**

सलामत स्थिति में नहीं पड़े रहने देंगे' यह भावना रखनी वह एक बात है और वैसा होने के लिए उलटीसूलटी परिस्थिति में वह हमें रख दें उस समय ऊपर अनुसार भान हम में जागृत रह सके यह दूसरी बात है। नींद में बिछौने पर साप हो और उसका भान यदि न हो तो उस पर आराम से करवट भी लें सकते हैं, परंतु उसका भान होते ही एकदम चौंककर घबराकर उठ जाते हैं और चीखने लगते हैं, उसी तरह हमारी चोट श्रीगुरु के हृदय में केन्द्रस्थान पर लगने लगे तब तो कुछ पकने लगेगा।

• • •

प्रगति का आधार उत्कटता की मात्रा पर है

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. ३१-७-१९५१

कोई भी आदत हमेशा ही रहेगी ऐसा तो कैसे कह सकते हैं ? हमें जो कुछ निकालना है, वह यदि हृदय में सचमुच चुभे और उसके विषय में दर्द हो, तो वह जरूर निकल सकता है। बिच्छू ने काँटा हो तो कुछ खाना अच्छा लगता है ? अथवा पेट में मरोड़ आती हो और मनपसंद खाना सामने पड़ा हो, तो उस समय मुँह में पानी नहीं आता है। उस तरह जब **जीव**स्वभाव की रुचि पलट जाय और हमारा मन और प्राण अंतर्मुख की ओर मुड़ जाय या मुड़ना चाहे या करें, हमारी बुद्धि सद् का ही विचार करें और इस तरह अहंता हमारी पिघलने लगे, उस समय **जीव**स्वभाव का कुछ नहीं चलेता। इसलिए ऐसी उत्कट जिज्ञासा हो, उसके लिए हमें जागृतिपूर्वक निरन्तर प्रयास किया करना है। लगे रहने में ही सार है। इसमें नुकसान तो किसी तरह का है ही नहीं। अंत में लाभ ही होगा। हिरन की गति से हो या कछुए की गति से, यह तो जैसी और जितने प्रकार की उत्कटता उस अनुसार होगा। **जीव** अनेक प्रयत्न करता है और **जीव** को अति राग अनेक जगह होता है, उससे अच्छा इसमें राग हो तो अति उत्तम।

अभ्यास का महत्त्व

यह मार्ग है अथक मेहनत का और वह मेहनत भी प्रेमज्ञानभक्ति से की हो उतनी उत्तम। अर्जुन, श्रीकृष्ण भगवान से पूछते हैं कि 'वायु

को रोकना हो तो अभी शायद सुलभ हो जाय, पर इस मन को रोकना हो तो इससे भी कठित है। तो इसे कैसे रोकें ?' गीता में श्रीकृष्ण भगवान उसे उत्तर देते हैं कि, 'अभ्यास और वैराग्य, इनके द्वारा मन को ठिकाने लाया जा सकता है। वैराग्य बिना का अभ्यास हो, तब भी अभ्यास होते होते वैराग्य आ जाता है। वैराग्य की भूमिका दृढ़ होते होते अभ्यास में चेतन प्रकट होता है। इससे अभ्यास यह एक विशेष चाबी है। जो वस्तु को सीखना है, उसका पक्का अभ्यास हो, तो ही आएगा। सीखा हुआ भी अभ्यास के बिना भूल जाते हैं। अभ्यास होगा तभी पक्का रहेगा। इसलिए साधक को अभ्यास पर सतत लगे रहना चाहिए। इसलिए उसमें ही मन को लगाकर रखें। मन छूट जाय तो बारबार पकड़कर उसे लीक पर रखें। ऐसा करते-करते प्रभुकृपा से समझ आ जाएगी। यह पथ धीरजवालों के लिए है। इसके साथ ही हृदयपूर्वक की इस मार्ग के प्रति अधीराई भी आवश्यक है। अधीराई हो और वह उत्कट प्रकार की हो तो वह वहाँ गति करवाती है।

● ● ●

तामसी के लक्षण

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. ३-८-१९५१

'आराम आलस का, तामसी मृत्यु से भरा,
ऐसा आराम सर्जे क्या ? मोहनिद्रा से जो भरा।'

जिस **जीव** की प्रकृति में निपट तामस हो, वह किसी प्रकार के क्षेत्र में कोई प्रगति नहीं कर सकता है। प्रकृति के तीन गुणों में से एक गुण तामस है, वह अकर्मण्य है। फिर, तामस में 'मोहनिद्रा' है। यानी की मोह के आवरण से अपरंपार हम घिर गये होते हैं। तामसी **जीव** कोई गति नहीं कर सकता। शायद कोई बार शेखचिल्ली के विचार करें पर फिर जहाँ थे वहाँ। उसके निश्चय में मरजिया निर्धार नहीं हो सकता। निश्चय किया जैसा लगे सही, परंतु निश्चय हुआ ही न हो, तथापि हमें वैसा वह लगाये। तामस का गुण **जीव** को सलामत स्थिति में रखा करें। जीवन की महत्त्वाकांक्षा को ऊपर आने ही न दे। तामस में असंतोष

न हो ऐसा नहीं है। तामस की भूमिका पर का असंतोष मानव को अधिक कायर और निर्बल बनाता है । उसके हाथ नीचे गिरा देता है । दृष्टि आकाशगामी न होकर अधोगामी रहा करती है। तामस के गुण से उत्पादन नहीं हो सकता । तामसी आरामप्रिय है, इससे ऐसे आराम में से कोई उत्तम प्रकार का सर्जन होना संभव नहीं है। तुम में इतना तामस है ऐसा नहीं है ।

तामस और रजोगुण

तामस की भूमिका पर रजोगुण काम करता है और रजोगुण की भूमिका पर तामस काम करता हो, इन दोनों के परिणाम भिन्न-भिन्न होते हैं। तामस के साथ रजोगुण हो तो बारंबार प्रयत्न करवायेगा, उठने का करायेगा, पर फिर असल ठिकाने पर लाकर रख दे और रजस की भूमिका पर तामस का गुण हो तो प्रयत्न होता रहेगा, पर उसमें मंदता, निरुत्साह हो और महत्त्वाकांक्षा के लिए जो उत्साह उँडेलाया करे उसका बारंबार विघटन हुआ करेगा । प्रयत्न करने पर भी वह चढ़े और गिरे । साधक के लिए तो सात्त्विक भूमिका पर रजोगुण हो तो वह उत्तम, परंतु हम जो करना चाहते हैं, वह कितना भी कठिन क्यों न हो तो क्या हुआ ? जो करना है वह किया ही करें । पीछे पड़ रहे हैं या आगे जा रहे हैं, उसे अधिक महत्त्व न दें और जो किया करना है, उसी पर चिपककर रहा करें तो ऐसी भावना से हुआ पुरुषार्थ प्रकृति के गुण की भूमिका को भी बदल सकता है ।

सुमेल लाओ

...बहन के साथ का प्रकरण तुमने पत्र में विस्तार से लिखा है, वह जाना है। यदि सभी के साथ सुमेल हो सकता है तो वहाँ क्यों नहीं हो सकता ? उसके साथ अच्छी तरह बर्ताव करें और बोलें चलें तथा अपने मन के साथ गाँठ बांधे तो फिर उसका तो मेल बैठ जाएगा। यहाँ 'गाँठ बाँधे' का अर्थ उसके प्रति अपने सुमेल के भाव को अधिक जीवंत करें ऐसा है ।

फोटो के बदले भाव का आसरा लो

ध्यान विषयक तुम्हारे सभी विवरण जाने। नाक की नोक पर दृष्टि को एकाग्र करके भी ध्यान हो सकता है, परंतु उससे अच्छा पौना घण्टे आँख बंद करके विचार जो आये उसमे शृंखला जोड़ें बिना आगे बढ़ा करें ऐसी तटस्थता की वृत्ति पहले तो ठीक से करें। मेरे पास या.... भाई के पास मेरा फोटो नहीं है यह जानना। इससे अच्छा तुम्हारे हृदय में इस **जीव** में जो कुछ हो, उसकी भावना उद्दीपन करके बंद आँखो से उसे सामने रखें और लायें। उसमें मन पिरोकर रखें और इस तरह वहाँ भावो-द्रेक हो उस तरह स्थिरता लाया करें।

शरीर की सँभाल पूरी रखें, परन्तु उसकी कोई चिंता न करें। हरिजन आश्रम में जाकर एक घण्टे जप में बैठी यह बहुत अच्छी बात हुई। जब जब मन में उद्विग्नता हो, तब वैसा जरूर करें। आश्रम में गये बिना घर पर भी वैसा कर सकते हैं। स्थूल फोटो से सूक्ष्म रूप से हृदय में प्रेमभक्ति प्रकटकर हमारे सामने उस फोटो को लाना यह उत्तम तरीका है।

हर स्थिति में हो सके उतना निश्चित रहने की शिक्षा लेना जरूरी है। हमारी स्वस्थता डिग न जाय और मन में संताप न हो वह हमेशा देखते रहना है।

● ● ●

महत्त्व का हो उसी से लगाव रखें

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. ६-८-१९५१

जो भी परिस्थिति आ मिले उसमें शांति, धीरज रख सकते हैं, उस तरह जीने में जीवन का उपयोग है, वैसा जानें। हम सब जहाँ तक **जीव** की कक्षा में हैं, वहाँ तक उस भूमिका की कोई भी भावना चेतन की अपेक्षा से यथार्थतावाली नहीं होती है। किसी के प्रति हमारा राग हो या मोह हो, बैर हो या गुस्सा हो, तो वह उसी स्थिति में पड़े नहीं रह सकते हैं। एक के प्रति का राग, राग के रूप में पूरी तरह टिकता नहीं है।

इसलिए जैसा हो सके वैसी लौकिक दृष्टि में जिस तरह मन की शांति टूटे नहीं, उस तरह सोचना श्रेयस्कर है। हमारे लिए महत्त्व का क्या है उसे ख्याल में रखना है। महत्त्व को पकड़कर दूसरा जो जो कुछ हो उसे जाने दें। किसी भी बात को मन में पकड़कर न रखें। कोई भी मन का झुकाव आये कि उसे शीघ्रता से गुजर जाने दे और हमें तो अपने काम में ही खुश रहा करना है।

● ● ●

प्रकृति का वर्चस्व जीतने का उपाय

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. ९-८-१९५१

तुमने लिखा यथार्थ और उन प्रसंगों का विवरण भी जाना। हम में क्या क्या भरा है, वह **जीव**स्वभाव के ढंग से भी पूरी तरह हम नहीं जान सकते हैं। जो कुछ पड़ा हो या पलटे उस समय भी अनेक **जीवों** को तो उसका पता ही नहीं चलता है। जिस **जीव** को पता चलता है, वैसा **जीव** जागृतिपूर्वक प्रयत्न उस समय करे तो उसमें से उबर भी सकता है। अपने **जीव**स्वभाव में और अपनी प्रकृति में कैसे-कैसे भाव और घुमाव पड़े हैं, उसकी ही जहाँ हमें पूरी जानकारी नहीं होती है, वहाँ हमारी चैतन्यता के विषय में तो पूछना ही क्या ? जिस वस्तु से हमें निर्मूल होना है, उस वस्तु से डरकर या घबराकर कुछ नहीं होगा, अथवा तो उस वस्तु के साथ मिलने से भी कुछ नहीं होगा, पर उसका तो युद्ध कर करके सामना करना ही होगा। **विकार या वासना को दबाने से कुछ देर शांत हो ऐसा लगे, पर दुबारा वह उछलकर आता है। इसलिए विकार और वासना को शमन करने का उत्तम उपाय तो मन को किसी उत्तम विचार की धुन लगे और मन उसमें लगा रहे वैसा हो सकता है अथवा तो मानसिक रूप से जो जो वृत्ति, विचार या भावना उठे और उस समय श्रीभगवान के चरणकमल में ज्ञानभक्तिपूर्वक समर्पण कर देने की कला यदि हमें प्राप्त हो, तब भी मन उसमें से हट जाएगा।**

हमारे अपने में जिस जिस समय वैसी वृत्ति, वासना, विकार आदि प्रज्वलित हो, उस उस समय यदि हम उसका जागृत ख्याल रखा करें और

उसके सामने यदि युद्ध करने का हो, तब भी कुछ हासिल होगा सही, अथवा तो जो कोई उच्चात्मा हो और उसके चेतनपन का अनुभव से हमें दृढ़ भरोसा हो गया हो और जिसके विषय में मन में किसी भी प्रकार की ऐसी वैसी डगमगाहट न हो और सच में प्रेमभक्ति ह्रदय की जागी हो, तो उसे अपना ऐसा सब जिस-जिस समय उगे, उस-उस समय यदि दिया करें, तो लाभ होते अनुभव होगा, क्योंकि सर्जन होना प्रकृति का एक मुख्य अंग है, इसलिए सर्जन हेतु की जो वृत्ति है, वह सदा कायम रहती है ।

वृत्ति पलटे, पर नाश न हो

फिर, एक अनंत के साथ संलग्न रहता है और हम एक होने पर भी अनेकों के साथ संलग्न हैं । इसलिए उस तरह संलग्न होने के लिए जो जो वृत्ति और जैसी-जैसी वृत्ति की जरूरत होती है, वह भी सभी रहा करती है । इससे उसका नाश कभी नहीं हो सकता । जगत में किसी का भी नाश नहीं है । मात्र अदला-बदली हो सकती है । **इसलिए सजाग रहना यह तो साधक का सर्वप्रथम कर्तव्य है । जागृति के बिना साधना में एक कदम भी आगे नहीं भर सकते हैं ।**

वृत्ति को जीतने का तरीका

तुम्हारे में यह वस्तु है, उसमें कोई तेरा दोष नहीं है । शरीर की यह तो एक प्रकार की भूख है, परन्तु उस भूख के भाव को किसी रचनात्मक मार्ग में लगनी लग जाये और उस मार्ग पर मोड़ सके, तो काम उत्तम तरीके से होगा । बाकी, संसारव्यवहार में रहना और दूसरे **जीव** जैसे रहते हो वैसे रहना हुआ करे तो यह वृत्ति, वासना और अन्य विचारों को रोक सके ऐसी बात नहीं है । समाज के इस बात के विषय में कुछंद को ठीक से कोई जान सके वैसा नहीं है । इसकी तो अटपटी बातें होती है, परंतु हमे घबराने की जरूरत नहीं है । तुम्हें इस पत्र में रास्तें बतलाये हैं ।

साधना के दौरान वृत्तियाँ जबरदस्त हमला करती है

अभी तो वह राक्षस नहीं जैसा ही दिखाई दिया है। बाकी, सचमुच तो जब उसके सत्य स्वरूप में दिखाई दे, तो क्या क्या हो वह झेला जाना भी दुर्लभ है । उसके हूबहू नृत्य, दृश्य ऐसे तो बदलते बदलते रूप लेते हैं कि न पूछो बात । एक **जीव** ने उस बारे में मुझे सब लिखा है । मौनएकांत के यज्ञ में किसी किसी **जीव** को एकदम ज्वालामुखी की तरह उत्कटता से कोई वृत्ति का हमला जबरदस्त होता है। ऐसे हमले का वर्तन तुम्हें करना वह गलत है, परन्तु उस समय मनुष्य का जोर चलता नहीं है, परंतु यदि वह गुरु में रहे चेतन को उस समय प्रेमभक्तिपूर्वक पुकार करता है, तो उसको मदद प्राप्त होती हुई अनुभव होता है ।

तुम जैसी और वैसी हो तथा जितनी व जैसी व्यक्त हुई है, उतनी और वैसी है ऐसा कुछ भी नहीं है ।

चेतन की भूमिका ही मनुष्य को टिकाये

भगवान पर भरोसा रखकर उसका नामस्मरण कर-करके, बारंबार उसे पुकार देकर उसकी कृपामदद चाहा करें और उसकी प्रार्थना किया करें । जीवन में रचनात्मक गुण हम में सुदृढ़ हो यह तो आवश्यक है ही, पर उतने से पूरा नहीं होता है । सदाचार और नीति के नियम का जीवन और उसकी भूमिका से मनुष्य में ऐसे कोई आत्मविश्वास और निष्ठा नहीं पैदा हो जाते कि जो उसके जीवन की नाजुक पल में उसे सीधा खड़ा रख सके । कोई एक गुण की जीवन में विशिष्ट प्रकार से उत्तमता विकसित हुई हो । उदाहरण - शूरवीरता का गुण मूल से ही प्रकृति में हो तो सामने छाती पर गोली लगते ही वह तब सीधा खड़ा रह सके ऐसा होता है । इसलिए मुझे कहना तो ऐसा है कि इस तरह सदाचार और नीति की भूमिका में रहने के अलावा यदि चेतन की भूमिका में **जीव** की निष्ठा जन्म ले तो वैसा **जीव** सर्व कोई संयोगों में सीधा खड़ा रह सकता है ।

• • •

स्वप्न में से अधिक समझ में आएगा

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. ११-८-१९५१

तुम्हें आया स्वप्न रहस्यवाला है और उसमें घटना रही हुई है । प्रत्येक **जीव** में अच्छापन और बुरापन ऐसे दोनों रहे हुए होते हैं । तेरे स्वप्न में तो अच्छी 'तुम' और दूसरी 'तुम' पर प्रतिस्पर्धा भुगती है, ऐसा उसमें रहस्य है । प्रभुकृपा से वह सत्य साबित हो ऐसी हम प्रार्थना करें ।

सच्ची भावना क्या न करे ?

...बहन की सच्चाई जानी । मन में यदि उसके साथ सुमेल करना ही है ऐसी दृढ़ भावना और समझ हो तो फिर उसके साथ ठीक होने में देर नहीं लगेगी । ज्ञानपूर्वक समर्पण करने से आनंद मिलता है ऐसा उसके साथ का तुझे हुआ अनुभव आध्यात्मिक मार्ग में समर्पण करते तुम्हें सिखाये और उसमें से आनंद पाने का प्रसंग प्राप्त हो तो अति कमा गये गिनायेंगे । इस बारे में जरूर प्रेमभक्ति और ज्ञानपूर्वक प्रयोग करते रहना चाहिए ।

'अनुभव' हमारा गुरु

समर्पण किया उसका नाम कि यदि सही रूप से हुआ हो तो जिस बात का समर्पण किया हो, वह फिर से हमारे में **जीव**स्वभाव की कक्षा में या **जीव**स्वभाव की तरह उगे नहीं । समर्पण के यज्ञ का आनंद यदि एक बार सच में और पूरी तरह हृदय से अनुभव हुआ हो तो उस यज्ञ में खूबी और रहस्य तथा महत्त्व आध्यात्मिक मार्ग में कितने अधिक बड़े हैं, वह समझ आ जायेगा । जो वस्तु हजार बार लिखे या समझ देने पर भी न हो सके वह ऐसे प्रकार के अनुभव में से प्राप्त हो जाता है, इससे अनुभव जैसा कोई सच्चा गुरु नहीं ऐसा ज्ञानी पुरुषों ने कहा है । जिसे जानना है, समझना है और अनुभव करना है, वह तो उसके अनुभव से परख सकते हैं । एक बार उसमें समझ आने लगी फिर यह तो गाड़ी चला

करती है । उसमें कितने कहते हैं कि उसमें मात्र कल्पना की तरंगे नहीं होती । कल्पना की तरंगे तो क्षणभर मन को उत्तेजना देकर शांत हो जाय और वह उत्तेजना शांत होने पर फिर मन विवश भी हो जाय, पर अनुभव में ऐसा नहीं होता ।

अनुभव में तो ठोस यथार्थ रहा हुआ है और सचोटता रही हुई है और वस्तु की तादृशता अनुभव में से अपनेआप आती है, इसलिए समर्पण के बारे में तुमने जो बात लिखी है, वह यदि करती रहे तो तुझे समझ आएगी । भाववाला **जीव** कहीं कुछ किसी बात में उसमें भावना एकदम उभर आये और उसमें बह भी जाय । उसके कारण उसे वैसा लगे पर अनुभव में मात्र केवल भावना होती नहीं है । उसके साथ मनोभाव, विचार, समझ की दृढ़ता और उसमें से प्रकट होता ज्ञान यह सब साथ-साथ होता है । इसलिए ही अनुभव को गुरु कहा गया है । अनुभव से जो सीखता रहता है और अनुभव से स्वयं जो खींचकर ऊपर लाता है, उसे कभी पीछे पड़ना नहीं होता । शंकाकुशंकाओं को वह अपने अनुभव के ज्ञान द्वारा हटा सकता है । एक अनुभव होते, उसमें से जो कुछ मिले उसके द्वारा उससे उच्चतम प्रकार के अनुभव में प्रवेश कर सकता है । ऐसा अनुभव का प्रदेश है । अनुभव हमारे स्थूल मन और इन्द्रियों को अंतर के चक्षु देता है और नये प्राण फूंककर नयी समझ देता है । हमारे भाव या कल्पना के प्रदेश को वह यथार्थ प्रदेश में ले जाता है और हमें नये जीवन की मात्र झाँकी करवाता है, इतना ही नहीं, पर उसके प्रति गति और प्रेरणा दोनों देता है और उत्साह का बल प्रेरित करता है ।

ज्ञानपूर्वक नमन का लाभ

समाज में महान आत्माओं के चरणस्पर्श की भावना और संस्कार आज भी प्रचलित है, पर उसके पीछे की मूल समझ आज जीवित नहीं है । इसलिए यह प्रथा गतानुगतिक और जड़ बन गयी है । इसलिए यह हमारे लिए त्याज्य होना चाहिए । ज्ञानपूर्वक का नमन और उसके साथ प्रेमभक्ति का संचार, वे हमारी भावना को उन्नत करते हैं ।

ज्ञानपूर्वक समर्पण किया करें

जिसे हम जीवन का सर्वस्व, स्वजन और सद्‌गुरु मानते हों, उसमें प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक की शरणागति हम में यदि प्रकट न हुई हो तो हम अपना अच्छा या खराब समर्पण पूरी तरह नहीं कर पाते हैं । मुनीम सेठ का अत्यधिक व्यापार करने पर भी, वह सारा विवरण किताब में लिखकर निश्चिंत हो जाता है । लाखों की उथलपुथल हुई होने पर भी उसे इससे कुछ भी लेनादेना नहीं होता है । ऐसी भावना यदि हमारी गुरु के प्रति हो जाय तो फिर आपत्ति नहीं है । तथापि हो सके उतनी प्रेमभक्ति से और ज्ञानपूर्वक, हम से जो कुछ अच्छा या बुरा बने, वह समर्पण किया करने का यज्ञ और वैसी भावना का अभ्यास हमें करते ही रहना है । ऐसा करते करते उसमें से सही समझ प्रकट होगी ।

सभी में सद्‌गुण ही देखें

यह लिखते समय... विषय में तुमने लिखा वह सब स्मृतिपट में ताजा हो रहा है । हमारे अंदर कई कई प्रकार का भरा पड़ा है, उसका पता हमें नहीं होता है और हम दूसरों पर टूट पड़ते हैं, यह ठीक नहीं है । मैं तो कहता हूँ कि अधम से अधम हो, तब भी उसे उस तरह हम न समझें । उसमें भी कोई सद् अंश रहा है । इसलिए किसी भी **जीव** के बारे में किसी प्रकार का अभिप्राय न बंध जाय वह हमारे लिए उत्तम हकीकत है । **जिस तरह जो कोई दिखे वह उसी तरह का है ऐसा हम कदापि न मानें** । किसी के बारे में उत्तम प्रकार का अभिप्राय हो जाय तो उसकी साधक के लिए आपत्ति नहीं । इसलिए हमें तो सभी में रहे सद्‌गुण को ही देखने का प्रयत्न करना है ।

गुरु बनाने का उद्देश्य

इस जीव के बारे में तुम्हें प्रेमभाव नहीं रहता उसके बारे में तो मैं क्या लिखूँ ? जिस **जीव** से हमें हृदय का सद्‌भावयुक्त आकर्षण और उसके द्वारा हमारे जीवन की उच्च प्रकार की महत्त्वाकांक्षा फलित होनेवाली है ऐसी हृदयपूर्वक की संपूर्ण विश्वसनीयता हुए बिना कैसा भी **जीव** हो भले

फिर वह महान गिनाता हो, उससे न जुड़ने में सार है। **उच्चात्मा का आश्रय जीवन के ऊर्ध्वीकरण के लिए है और वह भी साधनरूप है । सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्तम तो केवल श्रीभगवान ही है ।**

अनुभव से ही गुरु को परखें

इस जीव में प्रकृति की तरह तो अनेक प्रकार के दोष लगे, जिसे गिनाने पर पार आये ऐसा नहीं है । इसलिए हम अपनी बात क्या लिखें ? समझ और अधिक अनुभव से और वह अनुभव भी जब अंतर में जमे तब सही । इन सबसे जो समझ में आये वह सही । मैंने तुम्हें कभी नहीं कहा कि तुम्हें यह **जीव** का समागम करना चाहिए । तुम्हारे अपने में ऐसी भावना जागी थी । प्रेम यह तो अखंडित बहता समुद्र है। उसमें कोई त्रुटि नहीं होती और नहीं रहती है। ऐसा हृदय का प्रेमभाव हो, तब हमारे मन, बुद्धि, चित्त, प्राण, हृदय अपनेआप संलग्न रहते हैं और ऐसी भूमिका साधना में आगे बढ़ने पर कदम बढ़ाने के लिए योग्य भूमिका है ।

● ● ●

जागृत चेतन प्रकृतिवश होगा

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. १४-८-१९५१

'जहाँ तक हम सभी **जीव** की कक्षा में हैं, वहाँ तक उस भूमिका की कोई भी भावना चेतन की अपेक्षा यथार्थतावाली नहीं होती है ।' यह वाक्य तुम्हारी समझ में नहीं आया ऐसा तुमने लिखा है । **जीव** को जब चेतन का अनुभव होता है, तब उसमें रहा पुरुष जागृत हो जाता है । पुरुष के आधार द्वारा ही उसकी अनुमति से प्रकृति सारे काम करती होती है । पुरुष निष्क्रिय है सही और बिलकुल पीछे रहता है, परंतु चेतन की दशा में पुरुष सभान और पूरी तरह जागृत होता है, उसमें उस समय साक्षीपन, समता, ताटस्थ्य आदि गुण जीवित होते हैं । इतना ही नहीं, परंतु उस तरह से काम करते हो गये होते हैं । इससे प्रकृति और उसके तीन गुण और इन्द्रियों अपने-अपने विषय में जैसे व्याप्त हो, उसके साथ वह

खेल नहीं खेलता, वह स्वयं साक्षीरूप रहता है । अपनी संमति की मुहर कहाँ देनी है और कहाँ नहीं देनी है, उसका उसे ज्ञान संपादन हुआ होता है, जब हमारे में ऐसा नहीं होता है । हम जहाँ तक **जीव**दशा में हैं, वहाँ तक हम में जो कुछ उत्तम में उत्तम हो, वह भी चेतन की अपेक्षा योग्य नहीं है । चेतन की अपेक्षा यानी चेतनपन के अनुभव के अथवा तो उसकी समझ के प्रमाण में । **जीव**दशा में जो जो कोई वृत्ति, भावना हो और वह उत्तम प्रकार की हो, तथापि वह बंधनकारक है । उदाहरण - पुण्य हो तो वह भी बंधनकर्ता है ।

पुस्तकों का पारायण करें

हमारी प्रकाशित पुस्तकें तुम्हें एक-एक लेकर बारी-बारी पढ़ते रहना है । एक पूरा हो कि दूसरा लें । अनुक्रम से ऐसे सभी पुस्तकों को पढ़ लेना और वह सभी पूरी होने के बाद फिर से प्रारंभ करना । यह कार्यक्रम दैनिक रखना । ऐसा करते-करते दूसरा आध्यात्मिक साहित्य भी समझ में आने लगेगा । मेरे लेख में (क्योंकि मुझे आध्यात्मिक साहित्य के शास्त्रीय शब्दों की जानकारी नहीं थी और नहीं है ।) सीधासादा लेख है । जिसका थोड़ा भी **इस** मार्ग में प्रवेश हो, उसे वह समझ में आये वैसा है ।

'प्रेमगाथा' पुस्तक के ९१ पेज पर का 'प्रेमपुकार' की कविता पढ़कर समझना और 'सत्संदेश' के जुलाई अंक में पेज ४८ पर 'सच्चा प्रेम', 'प्रेमगाथा' का छपा है, वह तो तुम्हारे पढ़ने में आया होगा ।

● ● ●

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. १६-८-१९५१

'तुम ज्यों व जैसी है और जितनी व ज्यों
व्यक्त हुई है उतनी व त्यों है ऐसा कुछ भी नहीं ।'

इस वाक्य का अर्थ यदि समझना चाहें तो समझ सकें वैसा है । तुम जो समझी हो, वह लिखकर बतलाना ।

किस तरह का स्पर्श पावनकारी है

'स्पर्श से भड़कने की जरूरत नहीं है।' इस बारे में जो पत्र लिखा था, उस पत्र का मर्म तुम ठीक से समझ नहीं सकी है। स्पर्श के भी प्रकार होते हैं। जिस स्पर्श की अंतरतम भूमिका में प्रेमभक्ति है, ज्ञान है, ज्ञानयुक्त समझ है और जिसके पीछे जीवनहेतु के विकास का जीता-जागता ख्याल है, वह स्पर्श पावनकारी है।

जीवनहेतु के भान से लाभ

हमारा प्रत्येक कर्म और जीवन के वर्तनव्यवहार हमारे जीवनहेतु को फलित करने के लिए हैं। इस तरह हम अपने जीवन में का जो कुछ बने या हो, उसे समझ-समझकर उस उस काल में हृदय में भावना प्रेरित कर समझें और उसमें से तारना किया करे, तो हमारी समझ हमारे मार्ग के अनुकूल होनेवाली हो जाएगी। हृदय की भावना, प्राण की भावना, मन का विश्राम-स्थान और बुद्धि की समझ तथा अहम् की गति और सहानुभूतियुक्त प्रेरणा, इन सबसे हम कहाँ जा रहे हैं, उसका यदि स्पष्ट विवरणयुक्त योग्य भान जागता रहे, तो जिस तिस में से वापिस फिरने या खड़े होते या आगे चलते हमें कोई धकेलता हो वैसा अनुभव हुआ करता है।

गुरुचेतना का भान तारनेवाला है

बालक जब चलना सीखता है, तब उसकी प्रकृति में उसे कोई देखनेवाला है, सुननेवाला है, ऐसा सूक्ष्म सहारा और उसकी उष्मा उसे रहा करती ही है। उसके आधार पर वह हिंमत और साहस किया ही करता है। उसके ऐसा करने से उसके पड़ने-ठोकरें खाने में उसे छाती से लगाकर चूमनेवाला कोई है, ऐसा उसे जागृत भान भी रहता है, और ऐसा होने पर वह रोकर माँ को पुकारता है। माँ की नजर बालक में ही रहा करती है। वह कितने भी काम में डूबी हो, तब भी उसका मन बालक में रहा करता है। वह चलना सीखने लगता है, तब उसके सीखने के बाद, वह बाहर यहाँ-वहाँ न चला जाय उसका ख्याल भी माँ को

जागृत रहता है और बारबार उसकी खबर लेती रहती है । हमारे जीवन में भी हमारे पीछे ऐसा कोई है, ऐसा प्रेमभक्तिपूर्वक का भान यदि हमें हो जाय तो हमारी अद्योगति, भटकती दशा में हम से अपनेआप आवाज निकलेगी और ऐसे समय में उसका अनुभव भी हमें होगा ।

अनुभव से दृढ़ ज्ञान

अनुभव बिना की समझ कितने भी ऊँचे प्रकार की हो, तब भी वह कभी इन्द्रियों के चलन व्यवहार में उस उस समय हमें उपयोग में नहीं आती है। अनुभव का ज्ञान कोरा नहीं होता है। वह तो चलता सिक्का है। अनुभव से किसी जीवात्मा के बारे में हमें जो समझ पड़ी है, उसके विरुद्ध कोई भी कितना हमें कहें, तब भी हम तो कहेंगे कि 'भाई ! मुझे तो इस तरह का अनुभव है, तुम बतलाते हो उस तरह का नहीं है । तुम कहते हो वैसा अनुभव यदि हो तो वैसा मानने का होगा ।' जीवन के सभी वर्तनव्यवहार में भी इन्द्रियों को जिस जिस प्रकार के जो जो अनुभव हुए हैं, उस उस तरह की समझ उसे रहा करती है ।

बुद्धि को अनुभव का आधार

यद्यपि इसके अलावा भी हमारी बुद्धि कुछ विशेष आगे जा सकती है सही और पड़े हुए अनुभव में से समझ तारकर उसका निरीक्षण कर उससे आगे भी बुद्धि जा सकती है, परंतु बुद्धि को भी अनुभव के आधार की जरूरत रहती है। आगे कूदना हो तो पैर को ठोस भूमिका का जोर-से ठेका देकर कूदना पड़ता है। ऐसी ठोस भूमिका का आधार वह अनुभव करता है। मननचिंतवन यदि हुआ करे तो बुद्धि अनुभव की ठोस भूमिका पर ठीका मारकर आगे जाने को हमें प्रेरित करती है। समज-समज के भी प्रकार होते हैं । जो समझ हमें उच्च दिशा में ले जाय, वह समझ केवल मात्र बुद्धि की नहीं होती । बुद्धि उच्च दशा का सोच सकती है, पर वहाँ स्थिर नहीं रह सकती है। उसकी उड़ान कोरी-कोरी होती है। बुद्धि मदद करती है सही, पर वह अनुभव के बल पर। अनुभव के बिना वह सूक्ष्म और तीक्ष्ण नहीं हो सकती है। **आध्यात्मिक मार्ग में अनुभव**

जैसा दूसरा कोई गुरु नहीं है । इसलिए हमें तो अनुभव को ही गुरु समझना है ।

हार, जीत की सीढ़ी है

जीवन में जो कोई प्रसंग बनते हैं, वे बेकार नहीं होते, परंतु उत्कट जिज्ञासावाले जीवात्मा को और समझना चाहते जीवात्मा को उसे ऊपर उठाने के लिए वे काम के हैं । हनुमानकूद यानी की लंबा कूदना होता है, तब पीछे हटकर जोर से कूदना होता है, वैसा पीछे हटना यह जरूरी होता है । तभी आगे कूदने में वह जोश देनेवाला होता है । उसी तरह जीवन में आते ऐसे पीछे हटने के प्रसंग भी आगे कूदने के लिए मिलते जाते हैं । हनुमानकूद के लिए पीछे खिसकने का कदम यह हमारा ज्ञानपूर्वक का है और वैसा करेंगे तभी माना हुआ कूद सकते हैं, ऐसे अनुभव का उसमें ख्याल होता है, पर संसारव्यवहार में तो पीछे जाते हुए वैसा जीताजागता ख्याल नहीं होता या रहता नहीं है । यह एक सबसे बड़ी कमी है । इसलिए यह कमी हमें प्रभुकृपा से निवारण करनी है ।

● ● ●

किसी के बारे में मत न बाँधो

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. १९-८-१९५१

किसी भी **जीव** की समझ, आदत, मत, अभिप्राय आदि निश्चित एक ही प्रकार के हमेशा रहे ऐसा होता नहीं है । आज एक प्रकार के हो तो कल दूसरे प्रकार के हो । मानव स्वयं इतना अधिक बदलता रहता है कि फिर भी स्वयं बदलाता नहीं है और एक का एक हो या रहा करता होता है वैसा उसे लगता है । इसलिए ...विषयक तुम्हारा मत बदला है तुम लिखकर बता रही हो यह अच्छी बात है, पर सचमुच तो हम किसी पर भी अपना आक्षेपकारक भाव न हो जाय और संभव हो उतनी भावात्मक तटस्थता बनी रहे, तभी उस साधक के लिए योग्य वर्तन गिना जाएगा । एक समय किसी के बारे में कुछ अभिप्राय बना लें और फिर

उसे फेरें उसमें कोई अधिक महत्ता नहीं है । सही महत्ता तो मत न बाँधने में रही है और वैसी भावना जीवन में आये और कुछ भी किसी पर जल्दी से मन अभिप्राय न दे दे, इसके लिए कुछ कुछ प्रयोग गुरुमहाराज हमारे जैसे नादान से करवाते ।

यह प्रयोग है ऐसा वे कुछ कहते न थे, परंतु ऐसी कितनी ही कठिन परीक्षाओं में और प्रसंगों में वे हमें रख दे । प्रभु की कृपा, जीवनध्येय के बारे में हृदय की आतुरता और श्रीगुरुमहाराज के प्रसाद से उस प्रकार की सावधानीयुक्त जागृति, ऐसे त्रिवेणीसंगम से उस विषय में थोड़ा बहुत भान रहा करता । बाकी तो वहाँ हमारा सामर्थ्य नहीं होता । हीरा तौलने के काँटे पर एक तरफ एक छोटी सी कीड़ी हो तो उसका भी वजन परखा जाता है तो मन का तुला-काँटा तो उससे तो कहीं अनेक गुना सूक्ष्म है । इससे वह तो वैसी स्थिति में पड़ते ही शीघ्र से उसके प्रति आकार लेने लगता है । इससे सचमुच देखें तो मनुष्य के मन के एक समय पर हुए विचार या दूसरे समय पर हुए विचार पर अधिक मदार देने जैसा नहीं है ।

सद्‌गुरु का प्रेम अचल है

तुम्हारा मेरे पर हृदय का भाव है कि नहीं इस बारे में मुझे कुछ कहना न हो । कुछ दूसरी तरह का पत्र लिखा उसमें तो तुम दुःखी हो गयी या उदास हो गयी । यद्यपि तुम्हारे पत्र में ऐसा था कि '**मोटा** ! आप पर मुझे प्रेम स्थायी एक-सा नहीं रहता है और अमावस पूनम हुआ करता है ।' ऐसे भावार्थ का लेख था । उस पर से मैंने तुम्हें लिखा था । मैं किसी को भी मेरी सोबत करने का या मेरे पास आने का या समागम करने के लिए कभी नहीं कहता हूँ अथवा तो ऐसा निमित्त भी मैं स्वयं खड़ा नहीं करता । अपने-आप जो कोई आये उसे मना भी नहीं करता हूँ । जो कोई संबंध बढ़ाना या घटाना चाहे तो वैसा भी भले हो । मेरा दिल जिसके लिए भगवान की कृपा से रहता है, वहाँ अंतर

में अंतर से ज्वारभाटा नहीं आता । बाहर से ऐसा कभी किसी को लगे तो वैसा भले लगे, परंतु यदि देखने की सूक्ष्म आँख हो और परखने के लिए हृदय यदि जागृत हो, तो हृदय का प्रेम छिपा नहीं रह सकता है । **तुम्हारे हृदय का भाव सही है या गलत, उसकी जानबूझकर हमें परीक्षा नहीं करनी है । प्रभुकृपा से किसी की परीक्षा करने का दिल नहीं होता, क्योंकि वह हमारी संस्कृति में नहीं है । हमारी संस्कृति में तो सभी में मिश्रित होने का ही लिखा है और वह भी कोई किसी में बाकी न रहे उस तरह से ।**

पुरुषार्थ तो करना ही पड़ेगा

जीवन का पथ आध्यात्मिक रहस्य को स्फोट करने के लिए जो जोतना है, वह ज्ञानपूर्वक का एवं श्रद्धाभक्ति और प्रेमभाव से, सतत एक–सा पुरुषार्थ किये बिना जोतना संभव नहीं है, यह ठोस सत्य है । इससे पुरुषार्थ के बिना कुछ भी नहीं पा सकते हैं । मैं किसी **जीव** के पास संपूर्ण ज्ञानपूर्वक की शरणागति यदि माँगू, तो वह मेरा भी अज्ञान गिनाएगा, क्योंकि प्रारंभ में यह संभव ही नहीं है । वह तो ऐसे प्रकार के पुरुषार्थ में, मन बितता–बितता एक ऐसी कक्षा में आता है, कि जब वह शरणागति की स्थिति को प्राप्त कर सके । जीवन के सद्‌गुरु में ज्ञानभक्तिपूर्वक की श्रद्धा आये बिना **इस** मार्ग में अधिक कुछ मिल सके ऐसा होता नहीं है । इससे करके **जीव** को इस मार्ग में पुरुषार्थ पर प्रेमभक्तिपूर्वक जितना महत्त्व दे सके उतना दिया करके उसका अवलंबन ग्रहण करना, तो कहीं भी भटकना संभव नहीं है । जिस प्रकार की उत्कट भावना से हुआ पुरुषार्थ, उस प्रकार की भावना होनेवाली ही है, यह ठोस सत्य है । इससे यदि हम ऐसा पुरुषार्थ किया करेंगे तो वैसे होंगे ही । पुरुषार्थ का अंत कब आएगा यह कुछ निश्चित कह नहीं सकते, परंतु ऐसे पुरुषार्थ से हमें चेतन का अनुभव होने के लिए, जिस प्रकार की उत्कट भावना और जोशीली तमन्ना प्रकट होनी चाहिए, वह हमारे में जागृत न होने से पुरुषार्थ में भी मंदता रहती है । इससे परिणाम शीघ्र नहीं मिल सकता और परिणाम न मिलने या न दिखने के कारण पुरुषार्थ में मंदता

व्याप्त रहती है। इससे सतत **इस** मार्ग में जिसे परिणाम की चिंता किये बिना चला करने का दिल है, वह इसमें रह सकते हैं। हम तो कोई जमानत नहीं देते हैं।

● ● ●

निर्बलता का भान होना अच्छा है

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. २१-८-१९५१

जिस **जीव** को अपने में रही निर्बलता का भान होता है, वह **जीव** सफल और सबल होने के लिए अवश्य प्रयत्न करता है। जिसे जिस बात का उत्कट भान जगता है, उस **जीव** की उस दिशा में अवश्य गति होती है। भान होने पर वह जागता है, उठता है और प्रवृत्ति में पड़ता है, यह बिलकुल साधारण समझ है। इससे तुझे तेरी निर्बलता का भान होता है, ऐसा जो तुम पत्र में लिखती हो, वह बहुत अच्छी वात है।

जीवन सीखने के लिए है

जीवन यह अंधा कुआँ नहीं है, अथवा तो आँधी-तूफान द्वारा कहीं भी उड़ आये ऐसा बवंडर का तूफान नहीं है। जीवन की कठिन से कठिन परीक्षा में और उसके प्रसंगों में जीवन की निरन्तर बुनाई लगातार बुनावट होती जाती है। इस तरह लगातार बुनावट के कारण जिन प्रसंगों में **जीव** को रहने का आये वैसे वैसे प्रसंगों में वह आता जाता है, परंतु मनुष्य को उस उस काल में उसका उसका हृदय में पर्याप्त ज्ञान उठता होता नहीं, इससे प्रत्येक प्रसंग और घटना को छिन्न-भिन्न रूप में वह देखता है। प्रसंगों से यदि हम समज की आँख खोले तो उसमें से समझने का और अनुभव करने का मिलता है। प्रत्येक प्रसंग में जीवन के निर्माण का उद्देश्य रहा है। उस उद्देश्य का ज्ञान जिस तिस समय में होता रहे तो **जीव** सार्थक हो जायेगा।

अमुक प्रसंग बना वह क्यों बना और उसके पीछे समझ की कौन-सी चाबी हमें मिलनेवाली है, उसका यदि तटस्थतापूर्वक हम विचार करें तो हमें अत्यधिक अनुभव करने को मिलेगा। कितने लोग कहते हैं कि

जीवन एक पहेली है। जीवन को कितने ही लोग समस्या भी कहते हैं और जीवन यह रहस्यमय घटना है ऐसा भी कितने लोग कहते हैं। बहुत समय पहले मैंने एक बार एक प्रकार का ताला देखा था। उसमें कितने ही ए. बी. सी. डी. के अक्षर थे। वह अक्षर अमुक प्रकार से बिठाये और उसके बाद चाबी घुमाये तो ताला जल्दी से खुल जाता। यदि अक्षर उसके निश्चित क्रम में न बिठाये तो वह नहीं खुलता था। उस व्यवस्था का जिसे ख्याल हो वही वह ताला खोल सकता है। इसलिए जानकार के मन से सरल बात गिनायेगी और न जाननेवाले के मन से वह ताला बहुत अटपटा लगेगा। वैसा ऊपर की हकीकत के बारे में भी है।

जागृति की आवश्यकता

साधारण रूप से प्रत्येक **जीव** बनते जाते प्रसंगों में सावधानीपूर्वक जागृति रखकर समझने का प्रयत्न नहीं करता है। इससे वह खोता है, ऐसा उसे क्षणमात्र का भी भान जागा नहीं होता है या जागता नहीं है। बारंबार ठोक ठोककर प्रभुकृपा से कहता हूँ कि **जीव** किसी भी कोटि का भले हो, भले ही अधमाधम हो, परंतु यदि उसे सतत जागृति रह सकती हो तो वह ऊपर उठ सकता है। ऐसी जागृति या तो सहजता से हो अथवा तो तनदिही, उत्साह और धीरज द्वारा होते रहते पुरुषार्थ में से भी वह जन्म लेती है।

जागृति प्राप्त करने के उपाय

हम में वैसी जागृति अपनेआप सहज नहीं है, वैसा यदि हमें समझ में आये तो दूसरे प्रकार से प्राप्त करनी रही, और वह दूसरे प्रकार से भी प्राप्त करना न हो सके, तो किसी अनुभवी उच्चात्मा का प्रेमभक्ति और श्रद्धाविश्वास से शरण लें, परंतु **जीव** के लिए एकदम अपनेआप ऐसी स्थिति हो या होती जानी यह भी दुर्लभ हकीकत है। इससे हमें तो जैसे-तैसे करके भी सतत एक-सा पुरुषार्थ होता रहे वैसा किया करना है, और मन में किसी भी प्रकार का खेद न होने दें।

जीवनारंभ हो चुका है

जो कुछ किया करते हैं उसमें मन की गति को नीचे जाने जैसा नहीं है, इतनी तो ठोस यथार्थता है । बालक अक्षर घूंटता है या अक्षर सीखता है या कहीं कुछ नया सर्जन करता है, तो उसे कितनी अधिक खुशी होती है ! वह सभी को बतलाता है । इससे हम नवसर्जन करने बैठे हैं, उसमें यदि मात्र एक अक्षर भी घूंटा जाये तब भी काफी है । यद्यपि उतना पर्याप्त तो नहीं है, परंतु यदि अक्षर का प्रारंभ हो तो दूसरा प्रारंभ अवश्य होगा । इसलिए इस मार्ग में बनते रहते पुरुषार्थ से **जीव** को कुछ भी नहीं खोना है, बल्कि कमाना ही रहता है, यह निश्चित हकीकत है ।

साधना में त्रिवेणीसंगम

त्राटक, ध्यान, जाप, धारणा इन सभी साधनों में तत्काल परिणाम नहीं दिखता है । तब भी मन को उच्च गति पर ले जानेवाले ये साधन हैं । यदि उसके प्रति हमारे हृदय की आँख और भावना खुल गयी हो तो । फिर, ये साधन करते समय वे किस उद्देश्य के लिए है, उसकी जीतीजागती समझ हमारे दिल में यदि जागी हो, तो हमें निराश होने का कोई स्थान नहीं रहता है । साधक, साधना और साधना करानेवाला - इन त्रिवेणीसंगम में तो शुरू-शुरू में अलग-अलग रंग दिखते हैं । हजारों वर्ष पुराने पुण्यस्मरणवाले प्रयाग के संगम में मैंने स्नान किया है । यमुना और गंगा के दो प्रवाह वहाँ एक होते हैं, तब भी वहाँ आगे इन दोनों के प्रवाह एक-दूसरे के प्रवाह में बाल की लटों की तरह मिल जाने पर भी, उन-उनका रंग अलग निखर आता है, परंतु आगे जाने पर वैसा नहीं रहता । आगे जाने पर तो उनका एक ही रंग हो जाता है । उसी तरह साधना के प्रथम काल में साधक, साधना और साधना करानेवाला - इन तीनों का सुमेल जमा नहीं होता है । वह तो प्रभुकृपा से, हृदय की प्रेमभक्ति से और ज्ञानपूर्वक की जिज्ञासा से आगे जाने पर हृदय-हृदय का सुमेल प्रकट होता है और परस्पर एकतार होते हैं, उस समय ही एक

और रंग जमता है। इसलिए हमें तो हिंमत और धीरज रखनी और जितना हो सके उतना अधिक किया करें। अन्य फुसलानेवालों में न पड़ें। शरीर की सँभाल रखना और हो सके उतने उपाय करना, उसमें संकोच रखने की आवश्यकता नहीं है।

● ● ●

नींद का कारण

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. २४-८-१९५१

नींद बहुत अधिक आती है, उसका कारण अति आलस्य और तामस कहलाएगा। **जीव** जब साधना करने लगता है और सचमुच वह उसमें रचनेपचने लगता है, तब उसके अंदर से बाहर से भारी घमासान मचता है, वह हकीकत सच्ची है। परंतु इस तरह तेरी साधना अभी शुरू हुई है कि नहीं यह तुम्हें सोचना है। इसलिए सच्चे और तटस्थ रूप से सोचें तो नींद का कारण शरीर होना चाहिए। अत्यंत तामसिक जड़ता के कारण भी नींद का ऐसा हमला हो सकता है, अथवा तो ज्ञानतंतुओं की निर्बलता के कारण भी ऐसा हो सकता है। कितनी ही बातों में उनकी अमुक सहज कुदरती वृत्तिओं को दबाने का हो अथवा उसका जिस प्रकार का सहज व्यक्त होनापन हो, उस तरह न होता हो और इससे एक प्रकार की विकृति भी होती है, उसके परिणाम स्वरूप नींद विशेष आती है। ऐसा सोचें तो नींद विशेष आने का कारण साधना विषयक है ऐसा सोचने का कोई कारण नहीं है, परंतु ऊपर कहे उन कारणों में से कोई कारण होगा। शरीर में जो सहजस्फूर्ति चाहिए वह सहजस्फूर्ति का तुझ में अभाव लगता है। प्रत्येक कामकाज में जो कुछ किया करना होता है, वह निर्जीवरूप से एक लीक की तरह हुआ करता हो उसके जैसा लगता है।

साधना का प्रेरणामूल—सद्‌गुरु

जीवन में एक प्रकार का जोशीला उत्साह और रस आये बिना साधना में कभी प्राण नहीं आ सकते हैं, तो उत्साह तो कहाँ से आएगा ? साधना अर्थात् जीवन को कुचल देना नहीं है, अथवा

साधना का अर्थ गला घोंटकर जीवन का दम घुटना नहीं है, परंतु सहज स्वाभाविकरूप से उसका विकास हो और उसी तरह वृत्तिओं का सुमेल हो और उसमें से शांति, समता, तटस्थता, धीरज, सहिष्णुता, प्रसन्नचित्तता आदि गुणों का विकास होता अनुभव हो, उन-उन गुणों की शक्ति को जीवन में प्राप्त होते प्रसंगों में ज्ञानपूर्वक का उपयोग हुआ करे, और उसके कारण जीवन भरा-भरा लगे और धन्य होता अनुभव हो उसका नाम है साधना । जीवन में जो कोई कार्यक्रम हो, वह कार्यक्रम मानो एक जीवित मुर्दा निबटाता हो, वैसा हम उसे निबटाते होते हों तो उसके जैसा जीवन यह कोई जीवन नहीं हैं । बिना निगरानी का जीवन से भी यह तो निकम्मा है । साधना करनेवाले **जीवात्मा** में तो साधना के लिए हृदय का उल्लासभरा उत्साह प्रकट होना चाहिए और वह उत्साह वह लाएगा कहाँ से ? उस उत्साह का प्रेरणामूल क्या है ? इसके कारण ही जीवन का सद्‌गुरु जो कोई उच्चात्मा हो, उसमें यदि हमारे अपने जीवनविकास के लिए प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक का मनहृदय का प्रेमभाव आ गया और वैसा जीवित सद्‌भाव जागा हो तो साधना में चाहते उत्साह का मूल उसमें से हमें मिलेगा ही ।

स्वयं अपने अड़चनकर्ता

माँ बालक को जन्म देनेवाली होती है, उस समय प्रसव होता है उसके लिए प्रकृति ने ऐसी योजना की है कि उस समय माँ के शरीर में पीड़ा होती है । उस पीड़ा के कारण ही बालक का जन्म हो सकता है । दूसरे सभी हिंमत और आश्वासन देते हैं, यह सही है, पर यदि पीड़ा प्रकट न हो, तो बालक का जन्म होना निपट पूरी तरह असंभव तो नहीं है, परंतु उसमें माँ को बहुत कठिनाई आती है, यह बात निश्चित है । **इसलिए उसमें माँ का पुरुषार्थ इतना है कि उस पीड़ा जब हो, तब वह हाथपैर को एकदम सीधे, अमुक प्रकार की स्थिति में, वैसे का वैसा रखे तो जन्म बहुत सरलता से होता है । उस समय बहुत कष्ट होने के कारण अज्ञानता में पूरे शरीर को वह हिला डालती है और हाथ-पैर ऊँचे-नीचे करती है, इससे आयी हुई पीड़ा का जोश कम**

हो जाता है और जिस मध्यबिंदु की ओर उसकी गति होनेवाली होती है, वहाँ वह नहीं होती । इसलिए पीड़ा का जो उद्देश है, उसे मदद करने के बदले पीड़ा के उद्देश को वह बेकार बनाती है । उसी तरह *जीव* का है । चेतन के अनुभव के लिए ही मनुष्य का जन्म है, उसके अर्थ ही जीवन और संसार है । संसार और जीवन में मिलते दुःख, कष्ट, कठिनाई, उपाधि आदि सभी *जीव* को सच्चा भान करवाने के लिए हैं । इससे हमारा पुरुषार्थ इस तरह का होना चाहिए और हमारी बुद्धि इस तरह काम करती होनी चाहिए कि जिससे प्रकृति का हेतु फलित हो सके ।

● ● ●

शांति-समता कैसे रहे ?

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. २८-८-१९५१

तुम्हें बिना कारण को 'रोना रोना' ऐसा हो आता है । ऐसी भावना किसी प्रकार का भयानक स्वप्न आंतरजीवन में छाया हो, उसके कारण वैसा होता हो ऐसा समझ में आता है । जीवन में हमें कोई हृदय का स्वजन मिल जाय या जिसके चरण में आराम और निश्चिंतता से अपने सभी प्रकार का भार हलका कर सकें तो जगत में हमें अति चैन और आश्वासन मिल सकता है, ऐसा सभी का अनुभव है । तुम्हारे जीवन में प्रेमभाव की मात्र उषा ही नहीं, पर उष्मा और प्राण आये इस प्रकार का प्रभुकृपा से तुम्हें कोई हृदय का स्वजन मिले या हो सके —— ऐसी हृदय की प्रभु को प्रार्थना है —— कि जिसके आधार पर तुम शांति पा सको, परंतु उस मुराद को पूरी करना तुम्हारे हाथ में है । **इस जीव** का तुम्हारे **जीव** के साथ का संबंध हो या न हो, तब भी भावना के प्रदेश में जाते जो भावसंबंध जन्म लेता है, वह तो जड़ गया होता है, इतनी तो हकीकत की बात हैं ।

साधना के मार्ग में शीघ्रता काम की नहीं है । साधना होते होते अनेक प्रकार की उलझनों से गुजरना पड़ता है । साधना का पुरुषार्थ

करते-करते एक ऐसी भूमिका आती है कि जब माथापच्ची होने के प्रत्यक्ष कारण स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही तरह से प्रखर हो, तब भी साधक की उस समय की साधना की मानसिक भूमिका में अधिक स्पर्श करे बिना या उसे हिलाये बिना उलझनें पार होती अनुभव होती हैं, परंतु तुम्हें तो अभी साधना की पगडंडी पकड़ने की शुरूआत है। उसमें अभी मन लगा नहीं है, परंतु उसकी कोई हरकत नहीं है। यह तो होते होते होगा और चलते चलते रास्ता कटेगा। इससे हमें तो चलना रखना है। मन को किसी प्रकार से विह्वल न होने देना। प्रत्येक प्रसंग में मन की शांति बनाये रखनी है, यह हमारा अति महत्त्व का कर्म है। किस तरह से सोचने से और किस तरह व्यवहार करने से हमारे जीवन का हेतु उत्तमरूप से हो, उतना यदि कर सकें तो उलटेसीधे, खड़े किसी प्रकार के प्रसंग उपजे उसमें से डिगना न होगा।

'विप्रदास' का उपन्यास

'विप्रदास' नाम का उपन्यास तुमने पढ़ा है, यह जानकार आनंद हुआ। उसमें बहुत जानने और समझने का है... भाई ने उस पुस्तक को अभी यहाँ फिर से पढ़ी। एक बहन ने उस उपन्यास का जो पात्र विप्रदास है, वह विप्रदास की भावना और उस पात्र की समझ भाई में हैं ऐसा बतलाया था। तुम्हें भी योगानुयोग रीति से वैसा सूझा यह आनंद की बात है। तुम्हारे हृदय का भाव और तेरी शुभेच्छा उन पर बरसती रहे ऐसी मुराद भी है और आशा भी है।

भावना-प्रदर्शन की योग्यता

तुम्हारी भावना मात्र पड़ी ना रहे, पर तेजस्वी और प्राणवान बने यह भी अच्छा है। रक्षाबंधन के मिले पैसों में से तुमने दो पुस्तकें खरीदीं यह भी लाक्षणिक है। तुम्हारे पत्रों के वाचन से कितनी बार हमें भी हृदय में भावना उभर आती है, परंतु उस भावना को जानबूझकर नहीं दर्शाता हूँ। उसका अर्थ ऐसा नहीं कि तुम्हें वैसा नहीं करना है।

साधना और व्यवहार में आशा

जीवन में आशा यह एक बहुत बड़ी महत्त्व की वस्तु है। साधना के मार्ग में आशा हमें तत्त्व के अनुभव की भूमिका पर पैर बढ़ाने का करती है। जीवनव्यवहार के क्षेत्र में और भावना के प्रदेश में आशा हमें उषा या संध्या के मनोहर रंगों के द्वारा कल्पना की तरंगों में चढ़ाती है और ऊँचे उठाती है, और मनोरथ के तुक्के में मन को पिरोकर शेखचिल्ली के महल रचाती है, जबकि साधना के मार्ग की आशा तो ठोस है। भावना या संसार के प्रति जागती आशा यह तो तरंगों की बनी हुई कल्पनासृष्टि है। यह तो ऐसे भी झुकाती है और वैसे भी झुकाती है। इसमें निश्चित खिंची कोई रेखा नहीं होती। जबकि साधना के मार्ग की आशा में तो खिंची रेखा पर ही जाना होता है। जैसे एक मकान चुनना हो तो उसके नक्शे अनुसार ही सारा काम चलता है, उसी तरह साधना के मार्ग की आशा का है। इससे हमें आशा के साधनामार्ग की भूमिका में वह ठोस स्वरूप ले उस तरह मार्गदर्शन करना है। साधना यह कल्पना का प्रदेश नहीं है, परंतु जीवननिर्माण के लिए हृदय की भावना के ठोस स्वरूप के लिए —— ऐसा स्वरूप देने के लिए —— या भावना सघन और ठोस हो, उसके लिए कर्म ज्यों है वैसे भावना वास्तविकता के प्रदेश में रमा करे उसके लिए साधना है। इससे जीवन में साधना का मार्ग यही महत्त्व का है। ऐसा बारंबार मन में दृढ़ कर-करके साधक को मन के पास से काम लेना रहता है। इस प्रकार, हमें मन को सतत टोकना और सरकाना है, समेटना भी है और उस प्रक्रिया में हमें सतत जागृति रखनी है, तमी प्रभुकृपा से सफल हो सकें।

● ● ●

मौनएकांत अनिवार्य नहीं

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. ६-९-१९५१

तुम्हें जो कोई हकीकत कहे वह उनकी दृष्टि से बिलकुल वास्तविक हो, उसमें हमें कुछ भी खराब नहीं लगाना है। हम यदि अपना काम

— भगवान को भजने का — जो सिर पर लिया है, वह यदि **मनहृदयपूर्वक किया करेंगे और अंतर में अंतर से प्रेमभक्ति द्वारा करके ज्ञानभक्तिपूर्वक संधिस्थान साधा करेंगे तो मौनएकांत लिये बिना भी वह काम हो सकता है, वह निश्चित जानना । हमें जो संसार मिला है, उसकी हमें अवगणना नहीं करनी है और उच्छृंखलपन से उनकी मर्जी विरुद्ध जाकर वर्ताव भी नहीं करना है ।** फिर, संसार में दूसरी सभी जगहों पर नजर डालता हूँ, वहाँ जो रीतरसमें हैं, उससे अधिक तेरे यहाँ वृत्ति विशेष उदार है, ऐसा अवश्य कह सकते हैं। कुटुंब से बिलकुल अनजान व्यक्ति के साथ अति पत्रव्यवहार हो और उस विषय में तुझे प्रेम से संपूर्ण छूट मिले ऐसा प्रत्येक कुटुंब में विधवा के लिए तो होता नहीं है । अरे ! विधवा की बात तो जाने दो, पर बहुबेटी के लिए भी उस तरह का होना बहुत सुलभ तो नहीं ही है। **इससे मौनएकांत लेने का हेतु तो लगनी लगाने का है और साधना में विशेष एकग्रता, केन्द्रितता प्राप्त हो उसके लिए है । यह हेतु तो हम मौन लिये बिना भी तनदिही, सँभाल, धीरज और उत्साह रखकर कर सके ऐसा है ही ।**

गुरु शरीर से दूर भले हो

हमें मिलना है वह स्थूल रूप से तो नहीं, परंतु मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और ज्ञान की भावना द्वारा और जीवनविकास के हेतु के लिए मिलना है । वहाँ यदि इस तरह मिलना रखें तो यह तो सबसे उत्तम उपाय है। जीवन की कभी अमावास्या नहीं होती। फिर 'जैसी भावना वैसी सृष्टि' ऐसा भी कहा जाता है । जिसे जीना है, वह तो जीयेगा ही, परंतु आलस्य, प्रमादवाले **जीव** का इस मार्ग में काम नहीं है । जीवन में चढ़उतर तो सही, परंतु तब जो **जीव** हृदय का भान रखता है, वह तो पड़ने की क्रिया से उलटा अधिक बल और प्रेरणा पाता है और उल्टा विशेष आगे बढ़ता है । अपनी अहंता को जैसे हो सके वैसे आघात दिया करना है ।

साधना के कुछ सूचन

हमारा माना और कहा नहीं होता है, तब मन में विशेष खुश होना है, तब अहंकार को कहना है, 'ले बेटा ! लेता जा । जहाँ और वहाँ आगे बढ़ता है तो तुझे धप्पा मिले तभी उत्तम है ।' बिना लियेदिये किसी को कहीं कोई सूचन भी न करे । कोई कहीं कुछ बातचीत करे उसकी नयी समस्या अंकुरित होकर उस सामनेवाले व्यक्ति को कहने का मन में कुछ स्फुरित हो उठे उस समय, जागृति रखकर तटस्थता अनुभव करने का करें । हम हो सके उतना अंतर्मुखी होने का रखें । सभी **जीवों** के साथ सुमेलता से व्यवहार करने का करें । तुम मेरा वैसा इतना ऊपर कहा काम करोगी तो उसका सुखद परिणाम अपनेआप तुम्हें मिलेगा ।

श्रद्धा के लक्षण

मेरी एक दूसरी शर्त है कि **इस जीव** में कुछ दैवत है ऐसा मानना नहीं है, अथवा तो महान हूँ ऐसा भी नहीं गिनना है । **यह जीव** तो एक सामान्य प्रकार का मनुष्य है । उसे पूजने करने का भी न हो । इस प्रकार की श्रद्धा का मुझे काम भी नहीं है । **इस जीव** में श्रद्धा रखने का कभी किसी को कहा भी नहीं है । श्रद्धा तो धधकती तमन्ना से अपनेआप आती है और जीवनविकास की सच्ची समझ आये तभी वह श्रद्धा काम की है । किसी में भी जो श्रद्धा रखनी होती है वह तो हमारे अपने लिए होती है । गहरी जीवित श्रद्धा आये बिना श्रद्धा के विषय में हम कभी चिपक नहीं सकते और प्रवेश नहीं पा सकते हैं, तो प्रेरित तो कहाँ से होंगे ? जीवन में प्राप्त प्रसंगों के प्रति यदि योग्य और सही समझ न मिलती हो तो वैसे ज्ञान और भक्ति काम के नहीं हैं ।

जीवन में मानवता के जो गुण वर्णित हैं, उतने में और उसकी मर्यादा में ज्ञान और भक्ति की परिसमाप्ति नहीं है । इससे हमें आगे जाना है । पराक्रमी के पराक्रम से विशेष प्रकार के पराक्रम की **इस** मार्ग में जरूरत होती है । महान, साहसिक नर जो हो गये हैं, उनके जितने साहस का तो जरूर इस मार्ग में काम रहता ही है । गौरीशंकर के शिखर पर

चढ़ने के लिए अनेक साहसिक **जीवों** ने प्रयत्न किया है और अब भी करते हैं। ऐसे साहस, धीरज, उत्साह, तनदिही, दरकार हम में यदि सच्ची श्रद्धा हो तो उगे ही। यदि श्रद्धा हो तो वह ऐसे के ऐसे पड़ी नहीं रहेगी। इससे हमें जो कुछ करना है, सोच समझकर करना है। **'मन को' में मैंने एक जगह लिखा है कि अपने विचार से चलने पर खत्ता खानी पड़े तो उसमें आपत्ति नहीं है, क्योंकि *जीव* यदि सच्ची साधकदशा में होगा तो उससे वह जरूर सीखनेवाला है और उसकी आँख खुलेगी ही, परंतु दूसरों के विचार से खाली खाली अंधे की तरह खींचना नहीं है, यह तो खास ख्याल में रखना है।** दूसरों के विचार सुनना ही नहीं ऐसा अर्थ नहीं है। हम अपने काम में संपूर्ण रत रहें और ध्यान तो साधना के हृदय में रखें तो पूर्ण चैन और शांति मिलेगी।

● ● ●

संसार से उत्क्रांति किस तरह ?

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. १०-९-१९५१

मनुष्य जिस तरह से सपने में अनेक प्रकार की वृत्तिओं को अनुभव करता है, फिर भी जागने पर ऐसा हुआ था, ऐसा भले पता हो, परंतु उसे वह **जीव** जूँ की तरह चिपके नहीं रहता, इसका उसे अधिक महत्त्व भी नहीं देता है, यह तो सभी किसी के अनुभव की हकीकत है। उसी तरह संसार और उसके संबंध, प्रसंग और घटना तथा मन में उठते अमुक प्रकार की भावनाएँ उन सभी के प्रति यदि मानव की स्थिति तटस्थता और सरलता की हो जाय तो, सपने में अनुभव की वृत्तियाँ तथा ऐसा अन्य सभी जैसे सरक जाते हैं वैसे संसार का ऊपर गिनाया हुआ सभी सरलता से सरक जाते हैं। सपने में हुई बात वह तो सपने की है और वास्तविक नहीं है ऐसा मनुष्य समझता है और वह सचमुच अंतर से वैसा समझता है। इससे वह उसे भूत की तरह चिपका नहीं रहता है।

संसार और उसके व्यवहार में मनुष्य की समझ उपरि-लिखित रीति से यदि हमारे अंतर में आ जाय और स्थित हो तो मनुष्य उसमें उलझकर बंद नहीं रहेगा, जकड़ा हुआ भी नहीं रहेगा, इससे तो हम पाँच कर्मेन्द्रियों,

पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहंकार इन सबसे जो जो बनता रहे, उसे कुछ भी महत्त्व न देकर यदि अंतर के अंतरतम चेतन को सचमुच महत्त्व देना सीखेंगे तो सब कुछ सरलता से सरक जाएगा – जैसे कमल के पत्ते पर पड़ी पानी की बूँद उसे भिगाता नहीं है वैसे ही । इससे हमें उस तरह का अभ्यास विकसित करते रहना है । **जिसे अधिक से अधिक हृदय में हृदय से महत्त्व देते हैं, उसमें मन अपनेआप सरलता से लग जाता है । इससे हमें किसे महत्त्व देना है, उस बारे में पक्का भाव होना चाहिए ।**

● ● ●

हृदय — सद्भावना की परम शक्ति

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. १२-९-१९५१

जीवन में आकर्षण के आकार और प्रकार अलग-अलग तरह के होते हैं । जो आकर्षण – भले ही फिर स्थूल, सूक्ष्म या कारण का हो, पर यदि वह हमें सद्भावना में रखा करे और **जीव** की समझ कक्षा उच्चतर कराये तो वैसा आकर्षण काम का है । हृदय हृदय की भावना की मिलावट हृदय हृदय को जब पहचानती है, यानी कि अनुभव करती है, तब परस्पर एक ऐसे प्रकार का संबंध बंधता है कि जिसे भेद की दीवार होने पर भी अड़चन नहीं होती । अड़चन लगने पर भी कभी भी वह खटकती नहीं है । जब कहीं कुछ भी परस्पर का दिल में खटके नहीं और दिल में एकराग रहा करे, तब भावना का प्रवाह परस्पर नदी की तरह बहता है । **हृदय वह भावना का प्रदेश सही, परंतु जहाँ तक हम सभी जीवस्वभाव में होते हैं, वहाँ तक मनोभाव, भाव और भावना भी प्राण का क्षेत्र हैं । उस समय की ऐसी प्रकट होती भावना में जीवपन होगा और जीवपन हो, वहाँ वैसी भावना में कुछ कामना भी हो, परंतु जिस भावना से आशा, इच्छा, कामना, लोलुपता आदि ऐसे सब गलकर निकल चुके हैं, वैसी भावना वह हृदय का प्रदेश है ।** हमें तो ऐसी भावना में खेलना है । ऐसी भावना भी साधन

या आधार बिना ऊर्ध्वगामी नहीं हो सकती है, और लता को जैसे ऊपर चढ़ाने के लिए कुछ आधार चाहिए वैसा ही भावना के लिए है ।

हृदय की भावना से जो जीवन में चढ़ता है, वह रंग और उसकी मस्ती कोई अलग प्रकार की है । मनोभाव या भाव में एक प्रकार का नशा भी रहता है और सनक भी होती है, परंतु हृदय की भावना से तो योग्य प्रकार के जीवनविकास के लिए विवेकयुक्त समझ आती है और वैसी भावना से और वैसी भावना द्वारा ज्ञान होता है । इस तरह भावना उत्तरोत्तर अधिक से अधिक सूक्ष्म होते होते उसमें से हमें तीसरी आँख मिलती है कि जो सब आरपार देख सकती है । इससे ऐसी भावना में और ऐसी भावना से यदि हृदय-हृदय का भाव हो तो वैसा आकर्षण काम का है । शरीर वह स्थूल होने पर भी वह जीवित है, वहाँ तक उसमें सूक्ष्म और कारण रहे हुए हैं । सद्भाव की जागृति होने पर और वह टिकते स्थूल में सूक्ष्म के दर्शन होते हैं । ऐसा होने के लिए ही स्थूल का आधार उपयोगी हो सकता है । आधार के बीज बिना कहीं कुछ बनता नहीं हैं ।

स्थूल यह मात्र स्थूल नहीं है । सर्व कोई का हम जैसा उपयोग करते हैं, उसमें हमारी दृष्टि और हृदय की भावना खिलती जाय तभी हमारा वह सब काम का समझना । हमें जिस-तिस में हृदय की ऐसी सद्भावना का उपयोग करना आये तो जीवनदर्शन की कला प्राप्त होगी । सद्भावना जीवन को उच्च और उच्चतर गति में कदम बढ़वाती है, इतना ही नहीं, परंतु जीवनविकास के हेतु से प्रत्येक का सही मूल्यांकन करवाने की समझ रखती है । जगतव्यवहार में हम द्वन्द्व की दुनिया में हैं और द्वन्द्व की दुनिया में तो सब कुछ रहा है । उसमें सुखदुःख, सत्य-असत्य, तेजअंधकार, पाप-पुण्य, नीतिअनीति है और उन सभी के साथ हमारा टकराना भी होगा । उस समय हमारे व्यवहार की समझ हमारे मन में किस-किस प्रकार जगती है वह यदि हम सोचते रहें तो हमें अपनी कक्षा की पक्की समझ पड़ा करें । जिसे देखना है, जानना है, समझना है और अनुभव करना है उसे हम अपनी तरह और अपनी **जीव**दशा की आँख से वैसा नहीं कर सकेंगे । दूर-सुदूर के तारे देखने के लिए छोटा सूक्ष्मदर्शक यंत्र

काम में नहीं आएगा । उसके लिए तो खास वैज्ञानिकों ने आविष्कार करके बनाया २५०-३०० फूट का बड़ा दूरदर्शक यंत्र होगा और वह भी उसे देखने की कला हमें मिली हो तो हम उस दूर के स्थान को ठीक से देख सकेंगे । कोई वैसा शायद (स्थूलपन से) देख सके तो उसके देख सकने के ऊपर से उसका तौल निकालने की शक्ति वैसे प्रत्येक में होती नहीं है । इससे देखना और तौल निकालने की शक्ति होना ये दो फिर अलग है और शक्ति होने पर भी उस पर से उस स्थान पर का हवामान, उस स्थान में क्या है, वह सब जानना और उसका ऐसा आकलन करना यह फिर बिलकुल अलग हकीकत है । इसलिए हमें तो पहले हमारे पास जो स्थूल है, उसमें सद्भावना के जोश को बढ़ा-बढ़ाकर उसे बड़ा करना है । परस्पर हृदय की सद्भावना जगने पर कहीं खटका रहता नहीं है या जागता नहीं है । इसलिए सद्भावना का व्यापार किया करना । व्यापार में तो घाटा भी होता है । किन्तु सद्भावना में कमी हो तो जीवन का व्यापार नहीं चल सकता है । **जीवन की कमाई सद्भावना की नींव में रही है, वह जानना ।**

● ● ●

सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ—लगनी

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. १७-९-१९५१

एक घड़े में कुछ भरा हो और उसमें दूसरा भरना हो तो उसे दूसरे घड़ें में भरना पड़ेगा उसका हमें समग्र भान जागा होने से अंदर होता है उसे बाहर निकालते हैं । उस तरह हम में से काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, मत्सर, अहंकार आदि निकालने चाहिए । वह अपनेआप तो किसी काल में नहीं निकल सकेगा, परंतु जब ऊर्ध्वमार्ग के प्रति **जीव** को समग्र भान जाग जाता है, उस समय इन सभी को निकालने के लिए खास प्रयत्न भी नहीं करना पड़ता है । लगी हुई लगनी यही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है । **जीव** में **जीव**कक्षा का जो तो सब होने पर भी लगनी लग जाने पर लगनी के विषय में **जीव** की गति सहजता से होती रहती है । ऐसे, जब उस प्रकार की गति होते होते उसमें वेग और गतिशील जोश होता है, उस

समय साधक को स्वयं को स्वयं के **जीव**पन का भी और उसकी प्रकृति के विद्रोह का भी सचमुच भान जाग जाता है । उस समय पर वैसे जागे साधक से जो प्रयत्न होते हैं, उन प्रयत्न में सचमुच प्राण प्रकट हुए होते हैं, जिनका खमीर और नूर कोई अलग ही प्रकार के रहते हैं । उस समय एक तरफ नीचे से ऊपर जाने का जागृत प्रयत्न रहा करता है और उपरोक्त लगनी लगी होने से मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहंकार में उसका संपर्क रहता है । इस प्रकार नीचे से ऊपर में और ऊपर से नीचे में संपर्क जागृत होता है । ऐसे समय पर मोहपिंजर में मनुष्य से झाँकना होता है, तो उसमें से उसे समय पर जागने में देर नहीं लगती है ।

मनुष्य ऊपर उठने का प्रयत्न करे तो वह उस दिशा में सड़ासड़ करता ऊपर चला ही जाय ऐसा कुछ नहीं होता । जब सचमुच ऊपर चढ़ने की लगनी लगी होती है, तब **जीव** गिरता है सही, पर ऐसे गिरने में से वह अनेकगुना वेग पा लेता है और उससे नयी समझ और नये प्राण पाता है, और उसकी चढ़ने की गति में अधिक प्राण और चेतन प्रकट होते हैं । इसलिए एक बार यदि हमें लगनी लग जाय अथवा हमारे 'भीतर' का जाग जाय अथवा चेतन के संपर्क का भावपूर्वक के दर्शन का अनुभव हो जाय तो फिर **जीव** की ऊर्ध्व प्रकार की गति निश्चित हो गई ऐसा समझना । इसके बाद भी **जीव जीव**प्रकार के विषय में नहीं सोचे ऐसा तो होगा नहीं, पर उससे मोहपिंजर में पड़ जाने का हुआ होने पर भी उसमें से उसे निकलने में देर नहीं लगती है । ऊपर लिखा है उस प्रकार का **जीव** ऐसे मोहपिंजर में पड़ता है, उसके प्रकार में और एक सर्व साधारण **जीव** जो मोहपिंजर में पड़ता है, उसके प्रकार में आसमान-जमीन का अंतर है । जगत उन दोनों **जीवों** का एक ही प्रकार का दिखावा देखकर उस साधक-**जीव** की शायद निंदा भी करे सही, परंतु साधक किसी में पड़ा नहीं रह सकता है । वह तो जहाँ वहाँ से खड़ा होना ही सीखा है, जिसे जिस बात की लगनी लगी होती है, उसमें उसका मन सहज रहता है । इसलिए हमें लगनी लगानी है, ऐसा दृढ़ हृदय में निश्चय करके जीवन की साधना में प्रभुकृपा से लगे रहना है ।

संत कैसे परखें ?

तुमने किसी साधु की बात लिखी थी । उसमें किसी प्रकार की शक्ति थी, ऐसा भी तुमने लिखा था । आँख में ऐसी शक्ति होती है । उस द्वारा उस **जीव** का आकर्षण करे ऐसी संभावना हो सकती है । ऐसों के पास जाने में कोई माल नहीं है । जिसके पास जाने में आपनेआप सहजता से हृदय में भाव प्रकट हो, जीवनविकास के हेतु के लिए योग्य और ज्ञानपूर्वक की समझ आये, वहाँ जाने में कोई आपत्ति भी न हो ।

मनशुद्धि की तीन क्रियाएँ

जो समझ हमारे गले उतर जाती है, उसके बारे में कोई डगमगाहट नहीं होती है, वह हृदय में भी उतर जाती है । हृदय उसे स्वीकार करता है । हमें तो जो कोई भी कदम बढ़ाना है, वह ऊँची समझ से भरना है । फिर वह कदम संसारव्यवहार के वर्तन में हो या अन्य विषयक हो, परंतु वहाँ हमारी समझ किस प्रकार की रहती है और हमारे मन के विचार और भावना किस किस प्रकार के रहते हैं, वह हमें स्वयं ठीक से जाँचते रहना चाहिए । दूसरे किसी के बारे में विधेयात्मक विचार यदि न जागे और उसके बदले नकारात्मक विचार जागे ऐसे समय में खूब जागृति रखकर सावधान बनें और मन को टोके, सरकाये और समेटे । उस समय पर श्रीभगवान की कृपामदद के लिए प्रार्थना किया करनी है । बारंबार मन को ये तीन क्रियाएँ करवानी अति आवश्यक रहती हैं ।

● ● ●

गुरु को कौन-सी भेंट काम की ?

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. १९-९-१९५१

इस शरीर के जन्मदिन पर अर्थात् भाद्रपद कृष्ण पक्ष की चतुर्थी के दिन तुम्हारा पत्र मिला । तुम्हारा प्रणाम भी मिले । **मुझे भेंट में प्रणाम नहीं चाहिए । मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहम् तथा इसके अलावा हृदय-दिल, यह सभी संपूर्ण मिले और वे सभी संपूर्ण शरणागति की भावनावाले ज्ञानयुक्त होकर मिले तो ऐसी भेंट काम की है ।**

गुरु के स्थूल संपर्क को महत्त्व न दो

प्रभुकृपा से **इस जीव** का जिसे संपर्क हो, उस **जीव** की ऊर्ध्वमार्ग के प्रति जैसे जैसे उत्साह और भावना प्रकट होती जाय और उस मार्ग की ओर प्रयाण अधिक से अधिक गतिप्रेरक, प्राणवान बनता जाय वैसे वैसे सामनेवाले **जीव** में क्या चेतन है, उसका अनुभव होता जाय । जिसे किसी **जीव** में चेतन है, ऐसा ज्ञानभक्तिपूर्वक का अनुभव हो, वह तो धन्य हुआ है । उसे धन्य होनापन रहता नहीं है, यद्यपि ऐसा **जीवात्मा** जो जो **जीवों** के संपर्क में आता है, उन-उन **जीवों** के साथ अथवा तो संसारव्यवहार और जगत में उसकी प्रकृति की तरह व्यवहार करता दिखता है, ऐसे समय में उसकी प्रकृति के अलावा अन्य हम देख भी क्या सकते हैं ? इससे हमें स्थूल के संपर्क के साथ महत्त्व कुछ देना नहीं है । जैसे जैसे परिचय बढ़ेगा और परिचय बढ़ने के पीछे अंतर की भावना प्रकट हुआ करे और उस भावना से जीवन रंगता जाये और ऐसा होते होते **जीव** के मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहम् सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम होते जाय, तभी कुछ अंतर की चेतना की सूझबूझ आने लगती है । बाकी तो स्थूल में और स्थूल में उलझकर रह जायेंगे ।

स्थूल संबंध की शर्तें

स्थूल भी काम का है और महत्त्व का है, यदि उसका ज्ञानभक्तिपूर्वक साधन के रूप में उपयोग कर सकते हो तो । भावना को प्रेरित करने के लिए और उसे उद्दीपन करने के लिए प्रतीक की हमेशा जरूरत मानी जाती है । परोक्ष प्रतीक संपूर्ण गिन सकते हैं, परंतु मनुष्य **जीवात्मा** को संपूर्ण रूप से पूर्ण समझना या मानना यह बहुत ही दुर्गम घटना है । पूर्ण ज्ञानयुक्त अनुभव हुए बिना ऐसा मान लेना वह भी योग्य नहीं है । दीपक से दीपक प्रज्वलित हो सकता है । इस तरह दीपक से दीपक प्रकट हो, ऐसा अनुभव हो, तब दीपक है ऐसा जानें । हमारी संसार की परिस्थिति और हमारी **जीव**प्रकार की दशा को देखकर - तुम मेरी बात जाने दो, अरे, जाने भी क्यों दो - किसी के भी अति निकट के स्थूल परिचय

में आने का करना यह हमारे लिए हितावह नहीं है। तुम्हें नाहिंमत कर रहा हूँ ऐसा तुम्हें लगेगा, पर ऐसा नहीं है। हमारा जीना, हमारा खाना, पीना, रहना, बोलना और बर्ताव करना ये सभी जीवनविकास के हेतु के लिए हैं, ऐसा जब संपूर्ण दृढ़ ज्ञानभान हो जाये, तब तो कहीं कोई आपत्ति नहीं है।

ऐसी दशा में संसार, समाज या संसार के रीतिरीवाज या स्थूल का बंधन – ऐसे किसी का अधिक महत्त्व रहता नहीं है। उपरोक्त दशा में एक प्रकार की ज्ञान में से प्रकट हुए विवेक की जुनूनी मस्ती प्रकट होती है। स्थूलता से भड़कते रहना यह भी योग्य नहीं है, परंतु स्थूल की मर्यादा और उसकी हद हमें ज्ञानपूर्वक बांधकर जागते रहना है। तुम्हारे जीवनविकास का थरमामीटर तो तुम ही हो न ? यदि तुम्हें किसी **जीव** के संपर्क से प्रेरणा और चेतना मिला करे तो वह बहुत ही आनंद की बात है। समाज या समाजनिर्माण से या उसके रीतिरीवाज से जरा भी श्रीप्रभुकृपा से **जीव** को भड़कने का होता नहीं है, परंतु स्थूल का तुम परिचय करना चाहो और भूलचूक से कदाचित् इससे तुम्हारी निंदा हो तो वह मुझे बहुत खराब लगेगा। इस **जीव** को तो कुछ भी खोना नहीं रहता। मैं तो यहाँ संसार से अकेला तनहा रहता हूँ, परंतु तुम्हें संसार में रहना है। तथापि फिर तुम उससे संपूर्ण रूप से निर्भय बनो और इसके साथ साथ संपूर्ण ज्ञानयुक्त विवेकी और नम्रतावाली बनो ऐसी हृदय की प्रार्थना है।

● ● ●

बालविकास में प्रेम का स्थान

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. २४-९-१९५१

बालक को बचपन से ही मान-अपमान ख्याल होता है। उस विषय में तो हम जितना समझ से बर्ताव करें उतना उत्तम है। बालक के जीवनविकास का आधार मातापिता के जीवन विषयक समझ के प्रकार पर भी रहा हुआ है। जीवन के विकास में माँ के हृदय का प्रेम यह बहुत बड़ा भाग निभाता है। माँ के हृदय में जो भावना है, उसका सही मूल्यांकन तो **जीव**दशा की अवगणना करके सचमुच समझ में आता

है । आज मुझे भी लगता है कि साधनादशा में मैं अपनी माँ को जो प्रेम करना जरूरी था वह कर नहीं सका था । आज मेरी माँ शरीर से जीवित होती तो उसके प्रति मेरे हृदय का प्रेम कितने गुना उमंगभरा ज्ञानभक्तिपूर्वक का होता । वह सारा प्रेम आज मैं प्रभुकृपा से 'हरिःॐ' के साथ निमित्तभाव से किया करता हूँ । उस बालक के साथ की मेरी भावना वह निपट मोह या संपूर्ण राग लगे ऐसा वह स्वरूप है । तथापि उस बारे में आज मैं किसी के आगे कोई बचाव नहीं करता हूँ । यह लिखने का हेतु तो इतना है कि तुम अपने बालकों को खूब प्रेम करना । फिर, वह **जीव** स्त्री का शरीर लेकर अवतरित हुआ है । इससे उसे संसार में कितनी विडंबनाओं से गुजरना पड़ेगा, उस समय में **जीव** को प्रेम का आधार यह सबसे बड़ा टेका होता है । आज भी **इस जीव** को ऐसे प्रेम की भूख रहती है और **इस जीव** ने ऐसा प्रेम करके जाना है और सामनेवाले **जीव** के पास से ऐसे हृदय के प्रेम का वैसा योग्य उत्तर न मिलने पर भी ।

प्रेमगाथा

प्रेम यही जीवन की नींव है और उसके निर्माण में उसका अति महत्त्वपूर्ण स्थान है । प्रेम के कारण ही अणु-अणु इकट्ठे होते हैं और फिर वह बिछुड़ते हैं, वह इकट्ठे होने के लिए । ऐसे बिछुड़ने में इकट्ठे होने का जागृतता से भान रहा होता है । पल से भी छोटी से छोटी पल के समय में यह सारी क्रिया चला ही करती है । प्रेम सर्जन, पोषण और नाश भी करता है । ऐसे उच्च प्रकार का सात्त्विक कक्षा से भी परे का प्रेम वह तो चेतन के सगुण स्वरूप का लक्षण है । ऐसे प्रेम की गर्भी धधगती अग्नि से अधिक गर्म लगे ऐसा भी हो, और शीतल मलयानिल से अधिक आह्लादक और ठंडक देनेवाली भी हो । ऐसा जलाना भी पसंद हो और ठंडक भी । दोनों स्थिति में वह कल्याणकारक ही हो । इसलिए प्रेमभाव तो उसके शुद्ध स्वरूप के ज्ञानपूर्वक के उपयोग की दृष्टि से किया करना हो । उसके पीछे हेतु का लक्ष तो जागृत रहना ही चाहिए । बढ़ई लकड़ी पर औजार का उपयोग करे, तब उसे कैसा आकार देना

है, उसका निश्चित संपूर्ण ख्याल उसके मन में जाग गया होता है । कहाँ, कितना, किस प्रकार काटना, कितना कैसे छीलना है, कहाँ रंदा कितना लगाना है, उसमें उसकी कला जैसा आकार गढ़ना होता है, उस अनुसार हथियार उपयोग करने पड़ते हैं । आकार तो उसके मन में रमा करती रहती है ।

प्रेम यह ऐसे प्रकार का हथियार है । प्रेम में बेसलीका नहीं है । उसमें संपूर्ण वास्तविकता होने पर भी उसके लक्ष्य का विधान हम में से भाग्य से ही कोई उसे उपयोग करते समय प्रत्यक्ष जागृत होता है । प्रेम यह तो शक्ति है । प्रेम की पोषणकला सूक्ष्म, अति सूक्ष्म है, सर्जनकला यह इतनी सूक्ष्म नहीं है । इससे वह परख आये ऐसी है, पर उसमें उसके प्रति एकाग्र और केन्द्रित हुई ज्ञानभक्ति का उपयोग करना पड़ता है। वैसी हृदय में सूझ प्रकट करने के लिए कदरभक्ति की भूमिका की बहुत बहुत आवश्यकता रहती है। कदरभक्ति की भूमिका जगी होती है तो प्रेम से सर्जन होता अनुभव कर सकते हैं। प्रेम से होता नाश वह उत्तम प्रकार के जीवन का रचनात्मक पहलू है । यह समझने के लिए हमारे में आँख और हृदय दोनों प्रकट हुए हो तभी हम समझ सकते हैं । बाकी तो उसे समझना और ऊपर की तरह स्वीकार करना यह तो भाग्य से ही किसी से हो सकता है। प्रेम यह जीवन के निर्माण के लिए है। वह हमें भी ऊँचे ले जाता है, और जिसके लिए उपयोग किया जाता है, उसे भी ऊँचे ले जाता है । वह दोनों रूप में कल्याणकारी है । प्रेम की वर्षा, प्रेम की शीतलता, प्रेम की उष्मा, प्रेम की गर्भी, प्रेम की आशा और उसकी सहानुभूति तथा उसकी प्रेरणा - यह सब सूक्ष्म प्रकार के आंदोलन हैं, उसका स्पर्श होते वह अणु-अणु में रोमांच पैदा करते हैं, जीवन को बहलाते हैं और जीवन में एक प्रकार की मुग्धता देते हैं ।

प्रेम जीवन में सौन्दर्य तथा कला प्रकट करके उसे एक सुशोभित सुंदर उद्यान बनाता है, जिससे हमारे मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहंकार सदा प्रफुल्लित रहा करते हैं । ऐसे खिलते जाते जीवनउद्यान से मधुर स्फुरित सुवास ऐसे जीवन को तरबतर कर देती है । यह सुवास उसके

जीवन की धन्यता का व्यक्तपन है । हम सभी का जन्म उसके लिए है । उसके लिए पहले तो धन्य होना पड़ेगा । जो जीव धन्य हुए हैं, ऐसे जो प्रेम का सच्चा मूल्यांकन समझकर उसका ऐसे या वैसे उपयोग कर सकते हैं। प्रेम यह जीवननिर्माण के लिए है और साधन है। तथापि वापिस वह साध्य भी है । इसलिए भक्ति से भी प्रेम का स्थान ऊँचा है । हृदय की भक्ति के बिना प्रेम संभव ही नहीं । जीवन में प्रेम की बात तब तो अणु-अणु बोल उठता है और उसके बारे में लिखने पर भी कभी वह लेख पूरा हो सके ऐसा भी नहीं होता। इससे हम सभी प्रेम का महत्त्व जीवन में समझें यह अति आवश्यक है । साथ ही साथ जीवन का प्रेम यह हमारा सच्चा मार्गदर्शक और सद्गुरु है। उसकी ज्ञानपूर्वक की हृदय की जागृति हमारे मन में झिलमिलाये तभी वह सचमुच काम का निकलता है ।

● ● ●

साधना में शरीर का स्थान

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. २५-९-१९५१

शरीर की सँभाल रखना आवश्यक है । उसकी चिंता करनी यह पागलपन है । वैसे उसे सहलाना यह सनक है, पर उसकी उचित देखभाल करना यह हमारा धर्म है । चेतन को अनुभव करने के लिए यह बहुत बड़ा साधन है । चेतन का अनुभव हो सके उसके लिए मानवशरीर जैसा दूसरा कोई साधन नहीं है । मनुष्य का देह दुष्कर' इस प्रकार के संस्कार समाज में अब भी जीवित रहे हैं । इसलिए हम अपने मिले हुए मनुष्य-शरीर का उपयोग उस तरह करते हो जाये तो उत्तम है ।

प्रसन्नता के लाभ

सदा आनंद में रहना। प्रसन्नचित रहने के बहुत लाभ हैं। जो **जीव** सतत प्रसन्न रहा करता है, उसकी कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय अधिक सूक्ष्म और सतेज बनती है । उसके ज्ञानतंतु आघात - प्रत्याघातों को सहन कर सके ऐसे बनते हैं । मन अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प करता रुक

तो नहीं जाता, परंतु अवश्य स्थिर हो जाता है । उसकी डगमगाहट कम होती है, अधिक रचनात्मक बनता है । बुद्धि सम बनती है । जीवन के सही राह के प्रति दृष्टि, सृष्टि अधिक सतेज होती है । प्राण के प्राकृतिक धर्म — आशा, इच्छा, कामना, तृष्णा, लोलुपता, काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर आदि में भी अंतर पड़ने लगता है । और उसके अहम् के प्रकार में भी अलग दिशा का भाव आता है । सतत आनंद में रहा करने से जीवन में मिलते अनेक उलटे, टेढ़े और सीधे प्रसंगों से **जीव** उलझ नहीं जाता । उसका शांत चित्त से सामना भी कर सकता है । उसके तारतम्य को अधिक अच्छी तरह से ग्रहण कर सकता है और समता और ताटस्थ्य ऐसे आनंद से इधर-उधर टहलते **जीव** में अधिक से अधिक जीवंत बनते होते हैं । जीवन को समझने की ताकत उसमें से जन्म लेती है ।

...हमें जो कुछ करना हो, वह स्पष्ट बतलाना तो सही कि जिससे कोई भ्रम किसी के मन में पैदा हो ही नहीं । भगवान का नामस्मरण खूब करते रहना ।

• • •

महत्त्वाकांक्षा रखो

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. २६-९-१९५१

जीवन में जिसे जीवनविकास की महत्त्वाकांक्षा जागती है, उसे किसी प्रकार की निराशा नहीं रहती है । महत्त्वाकांक्षा का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए जीवन में एक प्रकार का जोश आता है और हमारी बुद्धि को प्रेरणा के पंख लगते हैं और भावना का प्रवाह स्फुरित होता है । महत्त्वाकांक्षा का मनन मन में तैरता रहता है । उसका जुनून तो ऐसा होता है कि हम जो तो सभी कर्म करते हों, उसमें कर्म करते होने पर भी मानो संलग्न न हों ऐसा हमें लगता है । सचमुच में तो सही महत्त्वाकांक्षा और उत्कट अभिलाषा जीवन को पनपाती है । जीवन की महत्त्वाकांक्षा की कोई मर्यादा नहीं होती है । मर्यादा होने पर भी वह मर्यादा का स्वीकार नहीं करती है । तथापि ऐसे जीवन में स्वच्छंदता या उच्छृंखलता कभी जन्मती नहीं है । महत्त्वाकांक्षी जीवन को अपने लिए मात्र अपनी अकेले

की ही पड़ी होती है ऐसा उसका एकाग्र और केन्द्रित भाव हो जाता है । इसलिए श्रेयार्थी को सदा महत्त्वाकांक्षा रखा करके उसे अधिक से अधिक जीवंत करनी है ।

● ● ●

गुरु के साथ परिचय कब बढ़ायें ?

कुंभकोणम्   ॥ हरिःॐ ॥   ता. २७-९-१९५१

जिसे आध्यात्मिक मार्ग में जाना है, उस **जीव** को अपनी प्रकृति को ठीक से समझना चाहिए । 'किसी के भी अधिक निकट के स्थूल परिचय में आना वह उसके लिए हितावह नहीं है ।' इतने वाक्य का अर्थ दूसरी तरह भी हो सकता है । परिचय स्थूल, सूक्ष्म और कारण ऐसा तीन तरह से होता है । परिचय करने का उद्देश भी अलग-अलग होता है । फिर, हम अभी **जीव**स्वभाववाले होने से प्रकृति के द्वन्द्व से प्रत्येक के परिचय में प्रेरित रहा करते हैं, परंतु हमें तो जो परिचय साधना है, वह हमें जीवनविकास के मार्ग में उपयोगी हो इसलिए । अंधा व्यक्ति लकड़ी रखता है, वह मार्ग को खोजने के लिए । उस तरह स्थूल परिचय यह मुख्य हकीकत नहीं है, परंतु यदि परिचय साधने के लिए हमारी आंतरिक भावना उत्कट प्रकार की हो और जीवनविकास साधने के लिए हेतु का ज्ञान उस समय हमें जागा करता हो और फिर, हमारी भूमिका प्रेमभक्तिवाली हो यानी कि स्वीकार करने की जागृतियुक्त भूमिकावाली बनी हुई हो तो स्थूल परिचय से वह सूक्ष्म प्रकार का परिचय प्राप्त करेगा ।

ऐसे तो आमने-सामने दो **जीव** यानी कि दो जन स्थूल परिचय में हों तथापि दोनों **जीव** सूक्ष्म में मिलते रहते हों, जिस तरह एक ही प्रकार के बोलने से दो अलग अलग व्यक्ति अलग-अलग अर्थ निकालते हैं वैसे । जैसे कि उत्तम प्रकार के आम का एक पौधा उसे रास आये ऐसी जमीन में लगाया हो और वैसा का वैसा ही पौधा उसे सानुकूल न हो ऐसी जगह में लगाया हो, तो उस पौधे की जाति एक ही प्रकार की होने पर भी दोनों जगहों पर उस आम के फल के प्रकार में और प्रमाण

में जरूर अंतर पड़ जाता है और कितनी ही जगह तो वह वृक्ष को सानुकूल न हो, ऐसी जमीन न हो, वहाँ उसे उगाया हो तो वह कभी उगता भी नहीं है, ऐसा अनुभव से जाना है । फिर, मैंने तुम्हें लिखा था कि 'किसी के भी अति निकट के स्थूल परिचय में आने का करना वह हितावह नहीं है ।' हमें जीवनविकास करना है वह सही, और उसके लिए हमें साधन भी लेना रहता है, पर **जीव** अथवा मन को सूक्ष्म या कारण को पकड़ने की शुरू-शुरू में तो सूक्ष्मता प्रकट नहीं हुई होती है । इसलिए वह स्थूल प्रतीक का आधार लेता है । प्रतीक परोक्ष हो तो वह संपूर्ण निर्दोष और पूर्ण है, परंतु प्रतीक जब अपरोक्ष होता है, तब वह बहुतसारी बातों में पूर्ण और निर्दोष है, ऐसा मन या बुद्धि अतिशीघ्र मान नहीं सकते हैं ।

अपनेआप हृदय में उसके बारे में सहज स्वयं ही ऐसी परख जिसे हो गई हो और ऐसा हृदय का भाव जिसका बंध गया हो, उसकी बात अलग है । इसलिए हम जिसे सद्‌गुरु मानें उसका भी अनुभव से दृढ़ भरोसा हो जाय और ऐसा अनुभव साधक को मिले तो उसके बाद उसके मन में किसी भी प्रकार की डगमगाहट होना संभव नहीं रहती । ऐसा निश्चित आधार उसका ठोस होता है, उस समय स्थूल परिचय में किसी प्रकार की बाधा नहीं रहती है । फिर, तुम्हारी परिस्थिति अलग प्रकार की है । मेरे कारण तुम्हें बाधा आये तो वह मुझे असह्य होगा । संसार में हमें साहसिक बनना है, निर्भय बनना है और किसी के कुछ कहने से डिग न जाये ऐसा भी बनना है । परंतु अभी तुम्हारी प्रकृति कोई उलटासीधा कहे तो चिढ़ जाय वैसी है । तुम व्यक्त न करो तब भी मन में तो जरूर चिढ़ती है, यदि संपूर्ण नम्रत्व और विवेक आ जाय तथा कैसी भी परिस्थिति हो उसमें हम शांत, धीर और तटस्थ रह सकें तो कोई आपत्ति नहीं । इसलिए ऐसी स्थिति होने पर हम अपना सारा लक्ष बनाये रखे । गांधी आश्रम में मिलने आना । इसके लिए कोई मना नहीं है, पर अनुभव करके हृदय से भरोसा करते रहना । तुम्हारा स्वभाव भावनावाला है, तो ऐसे **जीव** को तो अधिक से अधिक सावधानी रखनी है ।

संसार कब तक सँभाले ?

जीवपन के क्षेत्र की उस पार की दशा का हाल में कोई ज्ञान नहीं है। इसलिए वहाँ सावधानी रखें पर रास आये ऐसा नहीं हैं, यह तो उसमें कूदकर ही कुछ समझ पड़े तो पड़े। साहस से कूद पड़ना तो है ही। ऐसी भावना दृढ़तर हो उसके लिए तो प्रभुस्मरण आदि साधन है। मीरा ने एक भजन में गाया है –

'चली, मीरा चली, मेरो कोई न रोकनहार।'

ऐसी मस्ती, जब जीवन में आती है, तब जगत के द्वन्द्व मार्ग से हट जाते हैं। कुछ अड़चन नहीं आती हैं। संसार का विचार थोड़ा भी तब नहीं रहता है। परंतु जहाँ तक संसार में हैं और संसार का विचार है, वहाँ तक संसार को फेंक देने से चलेगा नहीं। **संसार की रीतरसम हम चाहें या न चाहें तब भी वे सभी हम से चिपकी रहेंगी। संसार की अवहेलना और तुच्छता सहन करने की ताकत अभी हमें पैदा करनी पड़ेगी। संसार से जो *जीव* अलग निकलकर दूसरी तरह बर्ताव करता हैं, उसे संसार अवगणना करे बिना और अवहेलना करे बिना रहता नहीं है।** उस समय हमारी भूमिका पक्की न हो तो हमारी मानसिक दशा अपरंपार वेदना से भरी रहती है और हम मानो बिलकुल अकेले तनहा पड़ गये हों और जीवन में कोई साथी, संबंधी, नाता न हो और इतना ही नहीं, कोई सहानुभूति बतानेवाला भी न हो, ऐसी हमारी दशा हो जाती है। तेरे **इस जीव** में संपूर्ण विश्वास, श्रद्धा और भक्ति अचल हो जाय ऐसे समय में मुझे कोई चेतावनी देनी नहीं रहती है। ऐसी दशा में **जीव** स्वयं अकेला तनहा होने पर भी उसके अपनेआप में प्राण प्रकटा लिये होते हैं। आज समाज में तुम्हारी स्थिति अलग प्रकार की है। इसलिए मुझे तुम्हें लिखना पड़ता है। मुझे कोई संदेह नहीं है। इसलिए तुम्हें समझाने के लिए जो तो सब लिखा है।

● ● ●

सच्चे साधक की व्याख्या

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. २-१०-१९५१

काम करने में खूब उत्साह और आनंद आये तब काम सिद्ध हुआ गिन सकते हैं । वैसा काम करते करते प्रभुस्मरण भावना जीवंत रहे और उस उस पल में होते कर्म प्रभु को समर्पित करते रहें और ऐसी भावना जीवित रहे और प्रभुप्रीत्यर्थ यज्ञकर्मभाव से सकल कर्म किया करें तभी हम सच्चे साधक हैं ।

• • •

उष्मा व्यक्त क्यों न करें ?

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. ९-१०-१९५१

प्रभुकृपा से कभी न कभी तुम्हारे प्रति हृदय में उष्मा आये, पर तुम्हें पत्र में व्यक्त करना योग्य नहीं लगता । खाली खाली उष्मा से कुछ नहीं होता है । उष्मा की गति से कर्म में चेतन आये तो वह उष्मा काम की है । फिर, हमारे पत्र खुली किताब जैसे होने चाहिए । हृदय में जो भावना आये, उस भावना को यानी कि ऐसी भावना के शुद्ध स्वरूप को भाषा के स्वरूप में रखते उसे समग्र यथार्थ स्वरूप में सभी महत्त्व का माने या क्यों वह भी सोचने जैसा रहता है । 'पुनित प्रेमगाथा' में जो लिखना हुआ है, वह तो निजी हो चुके स्वजन विषयक - इसलिए वहाँ गलतफहमी का सवाल खड़ा नहीं होता था । भाषा को हृदय की तरह व्यक्त करने पर तुम्हें जरूर आश्वासन तो मिलेगा और तुम्हें एक प्रकार का बहुत अच्छा लगेगा और तुम्हारा मन प्रफुल्लित बनेगा, परंतु वह सब एक समय तक ही वैसा होगा । वह एक प्रकार का ऊफान भी गिन सके । ऐसे शब्द से मनहृदय को कितनी बार प्रेरणा मिलती है, वह सच है, परंतु एक तो तुम्हारे कुटुंब में **यह जीव** पूरी तरह परिचित नहीं है । फिर, तुम एक स्त्रीजाति हो और फिर विधवा हो, यद्यपि मेरे मन में इसमें से कुछ नहीं है । तथापि तुम्हारी परिस्थिति अलग है । तुम्हें तो सावधानीपूर्वक और वैसी भावना से जीवन में ज्ञानपूर्वक बर्ताव करना है ।

‘अमंगल’ प्रसंग मंगल कैसे हो

हमारे समाज में विधवा का जीवन एक प्रकार से देखें तो दुष्कर है। तथापि यदि जीवन के सामने उत्कट महत्त्वाकांक्षा से भरा ध्येय हो और उस ध्येय को पूरा करने के लिए किसी प्रकार से चटपटी हृदय को लगी हो तो विधवा का जीवन उत्तम प्रकार की भावना से बहता रह सकता है। प्रत्येक प्रसंग आशीर्वादरूप भी हो सकता है और अभिशाप भी हो सकता है।

वैधव्य में बहुत कुछ लादा जाता है

संसारव्यवहार में जहाँ जहाँ विधवा के जीवन में बलपूर्वक जो कुछ लादने में आता है, वहाँ वहाँ जैसे बांधा हुआ पानी गंदा होता है वैसा उनके जीवन में होता है, परंतु जिस **जीव** के सामने जीवित आदर्श पड़ा हैं, उसके जीवन में वैसा नहीं होता है। इसलिए तुम्हारा जीवन ऐसे आदर्श द्वारा रंगाया करें ऐसी हृदय की अभिलाषा रहती है। ऐसे जीवन में ज्ञानपूर्वक भावना का जोश और ज्ञानशक्ति की धीरज, समता, यथास्थित हल निकालने की हृदय की सूझ आदि यदि प्राप्त करने का बने तो जीवन में विकास होगा। **विधवा का जीवन कठोर तप है और ऐसे तो प्रत्येक *जीव* विधवा है, परंतु उसे उसके विधवापन का सच्चा भान जागा नहीं होता है, परंतु आज समाज की दृष्टि उसके सरल जीवन को यथायोग्यरूप से बहने देने के लिए इतनी निर्मल भावना से ज्ञानयुक्त हुई नहीं है।** समाज का ऊँचा कहलाता वर्ग विधवा को विधवा रखना चाहता है, परंतु समाज का आगे-पीछे का वातावरण निपट भोगविलास से भरा होने से विधवा के जीवन को योग्य प्रकार से प्रेरणा मिले, सहानुभूति मिले, इस प्रकार का तो बिलकुल नहीं है। जगत में हजार में से नौ सो निन्यानवे निंदा करनेवाले होते हैं। आज समाज में विधवा के जीवन में निरा कुचलनापन है। अपनी स्वयं उष्मा से साधारणत: कोई ऐसा जीवन पालता नहीं है। ऐसा जीवन पालन करने में इज्जत, प्रतिष्ठा, कुल की आबरू, पुरानी चली आयी परंपरा आदि अनेक सारी मान्यताएँ और गिनतियाँ पड़ी हैं।

भावनापूर्वक वैधव्य पालन करो

किन्तु हमें जो कुछ करना है, वह स्वेच्छापूर्वक अपने ही जीवन की भावना से जो तो करना है। ऐसे जीवन में तप और भावना का स्थान है। हमें तो समाज के मूल्यांकन से उच्चतम कक्षा में विहार करना है। हम समाज और कुटुंब से संलग्न हैं। इसलिए समाज और कुटुंब की परंपरानुसार जो जो प्रथा है, उसमें से जो तो सभी ज्ञानपूर्वक समझकर पालन करना है।

शांत वातावरण के लाभ

मनुष्य को पत्थर की दीवार के साथ भी प्रेम हो जाता है। यहाँ इस स्थान पर ऐसा हमें प्रेम प्रकट हुआ है। वहाँ यदि स्वजन न हो तो यहाँ से निकलने का मन न होगा। मुझे यहाँ रहना बहुत पसंद है। प्रकृति की सौंदर्ययुक्त समीपता और पूर्ण शांति यह जीवन में शांति देने में मददरूप होती है।

निर्धन धनवान स्थिति

जो तुम्हें लिखे पत्र हैं, उन सभी को प्रकाशित करने का तुम्हारा मन है यह जानकर आनंद हुआ। फिर, तुम लिखती हो उस अनुसार तुम देकर खुश हो यह भी यथार्थ है। उसके साथ-साथ तुम तंगी सहन करो अथवा तो पैसे के कारण संकोच हो वह भी अच्छा नहीं लगेगा। बाकी, जिसे अपना या मेरा कहूँ ऐसा कुछ मेरे पास नहीं है। जो तो किसी का दिया होता है और जो तो किसी को देना रहता है। और ज्ञान की भाषा में कहूँ तो ईश्वर का दिया होता है और उसे ही वापिस समर्पण करना होता है।

● ● ●

संवाद का अनुभव करने विसंवाद की जरूरत

कोचीन से केनेनोर जाते ॥ हरिःॐ ॥ ता. १५-१०-१९५१
चालू ट्रेन में से

जीवन में जहाँ–तहाँ विसंवाद भरपूर भरे हो ऐसा लगा करता है, परंतु उसके साथ साथ संवाद भी जीवन में रोमरोम में भरा पड़ा होता है। ऐसा यदि हमारे भाव में उग जाय तो जीवन में से विसंवाद को महत्त्व देता **जीव** अटक जाय । संवाद जीवन के अणु–अणु में व्याप्त रहता है और वह भी सहजता से, जब विसंवाद व्याप्त रहता है सही पर उसमें उतनी सहजता नहीं होती है । विसंवाद में घर्षण है, जब कि संवाद और सुमेल में आत्मा का विकास रहा है । और विसंवाद की स्थिति और गति में तो **जीव**पन की वृद्धि रही है । विसंवाद और संवाद के बीच **जीव** किसे पसंद करता है, उस पर उसके जीवन के विकास का आधार रहा है ।

विसंवाद के प्रकार भी अलग–अलग रहा करते हैं । **जीव** की **जीव**पन की भूमिका में जो विसंवाद को टालने के लिए मनुष्य के अंतर में संपूर्ण सद्‌भाव की, यज्ञ की जीवित ज्वालाएँ यदि प्रकट नहीं होतीं, तो वैसा विसंवाद टालना वह **जीव** के लिए अति कठिन है । विसंवाद से जो घर्षण होता है, वह घर्षण शांति, प्रसन्नता, समता, ताटस्थ्य, धीरज, सहनशीलता आदि गुणों को कभी भी विकसित करने का मौका लेने नहीं देता है। इतना ही नहीं, किन्तु उसमें से ऐसे प्रकार का मन में तनाव उत्पन्न होता है और रहा करता है कि जिसके कारण ऊपरी गुणों का जोश और गति दोनों अधिक से अधिक नरम पड़ते जाते हैं । साधक के जीवन में विसंवाद का भी स्थान है और वह भी उनके सद्‌गुरु–मार्गदर्शक, चेतानेवाला बन सकता है । विसंवाद होने के कारण तो अपने ध्येय के प्रति सावधानीयुक्त और होशियारीपूर्वक की जागृति उसमें कितनी आयी है, उसका उसे जीताजागता भान आता है। **कसौटी में जो मनुष्य हिंमतपूर्वक सामना करके सीधा खड़ा रहता है और टिके रह सकता है वह सही मर्द है । कसौटी में जिसका नूर झलकता है और अधिक तेजस्वी बनता है, वह जिंदा मनुष्य है ऐसा गिना जाएगा ।**

साधक के जीवन में विसंवाद का स्थान उसे अधिक बलवान, हिंमतवान, धीरजवान, साहसिक, उदात्त और विस्तरित होती जाती हो वैसी

विशालता तथा विसंवाद की परिस्थिति होने पर भी अपना वर्चस्व शांति, प्रसन्नचित्तता, समता, तटस्थता आदि गुणों के प्रति रहा करे और उसके लिए सजीव जाग्रत प्रयत्नों में विसंवाद के गजग्राह के युद्ध से वह प्रेरणा लेता रहता है। साधक के जीवन में और उसकी दृष्टि खुलने में और प्रसंगों से रहस्य पाने के लिए उसकी समझ की आँख को वह खोलता है। विसंवाद है तो अंधकारमय मुठभेड़ और उलझन का प्रदेश, उसे भी भेदकर उस पार देखने की दृष्टि - सुमेल के प्रति जिंदा झुकाव जिस मनुष्य का होता है उसके पास होता है। चेतन अणु-अणु में व्याप्त है और वह संवाद और विसंवाद दोनों में रहा हुआ है, ऐसा अनुभव खूब आगे जाने पर श्रेयार्थी को होता है भी सही। इससे हमें यदि चेतन का अनुभव करना हो तो विसंवाद में संवाद की दृष्टि को हृदय में जीवित रखकर हमें व्यवहार करना है। साधना में हमारा दृष्टिबिन्दु पका है कि क्यों इसका सबसे बड़ा प्रत्यक्ष लक्षण विसंवाद में संवाद की दृष्टि रही है कि क्यों वह है।

ऊर्ध्व भूमिका में विसंवाद

साधक की जैसे-जैसे ऊर्ध्व भूमिका होती जाती है वैसे-वैसे जीवन के विसंवाद का जोर घटता जाता है। और विसंवाद आता है तब भी उसके प्रति महत्त्व तो बिलकुल फीका हो जाता है। विसंवाद से उसके मन में कुछ भी खिंचाव उत्पन्न नहीं होता है। और शांति, प्रसन्नता, समता आदि गुण भी घायल नहीं होते हैं। इससे भी ऊर्ध्व भूमिका में विसंवाद का प्रकार बदलता है। और वह जब जब सूक्ष्म प्रकार का होता जाता है, तब साधक को वह कभी असावधान भी बना देता है। इतना ही नहीं, पर उसके स्वरूप की कल्पना या समझना भी अति कठिन हो जाता है और वह अति सूक्ष्म होने से अचानक हमला भी कर बैठता है। सचमुच साधक की ऐसे समय में जागृति भी विशेष चकोर बनी हुई होती है। साधक में जागृति होने से ऐसे हमलें के भाव को परख सकता है और उसका सामना कर सकता है। **जीवन की प्रत्येक भूमिका में युद्ध रहा है। युद्ध के बिना विकास संभव नहीं है। युद्ध होता है, तब अपनी समग्र** शक्ति को एकाग्र और केन्द्रित करने का भान संपूर्ण जागृत हुआ

होता है । समग्र चारों तरफ की सामना करने की तैयारी के लिए वह सदा कटिबद्ध रहता है और ऐसे युद्ध के अनेक पक्ष भी होते हैं । साधक को साधनापथ पर जीवन में ऐसे अनेक प्रकार के युद्धों का सामना करते-करते प्रसन्नता, शांति, समता, तटस्थता, धीरज, सहनशीलता, हिंमत आदि अनेक गुणों के बल का अनुभव करके उसका ज्ञानपूर्वक उपयोग करते रहना है । साधक उसमें से बल, गति और प्रेरणा भी प्राप्त करता है । इस प्रकार इससे जीवन का विकास होता रहने से साधक के लिए वह आशीर्वादरूप हो पड़ता है । इससे ही साधक कृतज्ञतापूर्वक उसमें श्रीभगवान की कृपा के दर्शन करता है ।

विसंवाद कैसे शांत हो ?

हम सभी **जीव**दशा में हैं और हमें यदि चेतन का अनुभव करना हो तो सुमेल को ही अत्यधिक महत्त्व देना चाहिए और विसंवाद उपजे तब उसमें संवाद की दृष्टि जिंदा रहे, इतना ही नहीं, किन्तु वैसा मौका हमें जीवनविकास के लिए प्रभुकृपा से मिला है, उस समय इस प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञानभान मन में हुआ करे वह अत्यधिक आवश्यक है । यदि ऐसा जीवंत ख्याल हृदय में रहे तो विसंवाद के जो जो निमित्तों बनें उन उन निमित्तों के प्रति हमारे मन में कभी भी शोक, खेद, द्वेष आदि कुछ भी नहीं हो पाएगा । हम उससे उलटा अधिक जागृत होंगे और जीवनविकास के लिए प्रेरणा प्राप्त करने में ऐसे निमित्तों ने मदद की है ऐसा साधक को लगेगा । इस प्रकार, साधक की दृष्टि ऐसे प्रसंगों में संपूर्ण रचनात्मक हो जाती है और समग्र संसारव्यवहार उसका मददगार बन जाता है । उस समय उसे अपने विरोध का तो कोई नहीं, बल्कि जो भी कोई है वह स्वयं की मदद करने के लिए है और जीवनविकास की गति में प्रेरणा देने के लिए है ऐसा अनुभव हुआ करता है । **असत्य भी सत्य को पाने के लिए भूमिका का साधन है ।** इसलिए यदि हम इस संसारव्यवहार, जगत में और प्राप्त स्वजनों के साथ के संबंधों में हमारी दृष्टि, वृत्ति और भाव जीवनविकास के प्रति जागृत रख सकें तभी ऊपर का निदान

बिलकुल सच ठहर सकता है, बाकी तो नहीं ।

● ● ●

गजल

मुंबई ॥ हरिः ॐ ॥ ता. २५-१०-१९५१

हृदय का भाव जहाँ जागे, सब वहाँ जीवन्त लगे,
हृदय का रस जहाँ जमे, सब तादृश वहाँ लगे ।

नहीं जुदाई तिलभर की, सारा रस वहाँ हृदय का,
हृदय में क्या समाकर, हृदय से वह बहे फिर ।

जगत दूसरा न वहाँ भासे, हृदय साम्राज्य क्या एक !
हृदय का फैलाव वहाँ, हृदय विस्तार वहाँ एक ।

हृदय को सजग करके, हृदय से जो मिले उसमें,
प्रवेश यदि कर सकें वहाँ, हृदय में तो मिले क्या !

हृदय को परखो

यह संसारव्यवहार, जगत और संपूर्ण ब्रह्मांड हृदय में समाये हुए हैं और हृदय से उत्पन्न हुए हैं । ब्रह्मांड कितना विशाल है ! उसका अंत नहीं है । इसलिए हमें अपने हृदय को ऐसा विशाल और अनंत बनाना पड़ेगा । हृदय को द्वन्द्व नहीं है और गुण भी नहीं है । वह भावात्मक (absrtract) होने पर भी फिर वह आखिर भावात्मक भी नहीं है । इससे उसे — हृदय को — ईश्वर की कक्षा में भी रख सकते हैं, परंतु तुम्हारे मेरे जैसों को तो कोई सूझबूझ नहीं है और समझ भी कुछ नहीं है । इस प्रकार, हमें यदि सच्चा जीवनविकास करना हो तो हृदय की परख का ज्ञान पाकर उसका अनुभव करना पड़ेगा । हृदय का जागृत ज्ञानभान हो तो जो तो सब अपनेआप समझ आया करेगा और हुआ करेगा यह जान लेना ।

● ● ●

उत्कट भावना की शक्ति

सूरत ॥ हरिःॐ ॥ ता. २१-१०-१९५१

हृदय के प्राण और भाव जिस विषय में जिस बात में रहा करे, उस विषय में और उस बात में मन अपनेआप स्वयं ही लगा करता है। जिस बात की बेसब्री हृदय रखता है, वह विषय और उसकी समझ सहजता से **जीव** में जागृत हो जाती है। भाव हो, पर उसमें हृदय की शक्ति उत्कटता से प्रेमभक्तिपूर्वक मिली न हो तो वैसा भाव मुर्दा जैसी दशा का गिना जाएगा। वैसे भाव से कोई उठाव नहीं हो पाएगा। हृदय की भावना को उत्कटता में प्रवेश कराकर चिंतवन के विषय में जोड़ देने की कला जो **जीव** को मिलती है, उसे चिंतवन के विषय का हार्द हाथ में आ जाता है और चिंतवन का विषय सदा सम्मुख रहा करता है। उसमें ही उसका मन सराबोर रहा करता है।

पहले तो 'राग' प्रकट करो

हम सभी तो अभी **जीव**कोटि के हैं, हृदय की शुद्ध और सात्त्विक प्रेमभावना की हमें क्या सूझबूज हो ? इसलिए हम तो ज्यों-त्यों 'राग' कर सकते हैं। 'राग' से अनुराग होता है। जिसमें राग होता है, उसमें हमारा मन लगा रहता है और उसके विचार भी किया करता है। उत्तम प्रकार की बात में राग हो, तो उस प्रकार का मनन आदि मन को हुआ करेगा। यदि वैसा अनुभव कर सकते हों तो राग हुआ है, ऐसा गिन सकते हैं। राग का लक्षण तद्रूपता का है। दूध और पानी दोनों मिलकर जैसे एक रंग के हो जाते हैं वैसे।

सद्गुरु का मूल्यांकन क्यों दुष्कर है ?

परंतु उसमें एक अंतर है, उसमें दूध का गाढ़ापन कम है और दूध की उत्तमता की मात्रा हलकी बनती है। उस प्रकार उत्तम प्रकार के भाव में जब सामनेवाले **जीव** का राग मिलता है और तब मूल आत्मा के भाव की असली उत्तमता तो उस सामनेवाले दूसरे जीव में पूर्ण नहीं रहती है। और असल के भाव के मूल स्वरूप को उसके मूल भाव से समझना

और उस तरह उसका मूल्यांकन करना यह दुष्कर तो है। भाव स्वयं प्रत्यक्ष आकार भी धारण कर सकता है। ऐसे प्रत्यक्ष आकार पाये भाव को हृदय से परखने की मेरे तेरे जैसे **जीव** की गुंजाइश नहीं होती। भाव को अनुभव करने के लिए प्रभु का कृपाप्रसंग जो प्राप्त हुआ होता है, उसमें हमारे हृदय की सही समझ उगी हुई नहीं होती है, तो जिस प्रसंग से उसकी महत्ता और उसकी असर हमारे आधार में जितनी होनी चाहिए, उतने प्रमाण में वह होती नहीं है। कितनी बातें तो सिर पर से बह भी जाती है।

सही लगनी की ही आवश्यकता

जो **जीव** की भावना जीवनविकास के लिए हुई है, वैसा **जीव** किसी जगह पर रुककर बैठता नहीं है। वह तो जीवन में प्राप्त अनेक अच्छे या बुरे प्रसंगों से स्वयं को जो रचनात्मक लाभ मिले, उसे वह ले लेता है। संसारव्यवहार में जहाँ जिसके साथ जितनी निसबत होती है या रहती है, उतने प्रमाण में हम वहाँ संबंध रखते हैं। उसी तरह यदि हमारी दृष्टि, वृत्ति और भाव जीवनविकास हेतु हुए हों, तो जहाँ तहाँ से हमारे मन का उठाव उस तरह का हुआ करेगा। इससे सही बात तो **जीव** को जीवनविकास की अभी संपूर्णतः कुछ पड़ी नहीं है। उस बात पर आते हैं। इससे हम अभी अत्यधिक कच्चे हैं। इससे हमें अभी अधिक सावधानी, होशियारी और जागृति रखनी है। नहीं तो हम कहाँ के कहाँ उलझ पड़ेंगे और उसकी सूझ भी हमें नहीं पड़ेगी यह जानना।

चेतनपुरुष वामन-विराट बनता है

बालक को चलाने में माता-पिता या दूसरे कितने नीचे झुककर, उसकी चलने की गति में मिलकर, उसे उंगली देकर बालक को चलाया करते हैं। जिसके साथ रहना है, जिसके साथ चलना है, उसके साथ मिले बिना और मिश्रित हुए बिना वैसा हो नहीं सकता है। जिस **जीव** को ऊपर लाना होता है, उसके साथ मिश्रित और मिलने का होने पर उसके साथ साथ ज्ञानभक्तिपूर्वक की सँभली ताटस्थ्य और समता शांति की

भूमिका पूर्ण जीती–जागती रहा करती हो, तभी वैसा होता है । बालक की अनेक चाल और खेल में हम उसके साथ तद्रूप हो जाते हैं । उसके साथ उस तरह से संलग्न होकर उसके पास जो कुछ करवाना होता है, वह करवा भी सकते हैं । माता–पिता को इस तरह नीचे उतरना होता है, उसमें संपूर्ण सहजता है । उन्हें वहाँ झुकने या दूसरे किसी तरह का ख्याल तक नहीं रहता या होता नहीं है । उसी तरह चेतन की दशा को प्राप्त प्रेमज्ञानभक्तियुक्त आत्माएँ अपनी आकाशमय स्थिति से कितने ही नीचे उतरते हैं, तथापि आकाश की दशा से वे विमुक्त हुए नहीं होते हैं । उनकी हृदय की चेतना का संपर्क हर किसी स्थिति में उनमें जागृतरूप से रहा ही होता है । वे तो जैसे हैं वैसे के वैसे हैं ।

स्वप्रयत्न बिना की साधना कब हो ?

जगतव्यवहार में जो कुछ हमें करना होता है, उसमें हमारा मन लग जाता है । हमें जीवनविकास के प्रति काम अभी लगा नहीं है यह बात निश्चित है । तो जिसके पास पैसे नहीं और कमा करके पैसे इकट्ठे करने हैं, वैसे **जीव** को तो अत्यधिक मेहनत करनी होगी, यदि पैसे कमाने हो तो बैठे रहकर कुछ हो नहीं सकेगा । हमारे लिए दूसरा कोई करेगा, इस बात में कोई माल नहीं है । कोई उच्च प्रकार के संतात्मा में सौ के सौ प्रतिशत हमारा मन, बुद्धि, चित्त, प्राण, अहम् और हृदय पूर्ण पिघल और मिल गये हों, तो हमारा जो तो सब हुआ करता है, वह सत्य हकीकत है, परंतु हमारा वैसा हुआ नहीं है और वैसा होना यह तो अति दुर्घट घटना है । हमारे उस तरफ के जीतेजागते प्रयत्न प्रेमभक्तिपूर्वक हुआ करते हो, तो आज नहीं तो कल इससे हमारी भूमिका में अंतर होना चाहिए ।

स्वप्रयत्न करो वह कब फलेगा ?

यदि अंतर पड़ता अनुभव न हो तो उस प्रकार की मिथ्या भ्रमणा में मत पड़े रहना । ऐसी आँखमिचौली करने से जीवन की शोभा कभी बढ़नेवाली नहीं है, जीवनविकास भी नहीं होगा । इसलिए हमारे लिए तो अपने हाथपैर हिलाना यह उत्तम बात है । फिर, यदि कोई ऐसी उत्तम

आत्मा हो, तो उसमें हमारा मन, बुद्धि, चित्त, प्राण, अहंकार और हृदय प्रेमभक्तिज्ञानभाव से संलग्न करने का जागृत प्रयत्न किया करें और उनको अपनी दृष्टि के समक्ष रख रखकर सकल कर्म किया करें, वैसी भावना जीवंत रखकर हम नामशेष बनते जाये । ऐसा होने के लिए हमारी प्रत्येक पल सजीवन हुई होनी चाहिए । एक पल भी बेकार न जाय, उसकी सावधानी रखनी पड़ेगी । संसारव्यवहार और कुटुंब में अनेक **जीव** के साथ काम पड़ता होने से उनकी बातों और काम में हम फँस जाय । उस समय जागृत बनें । समय पर चेतें और हम जीवन की बात में रमा करते हो तभी कुछ हो सकता है ।

भावना मापने का तापमान यंत्र

जगत में अनेक **जीव** प्रेम की बात करते हैं, परंतु वे प्रेम के तत्त्व को समझते होते नहीं है । हृदय का प्रेमभाव हो तो हृदय हृदय को अभेद बनाता है, एकात्मभाव लाये और उस तरफ का उसका जीताजागता भाव रखवाया करेगा । जिसमें हृदय का प्रेमभाव जागा हो, वह उसे उसके स्वरूप करेगा । उसी दृष्टि और वैसे मूल्यांकन से हम अपने हृदय की भावना को पहचानें और समझें ।

नम्र और शांत रहो

सदा नम्र से नम्र रहें । सर्व प्रसंगों और घटनाओं में शांत से शांत बने रहें । अशांत होने पर प्रभु की प्रार्थना करें । **जीव** प्रकार के नकारात्मक भाव, वृत्ति और विचारों को उनके उठते समय ही सभान होकर हम रचनात्मकरूप से मोड़ दें, तभी हमारा कुछ लाभ है ।

उच्चात्माएँ आकर्षण करती हैं

जीवन में जैसा होना है, उसकी यदि लगनी न लगी हो तो वैसा कभी नहीं हो सकते हैं, परंतु हम सब तो संसारी **जीव** हैं । इसलिए भगवान की कृपा अथवा तो कर्मप्रारब्धसंयोग से कोई उच्चात्मा के साथ टकरा पड़े तो वैसे लोग हमारे जैसे **जीव** को खींचने के लिए

किसी न किसी प्रकार का आकर्षण हम में पैदा करते हैं। उस आकर्षण द्वारा यदि हम प्रभुस्मरण की भावना को निरंतर एक-सी जीवंत रख सके तो वह आकर्षण उपयोगी हो सकता है। वह आकर्षण जैसे जैसे उपयोग में लाया जाता है और उसमें यदि हमारे हृदय की ज्ञानभक्ति की समझ जीतीजागती जुड़ती है, वैसे-वैसे उस आकर्षण का प्रकार और आकार भी बदलता जाता है। बालक को हमारी तरफ आकर्षित करने के लिए बालक की तरह चालढ़ाल का हम आचरण करते हैं। उस प्रकार उच्चात्माएँ या संतात्माएँ भी अनेक अलग-अलग प्रकार के **जीवों** को जीवन के प्रति आकर्षण करने के लिए उन उनकी तरह के ज्ञानपूर्वक के भाव लेते होते हैं।

समझदार *जीव* उसका लाभ बहुत उठाता है

परंतु समझदार **जीव** तो उनके हृदय के आकर्षण के प्रभाव द्वारा जीवन की भावना को उच्चतम बनाने और अपने सभी प्रकार के दोषों को निरख निरखकर, उसमें से टले जाने को मथा करके, एकमात्र प्रभुस्मरण की भावना में ही रमा करने का हृदय से चाहा करता है। इस प्रकार के **जीव** वैसे जन्मे हुए आकर्षण का सच्चा उपयोग कर सकते हैं। जो **जीव** आकर्षण को बेकार जाने देता है, आकर्षण द्वारा जो **जीव** जागता नहीं है, वह **जीव** मृत पड़े समान है।

सद्‌गुरु की आरज़ू

हमारा हृदय तो प्रेमभावना से सदा कोमल कोमल रहता है। हमें तो हृदय में भावना की प्रचंड ज्वालामुखी के समान भूख लगी होती है। वह कभी बुझती ही नहीं। इसलिए कृपा करके हृदय से पर्याप्त भान रखना। **जीवित होना और जीवित रहना, माबाप ! हृदय की भावना द्वारा खूब नामस्मरण लेते रहना। संसारव्यवहार में प्राप्त काम तो करती रहना सही, परंतु हृदय तो भगवान की भक्ति में ही रखा करना।** संसार में प्राप्त अनेक प्रकार के **जीवों** के साथ के संपर्क में उन उनके विषय में ऐसे या वैसे किसी प्रकार के विचार हमें टकरायें नहीं,

इतना जीताजागता भान रखना । हमेशा सद्‌गुण के भक्त बनें । हो सके उतना कम से कम बोलें । हमारे हृदय में तो आग प्रकट हुई है । वह सभी प्रभुकृपा से प्राप्त **जीव** को शांत कर सके तब सही । तुम पर जो आशा है, वह आशा तुम्हें फलित करनी है ।

● ● ●

साधक का संसार में व्यवहार

सूरत ॥ हरिः ॐ ॥ ता. २३-२-१९५२

संसारव्यवहार में अनेक **जीवों** के साथ मिलना हुआ करता है । अनेक काम में शरीक होना पड़ता है, परंतु उस समय हमें तो अपने जीवन के आदर्श की भावना में ही ज्ञानभक्तिपूर्वक रमा करना हुआ करे इतनी जागृति रखनी है । जो जैसे हुआ करता है, उसमें हम उस तरह व्यवहार न करें । किसी के साथ भी बन सके तक भूलचूक से भी टकराहट न हो जाय, उसके लिए अति सावधानी रखनी है । संसारव्यवहार में सहन करते हुए और वह भी प्रेमभक्ति से सहन करते हुए जो **जीव** सीखता है और वैसा सहन करने में जीवन की भावना दृढ़ करने का जिसे ख्याल रहता है, वैसा **जीव** साधना कर सकता है । **ऊब या त्रास, यह तो नामर्द या कायर का काम है ।**

● ● ●

मुंबई ॥ हरिः ॐ ॥ ता. २८-२-१९५२

जीव जीव के बीच जो आकर्षण होता है, उस आकर्षण द्वारा जो उष्मा होती है, उस उष्मा के बल द्वारा प्रभु की भावना को एकाग्र करने में और केन्द्रित करने में जागृतिपूर्वक तनदिही रखनी होती है । जीवन को **जीव**स्वभाव के अनेक प्रकार के आवरणों से ऊँचाई पर ले जाने के लिए वह प्रेरणादायक होना चाहिए ।

शांति की स्थापना कैसे ?

हम जगतव्यवहार और संसार के सकल कुछ कर्म करते करते जैसा होना है, जो करना है, उसके वैसे विचारवाला होकर या रहकर, बारंबार

उसीमें ही मन लगाकर, वह सब किया करना है। **संसारव्यवहार में प्राप्त संबंधवाले जीवों के साथ हो सके उतना कम से कम संघर्षण हो, वैसा हमें प्रभुकृपा से व्यवहार करना है ।** मन को शांति, प्रसन्नता, धीरज, समता आदि की दशा में रखने के लिए, हमें वैसी समझदारी की भूमिका रचनी पड़ेगी । इसके लिए उस तरफ का हमारा सजग जागृत भाव हृदय में प्रकट हुआ होगा तभी सफल हो सकेंगे। संसार में तो अनेक प्रकार के प्रसंग उपजा करते हैं । **अलग-अलग प्रकृतिवाले जीवों के साथ रहना होने से मुठभेड़ के प्रसंग भी होते हैं, परंतु वे सभी हमारी परीक्षा और कसौटी के लिए हैं । मन को शांति, समता, तटस्थता आदि गुण विकसित करने के लिए ये कृपामौके हैं, ऐसी ज्ञानपूर्वक की जागृति हृदय में विकसित करनी है, उसका हम मन को बारंबार भान करवाते रहें ।**

त्राटक के लिए स्थूल-सूक्ष्म उपाय

तुम आँख में कौन-सी दवा डालती हो उसका नाम लिखना । रात को सोते समय गाय के दूध में डूबोकर रुई का फाया भी रख सकते हैं। वह दूध गर्म किया न हो उतनी सावधानी रखना । दिन में तीन बार गर्म पानी में नमक डालकर गरारे भी करना। ध्यान और त्राटक का प्रयोग ऊबकर छोड़ मत देना । **ध्यान के समय जो विचार आते हैं, वे अपनेआप बह जाय उस तरह साक्षीभाव से रहा करना ।** उस समय आते हुए विचारों के साथ हम अपनेआप उससे संबंधित दूसरे विचारों की शृंखला न जोड़ें । ऐसा अभ्यास जारी रखें । आँखों को साफ चौड़े बर्तन में ठंडा पानी डालकर उसमें डुबोये, और उसे उसमें खोलबंध करें ।

सायला में पूज्यश्री नानचंद्रजी महाराज की बातें मुझे जानने जैसी हो और लिखने जैसी हो वह लिखना । अब तुम्हें ससुराल में ठीक से पालथी मारकर रहना है। मन हो तब अथवा मन अशांत हो, कुछ कठिनाई हो, कुछ भारीपन लगा करे, कुछ बेचैनी लगे ऐसे समय में गाँधी आश्रम में जाकर प्रार्थना के कमरे में बैठकर प्रार्थना कर आना ।

सुबह उठकर हमारी नजर हृदय समक्ष श्रीगुरु की चेतनाशक्ति को सकल कुछ कर्म करते करते रखा ही करनी है । कोई अभिनव स्वप्न आये वह भी लिखना । तुम्हें अब नामस्मरण पर खूब झुकाव देना है ।

सद्‌गुरु के साथ हृदय का तार बाँधो

मार्च की अठारह तारीख को भाई मौन में बैठ जाएँगे । तुम हो सके उतना बोलना कम कर देना । गुरुवार का पूरा दिन नामस्मरण में ही बिते इस तरह की शुरूआत करना । प्रत्येक दूसरी तारीख को हृदय की भावना से गुरु की चेतनाशक्ति के स्मरण में रह सके ऐसी ज्ञानभक्तिपूर्वक की सावधानी रखना । प्रत्येक गुरुवार को रात के साढ़े नौ से साढ़े दस तक प्रभु की प्रार्थना में तुम्हारे स्मरण को समर्पणभाव से यज्ञ में होम करने का इस **जीव** से हुआ करेगा, तो तुम्हें भी प्रत्येक गुरुवार को प्रार्थनाभाव से रहना, बोलना नहीं ।

सद्‌गुरु का भाव क्यों शीघ्र परिणत नहीं होता ?

इसके साथ तुम्हें सूरत से लिखा पत्र वापिस भेज रहा हूँ । उसमें दूध-पानी का जो उदाहरण दिया है, वह तो इतना समझाने के लिए है कि उत्तम प्रकार की भावना होने पर भी **जीव** कोटि का **जीव** असल भावना को उसके मूल असल के स्वरूप में रहने नहीं दे सकता है । भावना के असल स्वरूप की मूल उत्तमता और सघनता **जीव** स्वयं अपने द्वारा दूसरे प्रकार की कर डालता है, उसमें अपना स्वरूप और प्रकृति मिला करके । इससे हमें उस विषयक खास जागृति रखनी है । एक बार कोई उच्चात्मा का अनुभव उसकी चेतन की कक्षा में और **जीव** कक्षा से ऊपर की दशा में संपूर्ण भरोसे के साथ हमें हुआ हो, जिसके बारे में कहीं किसी प्रकार की हमें शंका न रहे, तो फिर उसके उस प्रकार के दूसरे व्यवहार में दूसरा कुछ आगे-पीछे होने जैसा न हो, वह सोचने का काम भी हमारा होगा । फिर, उत्तम प्रकार के संतात्मा के भाव में जब सामनेवाले **जीव** का राग मिलता है, तब सामनेवाले **जीव** में उस

उच्चात्मा के मूल असल स्वरूप के भाव की जो उत्तमता की असर प्रकट होनी चाहिए वह प्रकट नहीं हो सकती है । अलबत्ता, उस काल तक । इसलिए हमें हृदय के भाव की उत्तमता और उत्कटता बढ़ाया करनी है और इस तरह यदि विकास करें तो असल के मूल भाव का हमारे में जरूर अवतरण कर सकेंगे ।

गुरु के प्रति विरोध कैसे शांत हो ?

संतात्मा और **जीव** के शुरू शुरू के संपर्क में माथापच्ची **जीव** स्वभाव को अवश्य होगी, परंतु तब **जीव** को अनुमान लगाने या मत बांधने को एकदम तैयार नहीं होना । अनुभव से प्राप्त समझ को बारंबार जीवित करे । हृदय में हृदय से भावना को विशेषरूप से जागृत करें । जो कुछ न समझ में आये तो उसे जरूर पूछाना । उसमें किसी प्रकार का संकोच नहीं रखना । सर्व प्रसंगों में तुम जागृत रहा करो ऐसी आशा प्रभुकृपा से रख रहा हूँ । **एक के बाद एक पुस्तक पढ़ते रहना । पूरे हो जाय तो फिर से पढ़ना ।** पूज्य बा को मेरा सप्रेम प्रणाम । खूब आनंद में रहना ।

● ● ●

मद्रास (चेन्नाई) ॥ हरिःॐ ॥ ता. ५-३-१९५२

गत समय मुसाफिरी में लिख सकता था, क्योंकि 'कलम' पास में ही रहती । तुम्हें भी जो कुछ खास लिखना हो वह ता. १८-३-१९५२ के बाद ही लिखना । यहाँ **इस** शरीर को रक्त का दबाव बढ़ गया है, इससे घर में पड़ा पड़ा लिख रहा हूँ । गत साल भी मद्रास में तुम्हें पत्र लिखते-लिखते ऐसा ही हुआ था । उसका ऐसा उल्लेख पत्र में है । पूज्य मातापिताजी को मेरे बहुत-बहुत सप्रेम प्रणाम । पूज्य बा को मेरे बदले खबर पूछना । पुत्री की पढ़ाई में सावधानी रखना और उसे प्यार करना । भगवान का नाम अत्यधिक लेते रहना ।

● ● ●

मद्रास (चेन्नाई) ॥ हरिःॐ ॥ ता. ६-३-१९५२

पूज्यश्री नानचंद्रजी महाराज की कही हकीकत तुमने जो लिखी वह पढ़ी है । महान आत्माओं की हकीकत ही अलग होती है ।

सुनिश्चित अर्थात् क्या ? उससे लगे रहो

जीवनविकास के प्रति संकल्प को दृढ़ करते ही रहें । जिसका निश्चय दृढ़ और सजग होगा, उसका मन कहीं ऐसे या वैसे भटकेगा नहीं । निश्चयी हो या रहे तो वह सदा जीवंत रह सकेगा । वह कभी चलित या डिग भी न सके । **निश्चय अर्थात् जीवनध्येय के प्रति दृष्टि, वृत्ति, भाव आदि को उसकी (ध्येय की) गति में एकाग्र, केन्द्रित और भावमय रहा करने की दशा जिसमें दृढ़ होती जाती है वह ।** इसलिए जीवन के रचनात्मक भाव के लिए किये हुए निर्णय को तो मृत्यु आये तब भी लगे रहना है । जीवन में जो **जीव** ऐसा जोश ला सकता है, उसका जीवन धन्य है ।

'प्रेम-शौर्य द्वारा पथ में रहना ।
मृत्यु भले आये ।'

उसका सदा स्मरण करती रहना ।

जीवन में शांति की जरूरत

जिसे जीवन का विकास करना है, ऐसे **जीव** को शांति, समता, तटस्थता, प्रसन्नता, सहनशीलता, परम सहिष्णुता, उदारता, मानसिक विशालता, धीरज, सभी के सद्गुण परखने की कदरदानी, दूसरों की अत्यधिक हृदय की परवाह करने की भावना आदि गुण विकसित कर करके जीवन में जीवित करते रहना है यह जान लें । चित्त में शांति, प्रसन्नता आये बिना कोई नवसर्जन हो ही नहीं सकता है ।

सब कुछ करते रहें, तथापि स्वयं अपने में एकाग्रता से, केन्द्रितता से, हृदय की मस्ती से लीन रहा करें, तो ऐसा **जीव** ध्येय को प्राप्त कर सके ।

जीवन में प्राप्त होती सभी परिस्थिति तो श्रीप्रभु की कृपालीला है, इस भाव से ज्ञानभक्तिपूर्वक अपने ही जीवन के कल्याण के लिए स्वीकार करना है । कुछ भी बेकार नहीं हैं ।

दिया ही करो

श्रीभगवान के चरणकमल में सकल कुछ पाप और पुण्य दिया ही करो । इसलिए जो जो विचार, वृत्ति, भावना, ऊष्मा, वासना, मोह, राग, कामना, आशा, इच्छा, लोलुपता आदि जो जो उपजे वैसे वैसे वह सब उसे ही प्रेमभक्तिभाव से समर्पण करते रहना है । मन को तो खाली का खाली रखा करने की ज्ञानपूर्वक की वैसी कला यदि सीख गये, तो फिर निर्भय हैं । **जो जो विचार उठे, उसमें अपनेआप ही उससे लगते दूसरे विचारों की शृंखला हम जोड़ते न रहें ।**

सद्‌गुरु का लगातार स्मरण करो

मन को भावना, भक्ति में संलग्न रखने का अभ्यास विकसित करना है । जिसे गुरु या जीवनविकास का मार्ग बतलानेवाले मित्र, सखा, बुजुर्ग या हृदय का स्वजन हमारे हृदय में हृदय से सचमुच माना हो, तो वह मन-आँख-हृदय के आगे से जा कैसे सकता है ? **इसलिए उसे सामने के सामने रख-रखकर सकल कर्म मनहृदय से शांति और प्रसन्नता से, कर्म में दिल लगा करके नहीं, फिर, जीवन का जो सद्‌गुरु है उसके स्थूलपन में भी नहीं, पर उसकी चेतनापूर्वक की भावना में पिरो-पिरोकर सकल सभी करते रहना है ।** टेढ़ामेढ़ा हो जाने पर उसकी कृपामदद हृदय से याचना करनी है । उसे हृदय से खिसकाना ही नहीं । भावना की उत्कटता जैसे जैसे जीवित और बढ़ती जायेगी वैसे वैसे भावना की बात प्रत्यक्ष आकार लेती अनुभव कर सकेंगे यह जान लेना ।

पूज्य बा और पूज्य पिताजी को भी सप्रेम बहुत बहुत प्रणाम कहना । भाइओं को भी ।

सायला पुस्तकें भिजवानी हो तो मेरी ना नहीं है, पर वहाँ से उत्तर आ जाने दें । उत्तर मिलने पर जरूर भेजेंगे । तुम्हें पैसे देने की आवश्यकता नहीं हैं ।

• • •

मद्रास (चेन्नाई) ॥ हरिःॐ ॥ ता. ८-३-१९५२

पूज्यश्री नानचंद्रजी महाराज का पत्र आज आया है। उन्होंने पुस्तकें मंगवायी हैं । तो तुम गांधी आश्रम में जाकर सभी पुस्तकें निकलवाना। वे डाक द्वारा भेजनी हों तो डाक का खर्च हो तो भले ही हो, पर आश्रम में उन्हें मेरे खातें में लिखवाना है यह जान लें । तुम्हें वह खर्च देना नहीं है । पुस्तकें भेजने की व्यवस्था करना ।

• • •

मद्रास (चेन्नाई) ॥ हरिःॐ ॥ ता. ९-३-१९५२

गजल

हृदय के भाव में जब उगे पूरी आतुरता द्वारा
और वह भाव का सामने से होता सत्कार न नीरखूं;
हृदय को क्या हृदय चाहे ! तथापि सामने से फिर ना
-मिले दिल से प्रत्युत्तर, हृदय पीछे पड़ता वहाँ ।
हृदय का भाव जाने जो, हृदय का भाव समझे जो,
गिरते भाव वापस ना पड़े उसे सूझबूझ वह ।
हृदय की वेदना उसे होती क्या क्या अरेरे ! हाँ !
जान वह कौन सके उसे किस तरह कर दिखााऊँ हाँ !
हृदय की भावना की रहती है जागृति जिसे,
हृदय वह भाव सत्कार कर स्मरणकर भाव को जीये ।
हृदय में जो जीये उसे हृदय को स्वयं समझे वह;
बिचारे गरीब दूसरे हृदय को कैसे समझें वह ?
हृदय की भावना पूरी जियाकर जीता है जो,
हृदय के भाव को स्वयं जीवनवर्तन के प्रति प्रेरे ।
जीता है जो भावना में जीवन सर्वस्व जिसे वह,

जीवन को दे न टूटने जीवन कमाते रहते हैं वे ।
जीवनसौभाग्य का मूल्य चुकाना तो पड़े भारी;
चुकाने में हृदय जिसे उत्साह, यज्ञ सच्चा वह ।
हृदय की मस्ती की झाँकी कराते रहो स्वजन प्यारे !
स्वजन-वर्तन से जीने का हमें तो रहा जहाँ तहाँ ।

सद्‌गुरु की लाज रखो

तुम्हें माँगते हुए संकोच होता है, तो वैसा संकोच भी टूटना ही चाहिए । वैसा यज्ञकर्म भी सहजता से, प्रेमभक्ति से ज्ञानपूर्वक हुआ करे तभी उत्तम । मुफ्त में मैं मानता नहीं । जिसकी तिसकी कीमत देनी ही पड़ती है । जीवन, जगत या व्यवहार में जो तो कुछ भी अपने आप मिलता नहीं है । तुम्हारे जीवनव्यवहार द्वारा हमारी आबरू टिक सकती है । तुम्हारे भाव द्वारा शोभित होना है । अब तो तुम पर लिखे पत्र भी छपे हैं और यदि वैसी भावना के ज्ञान अनुसार तुम्हारा योग्य व्यवहार न रह सका तो तुम्हें और मुझे मरने जैसा होगा । इसलिए गरीब को दया करना । मुझे तो यश या आबरू का डर कहीं कुछ नहीं, परंतु तुम्हारा यश बढ़े और तुम्हारी प्रतिष्ठा में वृद्धि हुआ करे ये देखने की दिल में चाहना, भावना है । तुम्हारी कीर्ति जाय तो मुझे मृत्यु से भी अधिक सालेगा, यद्यपि मृत्यु तो मुझे जरा भी न सालेगी । उसे तो प्रेम से भेंट सकता हूँ, परंतु तुम्हारे कारण मुझे शर्म से नीचा न देखना पड़े ऐसी और उतनी तुम जीवित रहा करना, इतनी मेरी तुमसे हृदय की प्रार्थना है । मेरी लाज तो तुम रखो तो रहनेवाली है ।

● ● ●

सद्‌गुरु को क्या देना चाहिए ?

मद्रास (चेन्नाई) ॥ हरिःॐ ॥ ता. ९-३-१९५२

तुम्हारे हाथ से काती हुई सूत की खादी मुझे पसंद न आये ऐसा हो ही कैसे सकता है ? मेरे पास खादी बहुत है । **इससे दो चादर रोज बिस्तर पर बिछाने की तुझे उस खादी से बनानी है । रोज बारीबारी**

धोकर उसे उपयोग करना । रोज रात को सोते समय सभी धोकर पहना हो तो उत्तम, सोते समय रोज रात को हाथ, पैर, मुँह ठीक से धोकर सो जाना । पास में अगरबत्ती करके प्रार्थना करके सोना है । सोते-सोते नामस्मरण करते-करते नींद आ जायगी, इससे सो जाओगे । मुझे देने की खादी की चादरों का चेतना की स्मरणभावना में तुम ज्ञानभक्तिपूर्वक उपयोग कर सको तो यह **जीव** को बहुत अच्छा लगेगा । मुझे तो बहुत बहुत लेना है । अभी तो लेना थोड़ा बहुत ही शुरू हुआ है । पर मेरी तो तुझे प्रार्थना है कि तुम जो तो सब दिया ही करना । ***जीव*स्वभाव का जो तो सब — पाप और पुण्य सभी दिया करना । जो जो विचार, वृत्ति, भावना, ऊष्मा, मनोभाव, विकार, राग, मोह, क्रोध, काम, मद, अहंता आदि जो जो मिले, जो जो उगे, उठे, वह सभी उस उस पल, ज्ञानभक्तिपूर्वक देने की जागृति रख रखकर दिया ही करना । ऐसा कर-करके संपूर्ण खाली के खाली हुआ करना है ।**

देने की श्रेष्ठ साधना

जब फोड़ा हुआ हो और पकने लगे तब डॉक्टर उसे दबा–दबाकर सारा मवाद निकाल डालता है । फिर घाव न भरे वहाँ तक जो कुछ हो, वह करने की विधि करनी ही पड़ती है । उस तरह **जीव** का **जीव**पन जो जो सब है, वह सब **जीव** को समझ समझकर और पूरा–पूरा निकालने हृदय की हुलासभरी तैयारी करनी रहती है । मात्र तैयारी ही नहीं, परंतु उसकी प्रत्यक्ष वर्तनकला उसे जीवन में लाया करनी है । हमें तो ऐसा तुम्हारा बहुत बहुत लेना है । ऐसी लेने की विधि हो, उस उस समय वह वह **जीव**पन का देने का ज्ञान प्रत्यक्ष हृदय में यदि तुम्हें होता रहे, वैसा हृदय का ज्ञानभक्तिपूर्वक का भाव तुझ में जीवित झिलमिलाता रहा करे तो वैसी देने की साधना सिद्ध कर सकते हैं । **जीव** को अनेक प्रकार का देना होता है । ऐसी देने की कला जिस **जीव** प्रेमभक्तिपूर्वक जीवन में फैलाता है, उसे कुछ सिखाने जाना नहीं पड़ता है । स्वयं संपूर्ण खाली हुए करना है और वैसा होना अति आवश्यक है, ऐसा जिस **जीव** को लग जाता है, वह तो उसका महत्त्व अपनेआप समझ सकता है । उसमें

तू प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक जागृत रहे और वह सब देने का हृदय से किया करे, तो वह जीवनविकास के लिए उत्तम है । ऐसा ऐसा तू दिया करे तो वह अति उपयोगी होगा । मात्र अकेली खादी देने से क्या होगा ? खादी का तो तुम्हें सूचित किया है, वह उपयोग तुम्हें करना है । देने के यज्ञ की महिमा और रहस्य तुम समझती रहना ।

● ● ●

मद्रास (चेन्नाई) ॥ हरिः ॐ ॥ ता. १०-३-१९५२

यहाँ फोटो खिंचे हैं, वे मिलने पर तुम्हें बुक-पोस्ट से रजिस्टर्ड कर दूँगा यह जान लें । जो पसंद हो वह रखना । चाहिए तो सभी रख लेना । जितने रखने हो उतने रखकर बचे हो उन्हें गांधी आश्रम में सुप्रत करना । **इस** शरीर का तो कुछ कुछ अभिनव हुआ ही करता है । ऐसा लिखने बैठुं तो पार ही न आ सके । यह तो गत साल ठीक उसी तारीख पर लिखते हुए रक्त दबाव बढ़ा वह याद आने पर तुम्हें लिखा था ।

ता. १२-३ की सुबह कुंभकोणम् । वहाँ मुझे 'हरिः ॐ' मिलेगा और कितना अधिक आनंद होगा ! वह सौम्य, रम्य, आश्रम की भूमि और वह पवित्र कावेरी ! वह सब देखने को दिल चाहता है, बल्कि उत्साह से थिरक रहा हूँ । तुम इस तरह हृदय में हृदय से एकाग्र, केन्द्रित भाव से जीवनविकास के संपूर्ण ज्ञानभान के साथ कब मिलेगी ? उन पुस्तकों को हो सके उतना जल्दी सायला भिजवा देना है । हृदय में भाव प्रकटे तब कितना सारा याद आता है ! और वह याद भी कैसी !

● ● ●

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. १२-३-१९५२

वह हरिः ॐ आश्रम ! और वह 'हरिः ॐ' दोनों के मिलने का कितना आनंद !

जीवन में जागृत रहकर ज्ञानभक्तिपूर्वक जितना कर सके, उतना सब करना है । यह जानना कि कैसी भी परिस्थिति से आनंद मिला करे ऐसी दशा मन की करनी है ।

● ● ●

कुंभकोणम्   ॥ हरिःॐ ॥   ता. १३-३-१९५२

माँगने में बहुत संकोच रहता है तो वैसा संकोच रखने की आवश्यकता नहीं है । तुम्हें समझदारी और ज्ञानपूर्वक उससे मुक्त होना चाहिए ।

विघ्न कैसे अनुकूल करें ?

जीव को जब लगे कि वह भूलभुलैया में पड़ा है, तब तो वह निकलने के मरजिया प्रयत्न जरूर करेगा । इसलिए कृपा करके जो साधना श्रीप्रभुकृपा से करनी है, उसमें ही लगातार मन और दिल को पिरोये करना है । मन की शांति और प्रसन्नचित्तता जितनी अखंडित रहे, उस प्रकार का जीवित जागृत लक्ष्य हृदय समक्ष रखना है । एवं उसी तरह संसारव्यवहार में सभी के साथ वर्तन करना है । इस प्रकार के यज्ञ में भंग होने के लिए कुछ न कुछ बना करेगा । वह सब हमारी परीक्षा और कसौटी के लिए, हमें अधिक तेजस्वी प्राणवान बनाने के लिए, वे सारे प्रसंग हैं, ऐसा समझकर हम अधिक से अधिक सावधान बनें ।

क्या क्या करें ?

ता. १८ की सुबह छह बजे भाई मौन में बैठेंगे यह जानो । उस समय तुम भी नहाधोकर प्रार्थना करना । समय और फुरसत मिले तो रोज ध्यान निश्चित समय में करना चूकना नहीं । **सुबह उठने से लेकर सोने तक हमारे मनहृदय की नजर के सामने गुरु की चेतनास्मरणभावना जीवित रखा करने का प्रेमभक्तिपूर्वक का अभ्यास करते रहना है ।** जो जो सब मन में उठे, वह वह सब प्रेमभक्तिभाव से उस उस पल सावधानी से जागृत होकर समर्पण किया करना है । विचारों की श्रृंखला जोड़ने से अटक जाना है । यह सारा अभ्यास ज्ञानपूर्वक और जागृतिपूर्वक किया करना है । तभी कुछ ऊपर उठ सकते हैं । हमें अपनी **जीव**प्रकृति को ठीक से निरखते रहना है । जो अवगुण हो उसे ज्ञानपूर्वक टालना ।

• • •

मन की शक्ति

मदुराई ॥ हरिःॐ ॥ ता. १४-३-१९५२

हमारा मन जीवनविकास के ध्येय विषयक एकाग्र, केन्द्रित और संपूर्ण शांत हुए बिना श्रीभगवान के चरणकमल में पूरा-पूरा खुला नहीं हो सकता । इसलिए हमें यदि जीवनविकास के मार्ग में जाना हो और ऐसा दृढ़ निश्चय हो तो फिर सभी परिस्थितियों और संयोगों में मन में शांति, प्रसन्नता और एकाग्रता बनी रहे, वैसा हमें जागृतिपूर्वक प्रयत्न करते करते वर्तन करना है । मन की शक्ति हम कल्पना न कर सके उतनी अगाध है । यदि एक बार मन की शक्ति का ज्ञानपूर्वक का योग्य अनुभव हो जाय, तो हम सभी प्रकार से निश्चिंत हो सकते हैं । तो **जीव**प्रकार की प्रकृति को हम पार कर सकते हैं । हृदय में एक ऐसे प्रकार का सामर्थ्य आ जाता है कि जिससे **जीव** की प्रकृति पार कर लेते श्रीप्रभुकृपा से हम सदा ही हिंमतवाले ही रह सकेंगे । मन संपूर्ण शांत और एकाग्र (जीवनध्येय के विषय में) तथा उसमें केन्द्रित हुए बिना मन की जो सूक्ष्म शक्ति है, वह प्रकट नहीं हो सकती । उस शक्ति को प्रकट करने का काम पहले तो हमारा अपना है और फिर भगवान का है । हम कितने भी अज्ञान के महासागर में डूबते हों, **जीव** की प्रकृति या **जीव**स्वभाव कैसे भी प्रकार के हो, परंतु यदि मन की सच्ची शक्ति का हमें अनुभव जाग जाये तो फिर वह सबके सामने श्रीप्रभु की कृपा से जरूर टक्कर ले सकते हैं । मन की जो दिव्य शक्ति है, उस शक्ति का अनुभव प्रभुकृपा से हमें हो जाय, ऐसी प्रार्थना तो अवश्य करता हूँ ।

मेरी मुराद सफल कर

हमारे मन की माथापच्ची के साथ साथ दूसरे सभी संदेह दूर किये बिना और मन में सरलता एवं सहजता लाये बिना कुछ भी नहीं हो सकता है । इसलिए कृपा करके तुम मुझे मदद करना और मेरे पक्ष में खड़ी रहना । तू मन का पलपल का जीताजागता चौकीदार बने और धारणा के साथ नामस्मरणभावना में जागृत रहा करे, इधर-उधर होने पर श्रीभगवान के चरणकमल में हृदय के आर्त और आर्द्र भाव से प्रार्थनानाद पुकारे और इस

प्रकार की साधना यदि तुम सतत एक-सी करती रहो, तभी कोई काम सफल होगा । तुम्हें ऐसी मुझ पर मेहरबानी करनी हैं । तुम पर जो आशा रख रहा हूँ, वह आशा को तुम फलित करो तो कितना उत्तम ! **हम एक-दूसरे को पहचानते भी न थे, जब श्रीभगवान की कृपा से मिलना हुआ है, तब तो वह संबंध चेतन को प्रकट करने के लिए है यह जानना ।** इसलिए **जीव** का **जीव**पन ज्ञानभक्तिपूर्वक सब देती रहना । वह दिये करने का यज्ञ सतत चालू रखना, परंतु वह देते समय पर साथ-साथ देते रहने के उसके हेतु का ज्ञान भी रखना है । जिसे देने से हमारी उन्नति हो, हमारी गति और कक्षा उच्च हो, हमारी उलझन टूटती जाय, हमारे आग्रह छूटते जाय, हमारे में प्रसन्नता और प्रेम बढ़ते जाय ऐसा हम ज्ञानपूर्वक अनुभव कर सकें तो वह सच्चा देनापन कहलाएगा ।

हृदय-हृदय का संधान रखो

संसारव्यवहार में किसी **जीव** के साथ हमारे मन की प्रेमभावना प्रकट होती है या राग या मोह होता है तो उसके साथ मन के तार बंधे और संधे हुए रहते हैं । यह तो प्रत्येक के अनुभव की बात है और यह समझ में आये ऐसी हकीकत है । तो जीवनविकास के मार्ग में हमारी कक्षा उच्च लाने के लिए मनहृदय का तार उससे उच्च कक्षा की भावना की हकीकत में सतत बंधा हुआ और संलग्न हुआ रहे यह अत्यधिक आवश्यक है । जो कुछ भी हमें कहना करना हो तो उसे उस तरह का बनके, यानी कि हृदय-हृदय से जुड़कर, उसमें एकाग्र और केन्द्रित होकर, उसे प्रार्थनाभाव से कहा करें तो बहुत अंतर पड़ता है । तुम्हें जितनी सरलता से और खुलकर समझाया है, वैसा किसी को लिखा नहीं है । इसलिए तुम उसका संपूर्ण उपयोग करना । उस अनुसार सावधानीपूर्वक दक्षता रखके, उसमें से अनुभव का ज्ञान प्राप्त करके इस **जीव** को तुम खुश करती रहना ।

हम स्वयं अलग प्रकार के वातावरण से ऊब जाये यह भी योग्य नहीं है । त्रास जाय या ऊब जाय वह तो नामर्द । मुझे तो मर्द की सोबत अच्छी लगती है । ऐसी मर्द बनकर जीये तो जीवन

को शोभित कर सकेगी । जीवन के निर्माण का काम मर्द का है, पराक्रमी का है ।

सावधान बनो

संसार की छोटी-बड़ी सभी बात और सभी काम हमें करने हैं सही, पर दिल का तार तो हमारे असल काम में संपूर्ण पिरोया हुआ रहे, उसकी संपूर्ण ज्ञानपूर्वक की जागृति और सावधानी रखनी है । ऐसा अभ्यास पूरा विकसित हुए बिना हम से कुछ होगा नहीं यह निश्चित जानना । इसलिए स्वस्थ बनो । जगत या संसारव्यवहार या किसी प्रकार के वातावरण से हमें त्रसित नहीं होना है, उबना नहीं है या हैरान नहीं होना है । **संसारव्यवहार में हम चाहे या माने उस तरह से सभी व्यवहार करें यह कभी नहीं हो सकता है ।** सभी अलग-अलग तरह से व्यवहार करेंगे । हमारे मन को अशांत बनाने का जानबूझकर प्रयत्न करते न हो वैसा भी हमें लगेगा । थोड़ा बहुत यज्ञ तो चल रहा हो, उसको भंग करने के लिए सभी कूद रहे हों ऐसा भी अनुभव होगा । तथापि हम तो उन सबकी ओर जरा भी लक्ष न दें, हम अपने आप में ही जीवित रह सकें, तभी सफल हो सकेंगे यह जानो । इसलिए हमें जो करना है, जैसा बनना है, उसका हमें पलोंपल का ज्ञानपूर्वक का सचिंत भान रहना चाहिए । यदि ऐसा भान रहने का यदि हृदयपूर्वक का जीवितजागृत प्रयत्न श्रीप्रभुकृपा से हो सका, तो दूसरा सब भी हो सकेगा यह निश्चित हकीकत है । ऐसा जागृत भान रहना यह भी कठिन हकीकत नहीं है, यदि ध्येय के प्रति प्रेमभक्ति हृदय में प्रकट हुई होगी तो ।

प्रेम की अमोघ शक्ति

हृदय का जो उच्च कक्षा का प्रेमभाव है, वह तो अभेद दर्शाता है । स्वयं जैसा होता है वैसा उसे बनाता है । अपने समान कर देता है । इससे ऐसा हृदय का प्रेमभाव यदि प्रकट हो सके, तो तो उसमें ही हमें रखेगा । हमें ऐसा सभी समझ समझकर विकसित करते रहना है । इतना सब होने पर भी मेरी तुम्हें बिनती और प्रार्थना भी है कि हमें अपने

आपका संपूर्ण परीक्षक बन जाना है । हमारे जीवनविकास का ज्ञानपूर्वक का मापदर्शक यंत्र भी हमें बनना है । हम जो जो सोचें, वृत्तियाँ, भाव आदि उठा करें उन पर से हमें अपनी कक्षा की समझ आ जानी चाहिए । कोई संबंध चेतन को लाने हेतु भले अचानक श्रीप्रभुकृपा से मिल गया हो, पर उस संबंध द्वारा यदि हम ऊँचे आना अनुभव न कर सकते हों तो हमें लाख बार सोचना चाहिए । ऊपर उठने के लिए ही तो हृदय हृदय का संबंध है ।

सद्‌गुरु को लात न मारो

माँ बालक का मैला आदि साफ करती है । उसके मूत्र में माँ को सोना पड़ता है । उस तरह जीवन का जो निर्माता है, उसके मन उसमें कुछ त्रास ही नहीं है । हैरानगति भी नहीं है । उलटा कुछ अंश में उसमें बालक को बड़ा करने के लिए और शिक्षा-दीक्षा देने के लिए वैसा-वैसा करने की आवश्यकता है, ऐसा जागृत भान स्थूल संसारी माँ को होता नहीं है, और होता है तो कभी कभी, वह भी सच्चे पूरा-पूरा अर्थ में और रहस्य में तो नहीं ही । जब जीवन के निर्माता को तो उसका पूरा-पूरा अर्थ का और उसके रहस्य का ज्ञानपूर्वक भान रहता है । मातापिता छोटे बालक की लात खाते हैं, तब वह लात खाने में भी आनंद आता है, परंतु वह मोहमयी और **जीव**स्वभाव की कक्षा है । हम सभी **जीव**स्वभाव के हैं । इससे हमने जिसे समझबूझकर जीवन का निर्माता माना है, वे हमारे मातापिता होने पर भी हम उन्हें जाने अनजाने लात नहीं मार सकते हैं । हमें उसका ज्ञानपूर्वक का भान रखना चाहिए । शायद लग जाय तो उसे तो कुछ नहीं होता, परंतु हमारी अभी अत्यधिक कच्ची दशा है, ऐसा उसे लगते और हम सतत एक-सा ऊँचे रहा करें, ऐसी उस हृदय की हमारे प्रति धारणा होने से, हमारी उसे लात लगने से, उसे हृदय में बहुत आघात लगता है और वेदना भी होती है । इससे हमारे विचार, वृत्तियाँ, लहरियाँ और संसारव्यवहार के अनेक **जीवों** के साथ के वर्तनव्यवहार में जितना अधिक जागृतिवान और सावधानीवाले रह सके और हमारे जीवनविकास के कार्य में जितने अधिक प्रमाण में एकाग्र,

केन्द्रित रह सके, उतने प्रमाण में हम अपने जीवन के निर्माता को हृदय का आनंद दे सकेंगे । उसकी सही खुराक तो यही है । ऐसे जीवन की ताकत से उसके प्राण टिकते हैं । इससे जीवन में ऐसा खमीर रखना । **खमीर बिना का जीवन नमक बिना के भोजन जैसा है ।**

दुष्ट मन को टोको

जीवन में अकेली, तनहा, एकाकी तू हो ऐसा तुम्हें कभी कभी लग जाता है, यह हकीकत इस **जीव** को तो खूब चुमती है । तब 'आसरा' किसका नाम है ? यदि आसरा होगा तो उसकी ऊष्मा, सहानुभूति और प्रेरणा भी हो । इससे कृपा करके ऐसा जब जब लगे उस पल ही मन को टोकें और कहें कि 'श्रीभगवान की कृपा से ऐसा समर्थ आसरा मिला है, तो फिर हे दुष्ट मन ! तुम ऐसा ऐसा सोचते हो यह कैसी कमनसीबी और लाचारी की बात है !' इस प्रकार, ऐसे अनेक तरह से अनेक बातों में मन को टोका करना है, समेट लेना है और बटोर लेना है ।

साधना की दो पद्धतियाँ

जीवनविकास के ध्येय में यदि हमें, एकाग्र और केन्द्रित हो जाना हो, तो उसके सिवा के विचार, वृत्ति या भावनाओं को हम थोड़ा भी हार स्वीकार न करें, यह देखने का काम सावधानी से करना है। इस तरह मन की विशुद्धि किया करनी है। एक तरफ ध्येय बिना के हमारे मन के विचार, वृत्तियाँ, भावनाएँ आदि के अधीन नहीं होना है, उसके साथ ही दूसरी तरफ हमारे ध्येय की लगनी में मन को प्रेमभक्तिपूर्वक संलग्न रखना है। यह सारी हकीकत अपने आप होती नहीं हैं। यह तो हमें जीवन की तमन्ना लगी हो तो करना पड़ेगा। प्रभु की कृपा तो है ही यह निश्चित मानना।

● ● ●

मन के प्रवाह को मोड़ो

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. १७-३-१९५२

संसारव्यवहार में प्राप्त अनेक **जीवों** के साथ हमारा संबंध और संपर्क हम सब **जीव**स्वभाववाले होने से उस प्रकार का रहा करता

है । यदि हमें जीवनविकास के मार्ग पर चलना हो, तो उस संबंध और संपर्क को हमें सोचकर तौलना होता है । सावधानीपूर्वक हो सके उतनी तटस्थता और समता विकसित करके यदि हम संसारव्यवहार में वर्तन कर सकेंगे, तो शांति और प्रसन्नता उसमें से अवश्य फलित होगी । संसारव्यवहार और जीवन में जहाँ जहाँ राग हो, मोह हो, काम हो, मद हो आदि आदि हो, वहाँ वहाँ से हमें चेत चेतकर जागृतिपूर्वक मन को उस तरह से मुड़ जाने और व्यवहार से रोकना पड़ेगा ।

सत्संग से मन रुकेगा

ऐसा प्रश्न हो कि हम मन को किस तरह से रोके और उसकी चाबी मिले कैसे ? राग से राग बढ़ता है, काम से काम बढ़ता है, मोह से मोह बढ़ता है, मद से मद बढ़ता है । इससे हमारे पक्ष में यदि हम उन सभी से निकल जा सकें, तो वह सब हम में बढ़ता अटक जाएगा । राग, मोह, काम, मद इत्यादि बिना का जीवन कैसा हो सकता है, उसकी सूझबूझ और समझ पड़नी दुर्लभ है, परंतु यदि हम राग, मोह बिना के हो जाँय तो **जीव** के अनेक प्रकार के दोष और त्रुटी होगी, अनेक प्रकार के **जीव**स्वभाव का भाव और वर्तन हो गया हो, तब भी कुछ रुकावट नहीं होगी और वह समूचा मिट भी जाएगा । इससे हम राग द्वारा जो आकर्षण या चिमटना बने उस राग की वृत्ति-भावना को जीवनविकास के आदर्श में सावधानी, होशियारी और जागृति रख-रखके लगाने का किया करें, तो उस राग द्वारा जीवन के उत्तम प्रकार के विषय में हम एकराग हो सकेंगे । जिस दिशा में जीवन को मोड़ना है, उसका ज्ञान संसारव्यवहार के संबंधों में, प्रतिदिन के होते रहते सकल कार्यों में यदि जीतेजागते रहा करें, तो कोई भी अवरोध नहीं आएगा । इसी कारण ही सत्संग को हमारी संस्कृति में अति महत्त्व मिला है ।

सत्संग के प्रकार

हम उत्तम प्रकार के आत्माओं के साथ मन-हृदय का जीवित संपर्क और उससे हम **जीव**प्रकार की वृत्तिओं का परिवर्तन होते हम अनुभव

कर सकें, तो उस प्रकार का सत्संग श्रेष्ठ प्रकार का गिना जाएगा । संसारव्यवहार में भी जो तो किसी के साथ का संबंध और संपर्क व्यवहार में उपयोगी हो सकता है । धूल का भी उपयोग होता है, उस ख्याल से जो तो सभी के साथ हम बर्ताव करते हैं । उस तरह उच्चात्माओं के साथ का हमारा संबंध जीवन को ऊँचा ले जाने के लिए है, ऐसा ज्ञान रखकर हम से होते प्रत्येक कर्म और संबंध में हमारे मनहृदय को नजर समक्ष रखकर, उन उनको वह सभी उस उस पल में ज्ञानभक्तिपूर्वक समर्पण करने की दरकार और जागृति रखें, तो हम खाली के खाली रह सकते हैं । दूसरे प्रकार का सत्संग जीवन में हम जो कुछ किया करे, उसमें जीवनविकास के आदर्श का ज्ञानभान एक-सा रखा करें, हम उसे सानुकूल मन और प्राण को मोड़ों को समतोल कर-करके बनाया करें, ऐसी आंतरिक क्रियाप्रक्रिया को दूसरे प्रकार का सत्संग गिन सकते हैं । तीसरे प्रकार के सत्संग प्रार्थना, स्मरणभावना, ध्यान आदि साधनों का है ।

सहज साधना कैसे हो ?

हमें जिस मार्ग पर जाना है, उसे अवरोधकरूप जो-जो हो, वह दूर करने के लिए हम से सभी प्रकार से हृदय से प्रयत्न हो, उसके लिए श्रीप्रभु की कृपामदद प्रार्थना कर-करके सतत माँगा करें, **जीव**स्वभाव के जो जो दोष हो, उसे समझ-समझकर, उन्हें खेत में जैसे अनाज बिना की दूसरी घास उगी हो और जैसे उसकी निराई करते हैं, उसी तरह जीवनविकास के मार्ग में बाधा आने पर उलटेसीधे का भी हमें निराई किया करनी हैं, उसके लिए प्रभु की प्रार्थना करके मदद माँगा करें, तो जीवन की साधना अपने आप हुआ करेगी ।

गुरु के उपयोग की शर्त

जीवन को गढ़ने और जीवन का निर्माण करनेवाला जो गुरु है, वह अपने आप संपूर्ण उपयोग में आ नहीं सकता है । हमें अपने आप ही उसे काम और उपयोग में लेना होता है । उसमें हमारे मन, बुद्धि, चित्त, प्राण, हृदय और अहम् प्रेमभक्तिज्ञान से जागृतिपूर्वक पिरोये हुए

रहे (और वह भी जीवनहेतु के फलितार्थ) तभी वह हमें काम में आता है, ऐसे अनेक अनुभव अवश्य होंगे। प्रयोग किये बिना भरोसा भी किस तरह से कर सकते हैं ? इसलिए प्रेमभक्तिपूर्वक सूक्ष्म करणों को उसमें पिरोना हो, तभी कुछ प्रयोजन सिद्ध होगा ।

साधना का तापमानयंत्र

परंतु इसके साथ साथ इतना तो निश्चित ख्याल में रखना है कि इससे हमारा जीवन आंतरिक उच्च कक्षा का रहा करता है या कैसे और संसारव्यवहार के वर्तन में हमारी वर्तनकला उत्तम प्रकार की बना करती है या क्यों वह हमारे लिए तापमानयंत्र जैसा होना चाहिए । जिस तरह हमें कोई उपयोग में आ सकता है, उस तरह उससे हम संबंध रखते हैं, वैसा ही इसमें है यह जानना ।

गुरु अर्थात् क्या ?

'गुरु' यह स्थूल नहीं है, परंतु गुरु तो जीवन के उपयोग में आ सके और जीवनविकास के लिए योग्य समझ प्रत्यक्षरूप से दे सकता है। इसके अलावा जीवनविकास के मार्ग को घेरनेवाला ऐसे **जीव**स्वभाव के अनेक प्रकार के भावों को उद्भव करते समय, (यदि उसकी हृदय में हृदय से ज्ञानभक्तिपूर्वक प्रार्थना करने में आये तो) प्रत्यक्ष योग्य मार्ग पर प्रेरित कर सके ऐसी शक्ति हमें मिले वैसा वह प्रत्यक्ष मददगार भी है। ऐसी हृदय हृदय की ज्ञानभक्तियुक्त श्रृंखला यदि उसके हृदय के साथ और हृदयभाव के साथ जुड़ी हो तो हम कभी अकेले, तनहा और एकाकी नहीं होते पर सदा हमारे जीवन का राहबर और साथीदार हमारे साथ ही है, ऐसा अनुभव अवश्य हमें होता है ।

● ● ●

श्रद्धा की महिमा

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. १३-८-१९५२

जो यज्ञ प्रेमभक्तियुक्त नहीं होता है, वह यज्ञ जीवनविकास में प्रेरणारूप नहीं हो सकता है। यज्ञ से नया जीवन परिणित होता है। श्रद्धा

के मूल से तो यज्ञ का आरंभ होता है । श्रद्धा द्वारा ही जीवन है । संसारव्यवहार भी परस्पर की श्रद्धा द्वारा निभा करता है । ऊपर ऊपर का अपरोक्ष रूप से भले ही मानव के दिल में एक-दूसरे पर अविश्वास हो, तथापि मूलतः अंतर्गतरूप से विश्वास, श्रद्धा रहे होते हैं; जैसे नदी के पाट में भले ही पानी सूखा हुआ हो, परंतु अंदर तो पानी होता है वैसे । श्रद्धा द्वारा ही हृदय में नये प्राण प्रकट होते हैं । जिसे श्रद्धा है, वह तो सदा आशावादी ही रहा करता है । उसे कभी अकेलापन लगे ही क्यों ? श्रद्धा तो मनुष्य के हाथ-पैर हैं, क्योंकि उसके द्वारा प्रेरित होकर वह पुरुषार्थ करता है । जीवनव्यवहार में सभी के साथ के संसर्ग, संबंध, वर्तन में तथा जो कुछ प्रसंग आया करे, उस उसमें नयी समझ यदि उगा करे, सभी के साथ के व्यवहार-वर्तन में सुमेल की भावना ज्ञानपूर्वक यदि जीतीजागती रहा करती अनुभव कर सकते हो, मन में किसी पर भी एतराज, ईर्ष्या, डाह, अरुचि, क्रोध, शरारतीपन आदि न होता हो, तो जानना कि श्रद्धा के मूल हम में अवश्य जीवित हैं । श्रद्धा से **जीव** अपने जीवनविकास के आदर्श में गोंद की तरह (अथवा बन्दर का बच्चा जैसे उसकी माँ को सख्त कसा हुआ चिपका रहा करता है वैसे) चिपका रहता है । **श्रद्धा द्वारा जीना उसका ही नाम जीवन है ।**

गुरु की समीपता क्या करे ?

अभी तुम्हारा क्यों ठीक नहीं चल रहा है ? अभी मन में विचार और भाव भी गुमराह हो रहे हैं । इससे कृपा करके जागृत रहें तो अति उत्तम । तुझ में **इस** पामर **जीव** की कितनी सारी आशा है ! फिर तुम लिखती हो कि -

'इस समय **मोटा** ! आप दूर नहीं लगते पर समीप लगते हो ।' यदि यह अनुभव का कथन हो तो तुम्हारे लिए यह हृदय में आशा का किरण है, यह सचमुच ही अधिक प्रकाशवान हो सकता है । मुझे मेरे गुरुमहाराज का अनुभव जीवन में जब निकटता का होने लगा था, तब जीवनविकास विषयक मेरी भावना और लगनी बढ़ती हुई अनुभव हुई थी । जब जब मन उलटी खोपड़ी का बनता, तब तब उनकी निकटता

मानो की प्रत्यक्ष मुझे टोका न करती हो ऐसा अनुभव होता था । उनकी निकटता **इस जीव** को पथगामी प्रेरित करती थी । ह्रदय में सहानुभूति और ऊष्मा बनी रहती थी । **आसरा** है ही ऐसा लगता करता । माँगी हुई मदद भी मिल सकेगी, ऐसा दृढ़ निर्धार ह्रदय में जागा करता था । उनकी निकटता जीवन में जो ऊष्मा दिया करती, उसकी बात तो कोई अलग ही है । निकटता यदि लग सकती हो तो उसके ऐसे ऐसे लक्षण हैं । ये गिनवाये उतने पर्याप्त नहीं है । अन्य भी हैं, पर तुम्हें समझने के लिए अभी इतना पर्याप्त है । इसलिए इन लक्षणों द्वारा निकटता को पहचानना । यदि इस तरह तुम्हें निकटता लगती हो, तो मेरा बाँझपन अवश्य प्रभुकृपा से फलित हो सकेगा, ऐसी जीवित आशा जरूर होगी ।

किसी ने मुझे पूछा था कि 'ज्ञान कब प्राप्त होता है ?' तब उत्तर दिया था कि 'जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण आदि निश्चेष्ट हो जाय तब ।' इससे हम उसे देखकर बैठे रहेंगे तो कैसा चलेगा ?

कहीं जल्दी गाड़ी में जाना होता है, तो हम कितना अधिक जल्दी उठते हैं । जो तो सभी शीघ्रता से निपटा लेते हैं, किन्तु यह महा मुसाफिरी तो निश्चित ही है, तथापि महा आश्चर्य का आश्चर्य तो यह है कि कोई भी उसके लिए तैयारी करता लगता नहीं है ।

सभी संकोच छोड़ो

हमें अभी तो अत्यधिक संकोच, आवरण दूर करने हैं । संकोच तो कोई एक दो नहीं पर बहुत हैं ।

अभी तो तुम्हें माँगते भी शर्म और संकोच होता है, तो वह तुम्हें दूर करने के लिए मेरे लिए माँगना शुरू कर देना है । मुझे पुस्तक को प्रकाशित करने के काम में आएँगे । घृणा, दया, लज्जा, भय, शोक, निंदा, कुलाभिमान तथा शील, स्वभाव और जाति का अभिमान, यह सभी एक प्रकार के संकोच हैं । उससे भी आगे जाने पर मुक्त होना है, मतलब कि होना पड़ेगा । यह सभी ऐसे ही थोड़े ही होगा ? प्रभुकृपा से हमें तो कहीं भी, किसी से बंध जाना नहीं है ।

हो सके उतना कम से कम बोलें और उसमें भी आवश्यकता बिना तो बिलकुल नहीं, पुत्री को सप्रेम याद ।

● ● ●

अज्ञान कैसे हटेगा ?

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. २०-३-१९५२

किसी ने पूछा था कि 'अज्ञान अर्थात् क्या ?'

अपने मूल स्वरूप को न पहचानना और उसे पहचाने या अनुभव किये बिना व्यवहारवर्तन किया करें, उसका नाम अज्ञान । तो अब यह अज्ञान हटेगा किस तरह से ? ऐसा प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठेगा । हम पहले तो अज्ञान में सड़ते हैं और भटकते रहा करते हैं, उसका संपूर्ण दंशता ज्ञानभान यदि हृदय में हृदय से जाग जाय, तो **जीव** को उसमें से उठने और जाग जाने की पूरी संभावना रहती है । अज्ञान का दंश अभी हमें पूरा और सचमुच का हृदय में हृदय से लगा नहीं है । यही सबसे बड़ा दोष है । तो, क्या ऐसे के ऐसे ही खाली खाली पड़े ही रहना ?

निकम्मा बैल मत बनना

बैल निकम्मा पड़ा रहेगा तो उसका क्या होगा ? किसान को विलंब हो रहा हो, जल्दी जाना हो और जुआ से जुड़े बैल निकम्मे होकर बैठ जाय तो वह उसकी पूँछ मरोड़ता है और पूँछ खींचकर उसे खड़े करने के लिए प्रयत्न किया है । पूँछ इतने जोर से खींचे के न पूछो बात । उतने से पूरा न हो तो फिर उस पर, उसके पुठ्ठे पर, सोटी पर सोटी पड़ा ही करे, आखिर कितनी सारी बेसुमार मार खाकर उस बिचारे को चलना तो पड़ता है । ऐसे हम भी निकम्मे बैल जैसे होकर, संसार के कीचड़ में पड़े पड़े धूल में रगड़ते हुए कैसे पड़े रहते हैं । ऐसी हमारी दशा है, तब भी उसका शूल-दर्द हमें सालता भी नहीं न ? पूंछ खिंचकर मरोड़े वह भी सहन हो ऐसी दशा —— ऐसी प्रेमभक्तिपूर्वक की तैयारीवाली ज्ञानयुक्त दशा——हमारी नहीं है । सख्त सोटी पर सोटी पुठ्ठे पर पड़े तो

तो कौन जाने क्या से क्या हो जाय ! प्रभुकृपा से मेरा चले तो वैसा भी करूँ पर वैसा किस तरह कर सकूँ ?

खुलकर प्रार्थना करो

जो **जीव** समझकर जागता रहता है और संसारव्यवहार-संबंधवर्तन में उस अनुसार प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक अमल करता रहे, तो वह अवश्य सज्ज रह सकता है । यदि हमें जीवन के साधक प्रभुकृपा से होना हो या रहना हो तो हमें मनहृदय आदि में और आदि से संपूर्ण खुलकर सरल सहजता से रहना पड़ेगा । अभी तो कई कई स्तर बिना हल किये पड़े हुए हैं । जो जो होता रहता है, वह सब कोने कोने में फँस जाता है । इसलिए साधक को साधनाजीवन की प्रथम शुरूआत तो सभी तरह, सभी प्रकार और सभी भाव से संपूर्ण भाव से खुलकर रहने में हुई है । वह अपना जो तो सभी उनके चरणकमल में आत्मनिवेदन किया करे । जीवनविकास के योग्य जहाँ जहाँ जो जो पल व्यवहार न हो सकता हो, वहाँ वहाँ वह जाग जागकर उसमें रचनात्मक कृपामदद मिल सके, उसके लिए झूक-झूक कर गद्‌गद कंठ से हृदय में हृदय से श्रीप्रभु की प्रार्थना किया करें । प्रार्थना का महत्त्व जो सचमुच सही साधक बना होता है, उसे अपनेआप हृदय में समझ में आ जाता है । **प्रार्थना तो उसके मन जैसे बालक माँ से जीवन पाता है उस तरह है । कुछ भी होने पर वह प्रार्थना के भाव में पिरो जाता है । साधक के जीवनविकास के लिए इसके बिना कोई दूसरा सरल मार्ग नहीं है ।** साधक यदि हमेशा हृदय में हृदय से संपूर्ण, सभी तरह और सभी भाव से खुलकर और सरल रहा करता होगा, श्रीभगवान के भाव को पकड़ते रहने के लिए प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक अभिमुख अंतर्मुखतावाला बना रहेगा, तो ऐसे साधक को जीवन में जहाँ जहाँ अवरोध होगा या उलझन में पड़ जाये या उपाधि में या अशांति में या कठिनाई में आदि ऐसे कारणों में भी प्रत्यक्ष मदद मिलती रहेगी, उसे वह अनुभव कर सकता है ।

मन की शांति की अनिवार्यता

हमें मन को संपूर्ण खाली का खाली किया करना है । वहाँ कुछ भी भरने नहीं देना है । मन संपूर्ण नीरवता में प्रकट किये बिना, संसारव्यवहार, संबंध, संपर्क और वर्तन में मन को आघात प्रत्याघात हुआ ही करते हैं । उससे उसे और **जीव** को थकान भी लगती है । मन तंग होता है और खिंचाव अनुभव करता है । जिसका मन एकदम शांत रहता है, उसे ऐसा खिंचाव पैदा ही नहीं होता है । मन को भी आराम की आवश्यकता रहा करती है । फिर, दिन के व्यवहारवर्तन में तो मन पर कुछ अंकुश **जीव** का रहता है, पर रात को तो वह बिलकुल बेलगाम हो जाता है और वह कुछ कुछ उस समय भोगा करता है । ऐसे भोगा करने की असर हमारे ज्ञानतंतुओं पर अपार रहा करती है । इससे, सुबह उठते हैं, तब मानो बिलकुल दम बिना के और स्फूर्ति बिना के हो ऐसा लगा करता है । ऐसा रात में नींद के समय जो जो मन से भोगना पड़ता हे, उससे मन को काफी थकान होती है तथा दिन में मन के व्यवहार से वह मिट नहीं सकता है । यदि उसे आराम देने का करना हो, तो मन को संपूर्ण शांतिवाला बनाना होता है, तभी वह वैसा आराम प्राप्त कर सकता है । इससे हमें पहले तो वह संपूर्ण शांत हो सके वैसा करना है । उसके साथ साथ वह खुलकर रहा करें, मन में शांति का साम्राज्य फैले, उसमें वह एकाग्र और केन्द्रित हो, उस दशा से हृदय के भाव पकड़ सकने की ताकात हम में जन्म लेती है ।

निश्चयपूर्वक मन पर काबू लाओ

साधक यदि मन पर काबू रखने का ज्ञान नहीं रखेगा अथवा उस कला को सीखने की यदि वह दरकार या परवाह नहीं करेगा, उस बात में यदि उसका जीताजागता अभ्यास न रहा करता हो, तो हम से कुछ भी नहीं बन सकता । निश्चय पर आ जाना ही पड़ेगा । जगत में संसारव्यवहार में हमारे ठोस वर्तन से जो तो सभी तुलता होता है । हमारे जीवन की शोभा भी वर्तन में रही हुई है । वर्तन से निश्चय पक्का होता

जाता है। जैसे जैसे वर्तन में निश्चय की दृढ़ता आती जाती है, वैसे वैसे जीवन में तेजस्विता और प्राण आते जाते हैं।

कसौटी के समय प्रार्थना करो

निश्चय को अमल में रखने से अत्यधिक कठिनाइयाँ तो आनेवाली ही हैं और वह सब ऐसा ऐसा तो खड़ा होगा कि मानो हमेशा के लिए हो और मानो जायेगा ही नहीं ऐसा साधक को लगा भी करेगा, पर यदि साधक, हृदय में हृदय से उस उस समय प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक अपने प्रभु को आर्द्र और आर्त नाद से प्रार्थनाभाव से पुकारा ही करेगा, तो उसे मदद प्राप्त होती रहेगी और वह उठ भी सकता है, पर हमें उस उस समय वैसा पुकारने का कहाँ सूझता है ? इसलिए कृपा करके जागते रहो, तो तो अच्छा। अधिक तो क्या लिखूँ ? हमें जीना है, वह जीवनविकास करने के लिए। इसलिए सावधान, उत्साही, हृदयपूर्वक सँभाल और मन से सतत जागृत रहने का किया करेंगे, तो सब सलामत रह सकता है, बाकी तो पूर में कहीं बह जाएँगे कि जिसका हमें कुछ भी पता नहीं चलेगा।

प्रयोग करके प्रभुकृपा अनुभव करो

हमें बारंबार अपने आपको निरखा करना है और मन से अलग पड़ते या होते हमें सीखना है। मैं तो प्रभुकृपा से रास्ता बतला सकता हूँ और प्रत्यक्ष मदद भी कर सकता हूँ, पर वह ग्रहण करने के लिए की पूर्वभूमिका साधक को स्वयं तैयार करनी होती है। साधक के मनहृदय ऐसी मदद पाने के लिए ग्रहणात्मक दशा के हो जाने चाहिए। जिसके पास से मदद लेनी हो, उसके साथ प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक तादात्म्यरूप से एकाग्र, केन्द्रित हृदय में हृदय से हो जाना रहता है। उसका ऐसा अभ्यास हमें सतत विकसित करना है। स्वयं खाये बिना जैसे भूख मिटती नहीं है, वैसे ही उस प्रकार के प्रयोग किये बिना हमें उस प्रकार के अनुभव किस तरह से हो सकते हैं ?

कठिनाई : प्रभुकृपा से प्राप्त मौका

कठिनाई, विपत्ति, उपाधि-उलझन, अशांति में जो *जीव* हिंमत, धीरज रखकर टिके रहता है, वह मर्द हैं । उस समय ही जीवन का खमीर कैसा और कितना है, उसकी उसे समझ आती रहती है । स्वयं कैसे हैं, कितने प्राणवान है, उसका पता उस समय हमें हो जाता है । अरे ! अपने हृदय का जीवन का पराक्रम बतलाने का तो वह सभी प्रभुकृपा से प्राप्त मौका है । ऐसा मौका मिला हो, उस पल जो **जीव** खड़ा रहता है, थोड़ा भी निराश नहीं होता है, पर हृदय में हृदय से साहस, हिंमत, धीरज से अपने जीवनविकास के आदर्श की झलक से चूकता नहीं और जिसका निशान तो वहाँ का वहाँ ही रहा करता है, वैसा **जीव** सच्चा संग्राम खेल रहा है वह जाने और माने । जीवन दम बिना का जीने में क्या माल रहा है ? इसलिए थोड़ा ऊपर देखना हमें सीखना है और पलोपल जीवन का ज्ञानभान रखा करें, तो ही कुछ ठीक होगा ।

प्रार्थना यह तो जीवन का प्रत्यक्ष सहारा है । जीवन को योग्य बल, प्रेरणा, सहानुभूति, धीरज, हिंमत ऐसा ऐसा तो प्रार्थना से मिल जाता है, यदि प्रार्थना की कला साधक को प्राप्त होती है तो ।

अवरोधक तत्त्वों को निकाल फेंको

अभी तो कोई नाजुक वक्त का प्रसंग ही खड़ा नहीं हुआ है । ऐसा होने पर हमारा क्या बुरा हाल होगा ? इससे हमें अभी से ही पर्याप्त बल प्राप्त कर लेना है, नहीं तो नाजुक वक्त में कैसे टिक सकेंगे ? अच्छे-अच्छों को ऐसे समय में हुआ कि 'इससे तो यह जीवनविकास का मार्ग ही छोड़ दें तो कैसा ?' इसलिए हमें अपने मन में विचार, वृत्ति, भावनाएँ जो जो उद्‌भव हो, उन्हें समझने और जो स्वीकार करने योग्य न हो, उन्हें निराना, निराई करते रहना । ऐसा विशुद्धि का यज्ञ जारी रखना होगा । इस तरह जीने की कला हमें अभी प्राप्त करनी बाकी रहती है, उसे पाना और विकसित करने का ज्ञानभाव प्रभु हम में लाये यही प्रार्थना है ।

बहन ! अब सिर पर हाथ देकर बैठी रहोगी वह कैसे चलेगा ? जीवन कोई अकारण ही नहीं मिलता है । जीवन तो जीवन विकसित करने

के लिए मिला है। इससे चलो उठें, जागृत बनें और संग्राम खेल खेलकर जागृत हुआ करें ।

• • •

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. २०-३-१९५२

तुम्हें जो फोटो पसंद हो, वह तुम रखो तो मुझे क्या एतराज हो ? सहन करने का आएगा तो वह तुम्हें आएगा। यदि कोई विवेक रखा करना हो तो वह तुम्हें रखना होगा। बाकी, इस प्रकार के फोटो खास्से एन्लार्ज किये पूज्य मामाजी ने उनके घर ट्रिचि में मढ़ाकर टांगे हैं।

पूज्यश्री नानचंद्रजी महाराज को पुस्तकें भिजवा दीं उसके पैसे तुम्हें नहीं देने हैं। वैसे ही किसी के पास से माँगने भी नहीं हैं। बहन... को देना हो तो भले। **पूज्यश्री नानचंद्रजी को तो मैंने स्पष्ट लिखा था कि किसी को मुफ्त पुस्तकें देता ही नहीं हूँ, पर आप यदि पढ़नेवाले हों तो भिजवा दूँगा । उसका जो उत्तर मिला वह... बहन के पत्र के साथ था ।**

सद्गुरु की छटपटी

अभी तुम क्यों प्रसन्न नहीं रहती हो ? तुम्हारे पत्र में भी कोई प्राण नहीं होते हैं, या फिर मुझे ऐसा लगता है ? मेरी भूल होना संभव है। कैसे भी हो। तुम्हें अधिक से अधिक प्रसन्नचित्त देखने को मैं छटपटा रहा हूँ। जीवन तो आनंद के लिए है। **शोक, दिलगीरी, अशांति, मुठभेड़, व्याकुलता, उलझन आदि हो, उस समय प्रभुस्मरण खूब प्रेमभाव से किया करें । हृदय में हृदय से गुरु की मदद माँगा करें ।**

आज सुबह ही तुम्हें एक पत्र लिखकर भेजा है। यहाँ डाक मुझे ग्यारह बजे के बाद मिलती है। इसलिए अभी आराम लेकर तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ। बड़ी बादशाही खाट या पाट पर बादशाही गद्दी और वैसे बड़े गोल लंबे तकिये पर बैठकर लिख रहा हूँ। 'हरिः ॐ' यहाँ वहाँ घूमता है और लिखने नहीं देता है। कहता है, 'किसे पत्र लिख रहे हो ? मुझे आप पत्र क्यों नहीं लिखते हो ?' मैंने कहा कि, '...को पत्र लिख रहा हूँ।' तो वह पूछता है कि 'वह कौन है ?'

मैंने कहा, ‘वह तो अहमदाबाद में हैं । तुम उसे जानते हो कि नहीं ?’ बालक है, भूल जाता है । शायद देखे तो पहचान भी ले सही । आज तो लिखना था वह लिख चुका हूँ ।

श्रद्धा भी दृढ़ होने के लिए कसौटी लेती है ।

‘कभी माँगू तब भी, बिना अधिकार के नहीं मिले ।’

यह काव्यपंक्ति किसने लिखी हुई है ? मुझे वह काव्य बहुत अच्छा लगा । तुम्हें काव्य पसंद* नहीं तो अब कैसा भी पागल-सा कविता में लिखूँ तो ?

काम में से चेतना प्रकट हो

हमें सकल कर्म करते-करते साधना करनी है । **प्रभु का स्मरण यदि सतत प्रेमभक्तिभरा एक-सा लिया करें, तो फिर दूसरा कुछ करने का ना रहे, पर वैसा न हो सके उस *जीव* से कुछ भी नहीं हो सकता है ।** जिससे आराम मिले तब संसारव्यवहार में तो काम कर-करके दीप्त हो । जिसने काम करते समय शरीर के सामने देखा नहीं है, काम करते हुए जो **जीव** प्रभु को पुकारता है, स्मरण करता है, प्रार्थना करता है, उसे जो तो काम में, उलझन में प्रभु उसका हल बतला देता है । वहाँ सभी को सप्रेम बहुत बहुत प्रणाम ।

• • •

अनुष्टुप

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. २०-३-१९५२

हृदय का भाव जो पूरा जागा हुआ हो सही,
कर्म में उतरे बिना ना रहे, प्रेम से भरा ।

भाव तो भाव का काम स्वयं ही किया करेगा,
मुग्धता, स्निग्धता द्वारा मार्दवपन प्रेरेगा ।

---

*अब यह बहन स्वयं साहित्यिक भाषा में काव्य रच सकती है ।

जागृत भाव, बांधता तादात्म्यभाव से वह,
एकाग्र, दिल केन्द्रित साथ उसे किया करे ।

स्थान–काल की जो हो मर्यादा उल्लंघन करे,
दोनों हृदय मिलाके दो से एक करवाये ।

भाव की है कला ऐसी शक्ति, प्राण स्फुरित करके,
विरुद्ध भाव से जो हो उसे दूर करवाये ।

भाव पूर तो जैसे नदी में पूर आते,
स्वच्छ शुद्ध कर दे वह नदी के पाट को तब ।

अतः मैं प्रार्थना करूँ प्रभु चरणों में सदा,
भाव जगाते रहना जो तो कोई सतकर्म में ।

भावविहीन जो कर्म, कर्म वह कर्मबंधन,
भावयुक्त होते कर्म, कर्म वे मुक्तिप्रेरक ।

भाव से भाव जागे, भाव से भाव बढ़े,
जागते भाव तो दृष्टि समूल पलटती है ।

जिस कक्षा का भाव जागा हो हृदय में,
उस कक्षा में ही प्रेरित करे जीवन को सही ।

कठिनाई, गुत्थी आदि जिस समय पथ पर दिखे,
भाव वहाँ हिंमत प्रेरकर पार करे अच्छे ढंग से ।

बैठे रहना न जाने भाव तो पल एक ये,
पिरोये हुए यदि हो भिन्न उससे न हो वहाँ ।

भाव तो भाव जन्माकर प्रेरे एकतानता,
लगे भरा–भरा दिल जहाँ तहाँ सभी तब ।

सुमेल भाव सभी साथ स्वयं रहा करे तब,
खंडित होगा न कैसे भाव का प्रवाह वहाँ ।

ऐसा भाव होने लिए हमारे करणों का,
संपूर्ण ही माँग ले अपने-आप ही समर्पण ।

निश्चयात्मक बुद्धि जो उसमें सात्त्विकता निरी,
जागी हुई यदि हो तो भाव जन्मता स्वयं ही ।

आप से आप जन्मता आप क्या आप से जीये,
आपका विश्व है आप, वैसा है भाव का सही ।

संपूर्ण होते भाव भावातीत होनापन,
जागता जीवन में स्वयं न उसे वहाँ होनापन ।

● ● ●

साधना पहले तो बाहर से चलाओ

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. २१-३-१९५२

कहीं भी कुछ हो, करें या बने उसकी असर अंदर-बाहर सभी जगह हुआ करती होती है । कुछ भी असम्बद्ध नहीं है । जो तो सभी परस्पर संलग्न हैं । इससे साधना भी अंतर, बाहर ऐसे दोनों तरह से हो जानी चाहिए । अंतर में ऐसी साधना होने में देर लगेगी । वह होने तक कोई थोड़े ही ऐसा बैठा रहेगा ? इससे अंतर में असर हुआ करे इसके लिए बाहर से भी साधना चलाया करनी चाहिए । खास करके तो मन में मन से जागृति रख रखके प्रत्येक विचार, वृत्तियाँ, ऊष्माएँ, भावनाएँ जो जीवनध्येय के केन्द्रस्थपन से अलग हुआ करती हो, उसे ज्ञानपूर्वक साथ न दे देकर उन्हें निकालते रहना है । ऐसी निहाई भी अत्यधिक आवश्यक है ।

● ● ●

कब 'गुरु सब कर दे'

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. २२-३-१९५२

कितने ही मूर्ख लोग 'सब गुरु कर देंगे' ऐसी भ्रामक भ्रमणा और कल्पना में पड़े रहते हैं । गुरु के कहे अनुसार वर्तन करने की तो अभी संपूर्ण सूझबूझ या समझ उगती नहीं है और उस अनुसार करने की उमंग

या उत्कटता नहीं है, गुरु के लिए दिल का निर्मल प्रेमभक्तियुक्त भाव प्रकट हुआ नहीं है, जीवनविकास के लिए सद्गुरु का उपयोग कर लेने की ज्ञानभक्तिमय दृष्टि हमें मिली नहीं है, तब भी खाली-खाली पड़े रहकर 'सब गुरु कर देंगे' यह तो बाँझ इच्छा है यह निश्चित जानें ।

समता से सब साधा जा सकता है

साधना में मन, प्राण, बुद्धि - ये तीन महत्त्व के करण हैं। वे तीनों परस्पर जुड़े हुए हैं। मन में उठते तरंग, विचार, वृत्तियाँ, भावनाएँ, ऊष्माएँ - ये सब प्राण के साथ संलग्न हैं। इससे प्राण की शुद्धि होनी अनिवार्य है। प्राण की शुद्धि होते मन में असर अवश्य होती ही है। फिर, बुद्धि में भी इच्छाओं का राज्य चलता है, वहाँ वह अटककर बैठे नहीं रहता है। वह तो मन-इन्द्रियों सभी में प्रसरित होता है और इन्द्रियों के स्पर्श को भी कौन कबूल करता है और स्वीकार करता है ? इन्द्रियों में जो जो हुआ करता है, उसे मन ही चिपकता है न ? उसमें बुद्धि हिस्सा नहीं लेती ऐसा भी कैसे कह सकते हैं ? फिर, बुद्धि का भी पक्षपाती भाव नहीं होता ऐसा भी कैसे कह सकते हैं ? यह तो मत, अभिप्राय या समझ और अनेक प्रकार की माथापच्ची को गुत्थी तरह चिपके रहती है । इसलिए **जीव** को यदि साधना करनी हो तो उसे इन सबसे मुक्त होना पड़ेगा, पर यह सब होगा कैसे ?

समता की प्राप्ति हुए बिना अथवा तो ऐसे ज्ञानपूर्वक का जीताजागता अभ्यास हुए बिना वैसा कुछ हो भी नहीं पाएगा। समता विकसित करने की आवश्यकता है। **समता के बिना शांति की स्थापना ही नहीं हो सकती । फिर, इन्द्रियों के स्पर्श को तथा इन्द्रियों के विषयों को मन न स्वीकार कर सके उसके लिए निःस्पंदता या नीरवता की स्थापना होनी चाहिए । यानी कि मन में मन की शांति और समता लाना साधक के लिए अति आवश्यक है ।**

संकल्पबल से समता मिले

पर यह सब होगा किस तरह ? उसकी सही चाबी हमारे संकल्पबल में रही हुई है। संकल्प का बल कोई जैसा तैसा नहीं है। संकल्प का बल

और उसकी शक्ति तो ऐसे देखें तो सर्वोपरी बल है। हमारे आधार में वह चुपचाप रहने पर भी हमारी सभी प्रकार की क्रियाओं पर वह सचमुच राज्य चलाता होता है। जो तो कुछ हुआ करता है, उसके पीछे संकल्प का बल काम करता होता है। तो अब हम जो नया जीवन निर्माण करना चाहते हैं, उसमें संकल्प का बल उस प्रकार का जन्म देते रहेंगे तो जो तो सभी उस प्रकार का हुआ करता रहेगा यह निश्चित जानें।

संकल्पबल का प्रभुत्व

संसार के व्यवहार में कितने ही और किसी भी प्रकार के व्यक्तिओं के साथ भले रहना हो, तब भी हम तो अपनी धुन में ही बस वर्तन करते रहेंगे, यदि हमें जीवन के महत्त्व के लिए सच्चे संकल्प की कला आ गयी होगी तो। संकल्प होते उस अनुसार हुआ करता है। संकल्प का बल अपनेआप निश्चय के महल में बसा रहता है। वही सारी क्रियाओं का निश्चय करता है। तो जिस **जीव** को जाने का सचमुच दिल हुआ है वह तो जाये बिना कैसे रह सकते हैं ? इससे संकल्पबल की शक्ति सतेज किया करनी है वह जानो। ऐसी जो शक्ति है, वह भी आत्मा की चैतन्यशक्ति का ही प्रतिबिंब है या व्यक्तरूप है। जैसे हम अपने वर्तनव्यवहार में उसका ज्ञानपूर्वक उपयोग करते हो जायेंगे, वैसे वैसे हम उसका बल बढ़ते हुए अनुभव कर सकते हैं।

साधना में बुद्धि का स्थान

कोई कोई **जीव** मन को बुद्धि की मदद से उसके उलटे-सीधेपन को समझकर, कुछ अंश में काबू में ला सकने में भाग्यशाली होते हैं, पर बुद्धि का वैसा नहीं होता है। बुद्धि यह प्रकाशरूप है। यह तेज फैलाती है। बुद्धि वह सूक्ष्म में सूक्ष्म है, उसमें समझ प्रकटने की सहज शक्ति रही हुई है। बुद्धि से जो तो सभी समझ आ जाता है। जिस प्रकार की बुद्धि उस प्रकार से जो तो सब समझ में आता है। इससे बुद्धि की शुद्धि भी उतनी ही आवश्यक है। बुद्धि भी अपने में पड़ी समझ, आदत, अनुभव उस तरह से ही व्यवहार करती है। उस तरह ही वह जो तो

अनुमान करने को प्रेरित होती है। ऐसे अनुमान लगाते समय साधक को खास जागृति रखनी है। अनुमान बिलकुल सच है, ऐसा भी एकदम मान लेने से पहले साधक को उसे सावधानीपूर्वक, समतापूर्वक जाँच लेना है। कोई कोई अनुमान जिसे मान लेने की तैयारी होती है, उन उन अनुमानों के पीछे तो कैसी कैसी भूमिका बनी होती है और कैसी कैसी भूमिका के कारण कैसे कैसे अनुमान बाँधते होते है, ऐसा संपूर्ण विस्तारपूर्वक पृथक्करण करके तटस्थतापूर्वक, वर्गीकरण कौन-सा **जीव** करने बैठता है ? इस प्रकार, यदि अंतर्मुखता विकसित किया करें या किया करते हों, तो हम अपने आप में ही तल्लीन रहा करेंगे। दूसरे **जीव** में मन खींचने का कम से कम होगा। जिसका मन सलामत है, वह स्वयं भी वैसा बन सकता है। इससे जागृत रहना है।

आवेग के सदुपयोग से प्राणशुद्धि

जैसे बुद्धि का ऊपर लिखा उस तरह प्राण का भी है। **उसमें से उत्पन्न होते आवेश, आवेग, आतुरतापूर्वक के शोक, मोह, राग, दिलगीरी, आतुरता आदि जो उठते हैं, उस उस आवेग और आवेश का उपयोग साधना में किया करना है। ऐसे आवेग और आवेश में भी उस उस प्रकार की शक्तिरूप से है। उसका उपयोग नामस्मरण में एकाग्र बनने में कर सकते हैं।** मात्र उस समय उस उस अनुसार बरतने की जागृति रहा करे, तो वह साध सकते हैं। ऐसे प्राण के प्रत्येक आवेग और आवेश के अधीरपन को हम अपनी तरह से उपयोग में लिया करें, तो वह सब उन-उनकी तरह उपयोग होते अटक जायेंगे और उन-उनका साधना के भाव में उपयोग होते ही उनकी शुद्धि अपने आप हुआ करती है।

सद्गुरु का दर्द

यह तो प्रयोग और अनुभव से प्रभुकृपा से स्वयं किया है, अनुभव किया है और सिद्ध किया है, इससे ऐसी कला प्राप्त हुई है। इसलिए तुम्हें स्पष्टीकरण कर-करके प्रभुकृपा से समझाने का तो किया करता हूँ,

पर तुम उन उन सभी के प्रयोग सावधानी, हृदयपूर्वक सँभलकर और एकाग्रता से कहाँ किया करती हो ? बाद में सब लिखने का भी क्या अर्थ ? जीवन को ऊँचा लाने के लिए मेरा अर्थ और संबंध है, परंतु मुझे तो धीरज रख-रखकर और फिर आतुरतापूर्वक प्रत्येक **जीव** में प्रभुकृपा से जीना है । हमें कौन समझता है और कौन सांत्वना देता है ? **कोई *जीव* जीवन को महत्त्व देने का ज्ञानपूर्वक किया नहीं करता है । यही हमें तो अत्यधिक सालता दर्द है ।**

सद्‌गुरु का कार्य

हमें तो जीना है । हमने तो प्रभुकृपा से जीवन का स्वीकार किया है । इसलिए जो कोई **जीव** जैसा है, वैसे का वैसा स्वीकार करके, उसे साथ रख-रखकर समतायुक्त तटस्थता से, शांति से और धीरज से उसमें उस-उस की तरह मिलकर उसे उसके रूप के दर्शन करवा करवाके, उसमें वह जागृत हो, सज्ज हो वह देखना रहता है । प्रभु की परमकृपा ही वैसा करवा सकती है । इससे कृपा करके कुछ करती रहो तो उत्तम है । बाकी तो जीवनसंबंध को क्या छौंकना है ?

मौन अर्थात् निःस्पंद मन

मौन की शक्ति सचमुच तो एक प्रचंड शक्ति है । वह शांत, गहन और रहस्यवाली है । शांत, स्वस्थ मन जब निःस्पंद होता है, तब वह **जीव** मन से पर हो सकता है । उसके बिना तो कदापि नहीं । ऐसी दशा प्राप्त होने पर उसे चेतना की झाँकी का अनुभव हो सकता है । सभी प्रकार के विचार से मुक्त हो जाने की और अंत में तो किसी भी प्रकार का विचार नहीं करने की जीवनसाधना करते-करते साधक को वैसा अनुभव प्राप्त कर लेना होता है । उसे जब ऐसी दशा का अनुभव होता है, उस समय वह अपने को सचमुच समझता जाता है । वह अपने ऊपर अपना काबू रखने की शक्ति का अनुभव कर सकता है । ऐसी है यह जीवनकला । इसलिए हमें मन के तरल, अशांत, उग्र और अस्वस्थ तरंगों और उसके उलटे-सीधेपन को उसकी ऐसी गति को शांत कर देने में हमें

पहले तो लग जाना होगा। मन को योग्य रास्ते पर लाने का यह सबसे अच्छा मार्ग है। बुद्धि में यदि संपूर्ण जीवनविकास के योग्य ऐसी सच्ची एकाग्रता और एकांत रख सकते हों, उसमें कहीं भी भ्रमणा या कल्पना न हो, और वह वैसा अनुभव होता हो, तो वैसी बुद्धि की मदद से मन को जरूर काबू में ला सकते हैं। दूसरी तरह से तो अंतर से उसे अलग कर करके, मन को शांत कर सकते हैं। दोनों मार्ग से मन को शांत, नीरव और समतायुक्त कर सकते हैं। इसलिए प्रयोग करते रहने में ही सार है।

● ● ●

उफानों का सामना करो

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. २४-३-१९५२

जिस जिस समय में जैसा जैसा जिस प्रकार का मन में उठे वह सभी हमारे असली स्वरूप का नहीं है, ऐसा दृढ़ता से सोच सोचकरके भी मन से उस उस समय हमें अलग होते रहना है। जैसे जैसे मन में उठते अनेक तरंगों, विचारों और प्राण के आवेशों, आवेगों आदि और बुद्धि के उस प्रकार को हम हार स्वीकार करते बंद हो जायेंगे, उसमें मिलेंगे नहीं, वैसे वैसे अनेक प्रकार का उसमें से उमड़ता रहेगा। वह ऐसा उमड़ता रहेगा कि साधक बेचारा उस समय बिलकुल बावला हो जाएगा। वह बिलकुल आकुल-व्याकुल हो जाएगा। तथापि उस समय में जीवन के उड़ान की सच्ची, योग्य परीक्षा होती रहती है। इस समय में जो **जीव** जीवनविकास के मार्ग को हृदय समक्ष रख-रखकर कदम उठाने में ही सच्चा जीवन समझता है, वही टिक सकता है। बाकी के तो **मृत** ही पड़े हैं समझो।

अंतर की एकाग्रता साधने की चाबी

जीवन की साधना प्रेमभाव से सरल हो सकती है, परंतु वह भी **जीव** से नहीं हो पाता है। तो अब क्या करना ? मन, बुद्धि, चित्त, प्राण, अहंकार आदि प्रेमभक्ति-ज्ञानभाव से जीवनविकास के ज्ञानपूर्वक के

जागृत हेतु के लिए सद्‌गुरु के जीवन के मूल भाव में मिल-पिघल न जाय वहाँ तक गुरु में रही चेतनाशक्ति साधक को सही ढंग से जीवननिर्माण के लिए उपयोग में नहीं आ सकती है। इसलिए मन जो अनेक प्रकार की विविधता के विस्तार में भटका करता है, उसे एक ही विषय पर विचार करने की आदत डाला ही करनी है। एक ही विषय पर रखा करना। वहाँ से थोड़ा भी खिसके तो फिर उसे वहाँ का वहाँ ले आये। गुरु की सद्‌भावना में या चेतनास्मरण में मन रख सकना बने तो वैसा करना। वैसा करना या वैसा होना अधिक सरल हो सकता है सही, परंतु वहाँ तो साधक को निश्चित अधिक सावधानीपूर्वक और अधिक ज्ञानभानपूर्वक, चेतते भी रहना है।

अंत में तो स्थूल की मदद लिये बिना हम अपने अंतर में ऐसी एकाग्रता, केन्द्रितता जब अनुभव हो, तब ही सच्चे जीवन की समझ आ सकती है। उस समय से ही **जीव** की **जीव**दशा टूटने लगती है वह जान लेना। जिसने ज्ञान प्राप्त किया है, उसके अंतर की एकाग्रता किसी से भी खंडित नहीं होती है। हमें भी ऐसी अंतर की एकाग्रता में डूबकी मार-मारके उससे ऊपर उठकर जीवन में जीना है। ऐसा जीना यही जीना है। ऐसे समय में जीवन के प्रश्नों का हल अपनेआप हुआ करता है। इससे कृपा करके जीवन की साधना में ही मन सतत पिरोया रहा करे, यही एकमात्र हमारा कर्म है। उसका ज्ञानभान सकल कोई संसारव्यवहार में होते जाते कर्म में, संबंध में, वर्तन में हमें रखा करना है, यह जान लो।

मन का स्वभाव यहाँ वहाँ भटकने का है, पर यदि उसे एक बात में एकाग्र और केन्द्रित किया करेंगे तो उसे वैसा करना शायद सरल हो जायेगा।

मन को शांत करने के उपाय

मन को शांत, नीरव अथवा निःस्पंद कैसे कर सकते हैं ऐसा अनेक पूछते हैं। उसका उपाय भी कहा है, पर उसे उस अनुसार सच्चे हृदय के प्रयत्न से कौन किया करता है? करता है वही पाता है। **पहला उपाय**

तो मन की सभी प्रकार की क्रियाओं से अलग होकर जागृति ज्ञानपूर्वक सेना। स्वयं उससे अलग होकर मन की सभी प्रकार की क्रियाओं में थोड़ा भी भाग न ले, उसे समतापूर्वक तटस्थता से देखा करे। यानी साक्षीवत् रहा करे और देखा करे। ऐसा करने से यदि उस अनुसार सच्ची तरह से हुआ करता होगा, तो मन शांत होते जाता अनुभव कर सकते हैं ही। दूसरा उपाय मन में जो जो कुछ जो जो पल में उठे, उसे उसे फेंककर मन को नामस्मरण या गुरु की भावना में या चेतना में या हृदय में हृदय की शांति पर एकाग्र किया करना यह है।

• • •

किसी भी भोग पर निश्चय का पालन करें

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. २७-३-१९५२

हमें तो जाहिर में होना है न ? कौन-से आपस में झगड़ा निबटा लेना है ?

निश्चय जो टूटता है, उसका एक कारण तो निश्चय बना रखने के लिए दृढ़ता, अटलता, तेजस्विता, उसे जीवित रखने के लिए फना होना आदि हम में जागृत हुए होते नहीं है। जो निश्चय करे उसे करने से पहले मन में मन से समझ लेना होगा कि यह ऐसे या वैसे टूट जायेगा, तो वह चला नहीं लेना है, पर वह किसी भी भोग पर पालन करना है। ऐसे नामस्मरण करते-करते यह हमेशा रह सके ऐसा करना। प्रभु को चलते, फिरते, घूमते सकल कोई कर्म करते-करते हृदय में हृदय से उनकी कृपामदद के लिए प्रार्थना किया करे और किये हुए निश्चय को मकोड़ा जैसे चिपक के रहता है वैसे चिपक के रहें। यह तो निश्चय करे और बारंबार टूट जाये, तो वैसे निश्चय से कोई प्राण प्रकट होते नहीं, तेजस्विता भी जागती नहीं, उलटा मनोबल कमजोर होता जाता है। जो निश्चय करे और उसका पालन न कर सके, तो हमारे अपने ऊपर अपना बल और उसकी असर कम होती जाती है। ऐसे मनुष्य निश्चय अमुक अमुक प्रकार का करता जाय, पर वह पालन तो होता

नहीं है, तो ऐसा करते करते वह बिलकुल कमजोर होता जाता है। निश्चय करे तो वह पालन करना ही है ।

जागृति क्यों न रहे ? कम बोलना क्यों नहीं होता ? वह तो सरल है। इतना किया हुआ निश्चय क्यों नहीं पालन होता ? नहीं, नहीं, वैसा कुछ नहीं चल सकेगा। इससे फिर से मन में मन से सोचकर यदि वह निश्चय करना हो तो कर लेना और उस अनुसार ही व्यवहार करे। किया हुआ निश्चय टूटे उसका अफसोस भले न करे, पर उसका पछतावा तो हृदय में भयंकर घाव की तरह लगना चाहिए । पछतावा उसका नाम है कि जिस तरह जो होना चाहिए वैसा न होकर उससे विपरीत तरीके का हो, इससे जो भावना फैलती है, उसके कारण साधक दुबारा सतेज होकर, कटिबद्ध होकर किये हुए निश्चय में प्राण प्रकटकर फिर वापिस बैठा हो जाय वह । पछतावा अर्थात् खाली खाली बीती कहानी पर रोना वह नहीं । पछतावा हुआ हो तो उसके द्वारा जिस बात में पछतावा हुआ हो, उसमें से ऊपर आने का सच्चा हुआ पछतावा उसे आकाशपाताल एक करवाता है। इसलिए कृपा करके निश्चय करने से पहले सोच लेना । **जो निश्चय करें उसे तो मृत्यु पर्यन्त पालन किया करे । ऐसे निश्चय को जो *जीव* लगा रहे और उसका पालन किया करता है, वैसे *जीव* की मनोबल शक्ति बढ़ती जाती है । जो *जीव* किये निश्चय को पाल नहीं सकता है, वह *जीव* तो बिलकुल निर्माल्य और नामर्द है ऐसा गिने ।** भूल हो या हार हो तो निराश न होवे, यह बिलकुल सच पर जो संकल्प टूटा और हमने उसे टूटने दिया तो यह फिर हम पर सवार नहीं होगा उसका क्या भरोसा ? इसलिए यह तो टूट न जाय ऐसे जागृत रहकर उस प्रयत्न में मशगूल रहा करे तभी उसकी शोभा है। भूल हो या हार हो तो फिर-फिर से जिस विषय में भूल हो या हार हुई हो, उसमें से जागकर फिर निश्चय को चिपककर रहे और अधिक से अधिक चेतते रहे, पर निश्चय को तो कभी मरने न दें ।

गुरु की लाचारी

तुम्हें प्रभुपथ जाने की इच्छा हुई है, पर तमन्ना जागी नहीं है । तुम विनती करती हो कि तुम्हारी इच्छा को तमन्ना के रूप में फेरने का काम मेरा है । भला **जीव** ! मैं तुम्हें क्या कहूँ ? यदि वैसा होता तो क्षणभर भी राह देखी होती सही क्या ? हर पल जो **जीव** अपने जीवन का विकास जिसकी कृपा-मदद द्वारा होना है, उसे हृदय में हृदय से एकाग्र, केन्द्रित और समग्र में जीवित रखा करता है, जहाँ तहाँ उसे जीवित किया करता हैं और उसकी चेतना को जिसमें और तिसमें प्रकट किया करता हैं, वैसे **जीव** का गुरु जो तो कोई योग्य जरूर कर सकते हैं । **मुझे मिले हुए स्वजन और वह भी आध्यात्मिक जीवन के लिए जो मिलते हैं, उनमें से कोई, भाग्य से अपने दैनिक जीवन में उस तरह उसका चिंतन करना होता है ।** इसलिए कृपा करके हमारे लिए दूसरा कोई कुछ करे ऐसी कल्पना या भ्रमणा में रहने में कोई सार नहीं है । किया या हुआ उतना पाया । **गुरु के पास से प्राप्त करने के लिए जो अनिवार्य शर्त है, वह तो पालन करने की किसी में प्रेमभक्तिज्ञानयुक्त हृदय की आतुरता नहीं है, फना होने की ताकत नहीं, सभी भाव और सभी तरह से गल-मिल जाने की हृदय की उम्मीद और उत्साह नहीं, उसके लिए उसके हृदय की मस्तीवाली प्रेमभक्ति नहीं है । गुरु कहे वह कर बताये, ऐसा बर्ताव करे, उन्हें खुश किया करने की हृदय में हृदय की अभी पूरी सच्ची दानत किसी को प्रकट हुई नहीं है । इसलिए कृपा करके गुरु के पास आशा की बात न करे, पहले तो उपरोक्त शर्तें जीवन में आचरण करने का किया करो । अभी हरपल उसे अपने कर्म में तो दूर रहा पर हृदय में भी कौन जीवित रखता है ? इसलिए जो करना हो वह करने में और लगे रहने में सार है ।**

नम्रता के साथ निश्चय पूरा करो

हमें सकल जो कुछ भी प्रभुप्रीत्यर्थ और कर्मयज्ञ की भावना से किया करना है । ऐसा स्मरण या भावना क्षणभर भी तुम्हें कहाँ हुई

है ? यज्ञभावना अर्थात् क्या ? संपूर्णरूप से हरपल आहुतियाँ देते ही रहना । इस प्रकार इसमें हमारे किये निश्चयों को अदा करने की भावना और दानत हो या ऐसा कोई जो निश्चित किया हो या निश्चित कर ले, उसे स्वीकार करके आचरण करने के बाद, उसका अमल करने पर पीछे मुड़कर देखना नहीं चाहिए । कोई हमें तुच्छ माने, अवगणना करे, कोई हमें वैसा होने देने में निरुत्साही करे या कुछ भी करे, तब भी हमने उठाया कदम जगत की दृष्टि से गलत हो या लगता हो, तब भी वह अवश्य लेने का करे । वैसा करते–करते हम तो सदा नम्र से नम्र और जो तो सभी के प्रति हृदय का निथरता सद्भाव रखा करने का जीवित प्रयत्न किया करते हो, किये निश्चय के पालन में जीवित रहा करे, तो ऐसा कदम जीवन में जोश और शक्ति देनेवाला है वह जानना । बाकी तो *'अभी बोला और अभी फोक'* के जैसी दशा होनेवाली है यह निश्चित जान लें ।

नम्र में नम्र बनो

सरलता, सहजता और सहृदयता तथा श्रद्धापूर्वक किये कर्मयज्ञ का अमल करते करते हमें तो प्रभु के भावस्मरण में ही एकाग्र और केन्द्रित रहा करने का जीताजागता प्रयत्न हृदय में हृदय से किया करना रहता है । उस समय अपने मन में, दिल में किसी कोने में चुपचाप छिपी अहंता को खोजकर उसे बारंबार पकड़ करके दूर अलग करनी रहती है, अहंता से जितने साफदिल होंगे और उससे मुक्त होते जाएँगे, उस समय ही अंतरात्मा की आवाज यानी क्या उसकी साधक को सूझबूझ आती जाती है । 'अंतरात्मा की आवाज' है, है और है ही । पर किसे उसे सुनने की पड़ी है ? कौन उसके लिए कहे अनुसार बर्ताव कर बताता है ? अहंता से बिलकुल मुक्त हमें बनना है । बिलकुल निरभिमानी बनना है । ऐसा बने बिना कभी निराग्रही नहीं हो सकते हैं । अहंता कम होती है और बिलकुल कम होती है, उस समय हृदय यानी क्या वह भी समझ आ जाती होती है । इससे कृपा करके जो जो कहने में आये वैसा बर्ताव करने लगें तो कुछ जीवन में सार अनुभव होता है । बाकी, बकरी के गले के

नीचे आंचल हो, उसकी तरह खाली-खाली चिपके रहने में सार नहीं है। निकम्मे बैल की बात तुम्हें पसंद आई, पर अभी दो धौल लगाई हों और पचास लोग पहचान के हो और तुम्हारा भरपूर अपमान किया हो तो तुम्हें कैसा लगेगा वह पहले से मन में सोच कर देखना। प्रभुकृपा से वैसा शायद **यह जीव** परीक्षा करने करेगा ही। तुम मुझे पूछोगी कि ऐसा क्यों किया ? पर डॉक्टर के यहाँ नश्तर लगवानेवाला दर्दी डॉक्टर को ऐसा कुछ थोड़े ही पूछता है कि आपने नश्तर ऐसे और इतना सारा क्यों रखा ? इसलिए अभी चेतना हो तो चेत जाओ। अभी समय है। इसलिए कृपा करके फिर से सोच लेना।

कृपा करके हक्के-बक्के हुए बिना अब तो जागो, कटिबद्ध हो जाओ और निश्चय के महल में बसो। **हरपल स्मरण को जागृत करे और संसार में रहें सही, पर संसारी बनकर उसमें थोड़ा भी मन न रखें।**

• • •

गुरु में राग होने पर सब होगा

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. २८-३-१९५२

उत्तम प्रकार के आत्मनिष्ठ **जीव** में सामान्य **जीव** से यानी **जीव**दशावाले मनुष्य से राग होना यह भी एक दुर्घट घटना है। ऐसे में यदि हृदय का हृदय से हृदय में राग हो जाय तो भी वैसा **जीव** उस उच्च कक्षावाले में रमा करे। भले ही वह **जीव**दशावाला हो और **जीव**दशा की कक्षा का राग उसमें रहा करता हो, तब भी उस उच्च कक्षावाले मनुष्य के गुणों की असर **जीव**दशावाले मनुष्य को हुए बिना रह ही नहीं सकती। '*सोहबत* **ऐसी असर और संग वैसा रंग**' ऐसी जो कहावत है, उसमें अवश्य कुछ तो तथ्य रहा है।

परा और अपरा प्रकृति

हम सभी अभी **जीव**दशावाले हैं। इससे हम में अपरा प्रकृति काम कर रही है। **अपरा प्रकृति यानी रागद्वेषयुक्त द्वन्द्व के वश बर्ताववाली अथवा द्वन्द्व को उत्पन्न करनेवाली अथवा द्वन्द्व ही जिसका माप है और**

दृष्टि, वृत्ति है, ऐसी अथवा हम शरीर, मन, प्राण हैं आदि इन सभी में परिमित हैं और उससे पर का जिसे कुछ ख्याल नहीं होता है वह। दूसरी प्रकृति है, वह परा प्रकृति है। वह दैवी प्रकृति है, जिसमें द्वन्द्व का भाव नहीं हैं। अपरा और परा ऐसे भेद मूल में तो कुछ भी नहीं है। यह तो व्यवहार में समझाने की दृष्टि से लिखना हुआ है, बाकी तो सभी एकाकार है। दैवी प्रकृति द्वन्द्व की प्रेरणा से कार्य नहीं करती है, जबकि अपरा प्रकृति तो द्वन्द्व की प्रेरणा से ही प्रेरित होती है। परा प्रकृति तो जागे हुए और जागृति अनुभव करते और चैतन्यपुरुष जिसका जाग गया है, ऐसों के हृदय की प्रेरणा द्वारा कार्य करती होती है। उसमें द्वन्द्व की वृत्तियाँ नहीं होती है। आगे बढ़ने पर मनुष्य की नजर में आ जाये और ख्याल में आता हो, ऐसे द्वन्द्व से वह काम ले सकता होता है। परा प्रकृति को अपरा प्रकृति अपने ढंग से ही समझ सकती है। परा प्रकृति का सही, पूरा और सच्चा अनुभव हुए बिना उसे अपरा प्रकृतिवाले से योग्य ढंग से समझ भी नहीं सकता है। परा प्रकृति हम में प्रेरणा से काम कर सकती है, इससे ऐसी दैवी प्रकृति तो सभी बंधनों को तोड़कर आगे भी बढ़ सकती है। एकता का भी अनुभव कर सकती है। परा प्रकृति का अनुभव हुए बिना **जीव** से चेतन के अनुभव के लिए कुछ मिल नहीं सकता। **दैवी प्रकृति में हम जीवित रह सकें तभी श्रीभगवान का अनुभव हो सकता है, उसके बिना तो नहीं ही और वैसे पलोंपल ज्ञानभक्तिपूर्वक जीवित रह सके तभी जीवन दैवी हो सकता है।**

दो प्रकार की साधना

इसीसे हम संसारव्यवहार, वर्तन, संबंध, संपर्क, कामकाज, बोलने-चालने में, हमारा **जीव**पन न व्याप्त हो जाय उसकी संपूर्ण सावधानी रखनी है। जो जो **जीव**पन है, उसकी कड़ी निगरानी रखकर उसकी जानकारी में तो रहना है और वह सब जो जो देना है, उसे दिया ही करना है। **एक तरफ से ज्ञानभक्तिपूर्वक खाली होने के लिए जो तो सभी *जीव*पन छोड़ना है। स्वयं गुरु प्रत्यक्ष है, ऐसे अनुभव को हृदय में हृदय से जागृत कर-करके या करवा करके उसे दिया करना है, दूसरी तरफ**

से संसारव्यवहार में जो तो सभी के साथ दैवी प्रकृति से बर्ताव करने का ज्ञानभक्तिपूर्वक का जीताजागता प्रयत्न किया करना है । इसका नाम सच्ची साधना है । वैद्य या डॉक्टर भी ऐसा ही करते हैं । एक तरफ से फोड़े को मिटाने के लिए उसे बाहर निकालते हैं। यानी कि नश्तर रखकर उसमें से मवाद सभी दबा-दबाकर बाहर निकालते हैं और दूसरी तरफ वह मिट जाय ऐसा उपचार करते हैं । यद्यपि यह उदाहरण ठीक बैठता नहीं है, पर ऊपर की हकीकत का कुछ ख्याल जगे इसके लिए लिखा है । ऐसी दुहरी प्रकार की साधना साधक को करनी रहती है ।

योग या साधना की व्याख्या

जिस जिस अनुसार **इस जीव** ने श्रीप्रभुकृपा से और गुरुमहाराज के कृपाआशीर्वाद से किया है, वह तुम्हें स्पष्ट लिखकर बतलाया है । इतने स्पष्ट रूप से किसी को नहीं लिखा और नहीं कहा है । तो तुम वैसा प्रयोग करके उसी अनुसार समझ से व्यवहार किया करो तो ही उत्तम । संसारव्यवहार में भूल-चूक से भी **जीव**स्वभाव से कोई कुछ गिनती करनी या समझना या मूल्यांकन करने या बर्ताव करना न हो उसकी सावधानी रखनी है । उसमें तो दैवी प्रकृति द्वारा ही और उसी तरह ही बर्ताव करना है । दैवी प्रकृति में द्वन्द्व की दुनिया नहीं है । इसलिए हमें संसारव्यवहार में मानो हम में द्वन्द्व ही नहीं है, ऐसे बर्ताव करना है, पर **जीव**दशावाले होने से द्वन्द्व की वृत्ति तो खड़ी होगी हो, परंतु उस उस समय जागते हो जाये और उस अनुसार न बरतते दैवी प्रकृति का आसरा लेना रहता है, वह जानना और अपरा प्रकृति से खींचाव होने पर प्रभु की कृपामदद द्वारा हृदय में हृदय से प्रार्थना (आर्तभाव और आर्द्रभाव से) किया करनी है यह जान लो ।

जो ऐसे प्रार्थना करता है, वैसा **जीव** खड़ा रह सकता है । **अपरा प्रकृति से हमें परा प्रकृति में जाना है । इस प्रकार, *जीव* प्रकृति में से दैवी प्रकृति में जाना उसका नाम साधना या योग या जो कहो वह है । हमें तो ऐसी साधना प्रभुकृपा से करनी है ।**

इसमें हमें श्रीप्रभु की भावना का स्मरण करानेवाला और उसे अखंड रखवा सके ऐसा एक सरल और सहज साधन जो है वह नामस्मरण है । इसलिए उसे तो पलपल लिया ही करें । **जोर से इतना बोले कि हमारे कान वे सुन सके ।**

● ● ●

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. २९-३-१९५२

मनन, चिंतन, निदिध्यासन - यह तीनों हम में हुआ करने चाहिए, पर उसका अर्थ तुम्हें समझ आया कि नहीं उसका मुझे पता भी नहीं है, और तुमने मुझे इसके बारे में कुछ पूछा भी नहीं है । मैंने तो मान लिया कि तुम्हें उसकी समझ पड़ गयी होगी, पर उसकी समझ तुम्हें पड़ी हुई लगती नहीं है ।

मनन अर्थात् मन में मन द्वारा प्रभु की स्मरण भावना में ज्ञानपूर्वक एकाकार रह सके ऐसा सतत एक-सा प्रयत्न करना वह ।

चिंतन यानी पलपल जीवनविकास के आदर्श के सामने ही दृष्टि रहा करे ऐसी मानसिक एकाग्रता, मानसिक प्रवृत्ति में यहाँ से वहाँ जाने पर फिर मन को स्थिर कर-करके उसे आदर्श के केन्द्र में वापिस खींचकर लाना वह । ऐसी प्रक्रिया साधक को जागृति रखकर बारबार किया ही करनी है ।

निदिध्यासन : पशु पहले तो खाते ही जाते हैं और फिर वह खाली बैठा बैठा उसे निकाल निकालकर अत्यधिक जुगाली करता है, उसी तरह अनेक विचार, वृत्तियाँ, मनोभाव, भावना, भाव और सकल कोई होती प्रवृत्तियाँ, संसारव्यवहार के संपर्क और कर्मों, शरीर की सकल होती रहती स्थूल और सूक्ष्म क्रियाओं आदि सभी ज्ञानभक्तिभाव से उसे पलपल समर्पण किया करने की प्रत्यक्ष क्रिया वह भी इसमें आ जाती है ।

ये तीनों हम में यदि जागृति न होगी तो किस तरह से हो सके ?

भूख जगाओ

सचमुच जीवनविकास की लगनी हृदय में हृदय से लग गयी हो ऐसा साधक अभी मिला नहीं है । किसी भी **जीव** को अभी उस कार्य के लिए सचमुच की गरज जागी हुई जानी नहीं है । इसका अर्थ ऐसा नहीं कि कोई है ही नहीं । इससे लगनी लगाकर जो तो हमें तो करना है । भूख लगे बिना कोई स्वाद आता नहीं है । इससे श्रीप्रभु का नामस्मरण उसकी भावना और हृदय में धारणा के साथ सतत एक-सा लिया करें उसके लिए जितना ज्ञानभक्तिपूर्वक प्रयत्न करें उतना उत्तम है ।

पलपल सँभालो

एक पल भी बेकार जाय तो हृदय में अति वेदना हो ऐसा अनुभव होगा तो वैसा **जीव** नामस्मरण में रह सकेगा । इसलिए कृपा करके अब तो उसमें मन **जीव** पिरोना कर सकें तो कुछ अच्छा लगे । खाली खाली साधना का नाम लेने से कुछ नहीं होगा । हिंमत रखकर उसका नाम लिया करो । इसमें कोई किसी को रोक नहीं सकता है ।

सभी कर्म प्रार्थना के साथ करो

जो जो कुछ हुआ करे — मन में भी — वह वह सभी श्रीभगवान के चरणकमल में कहा करें । ऐसा कहा करने से उसके साथ हृदय का संबंध बंधते जाता है । जहाँ जहाँ कहीं झिझकना हो वहाँ प्रार्थना करें । पानी पीते समय प्रार्थना, मलत्याग के समय प्रार्थना, लघुशंका के समय में भी वैसा ही, भोजन करते समय भी, कपड़े पहनते समय भी, नहाते समय भी, ऐसे प्रत्येक कर्म के आदि में वह वह कर्म श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ है, ऐसी हृदय की धारणा रख रखके प्रार्थना किया करनी है । रात को सोते समय, उठने समय में भी वैसा ही ।

प्रभु में तादात्म्य का अर्थ

श्रीप्रभु की भावना के बिना एक क्षणभर भी यदि सूने रहे तो हमें छूत लग गई ऐसा गिनें और मानें । श्रीप्रभु की स्मरणभावना

बिना का समय जाने पर वह हमें अत्यधिक चुभता है और ऐसी स्मरणभावना यह तो हमारे श्वासोच्छ्वास की तरह हो जानी चाहिए । तभी साधना हो सकती है । **जीव** का तादात्म्य प्रभुकृपा से उद्‌भव हुआ है ऐसा तो ही माना जाएगा और गिना जाएगा । इससे कृपा करके चेतने में ही सार है ।

संपूर्ण निराग्रही बनो

हो सके उतना कम बोलें । इससे किसी को खराब लगे तो कोई बात नहीं । कोई छुटकारा नहीं हो वही बोले । जो तो सभी के साथ प्रत्येक का स्वभाव और प्रकृति अलग अलग होने से मुठभेड़ होना भले ही संभव हो, पर यदि हमें अपने स्वयं के ही स्मरण-भावना के कर्म में लगातार रहना है और उसके बिना दूसरा कोई कर्म यदि नहीं है, और जो करना है उसमें इस तरफ का या उस तरफ का कोई मताग्रह भी नहीं है, तो हमारी किसी के साथ मुठभेड़ क्यों होगी ? कोई कहे कि 'ऐसा' तो ऐसा, कोई कहे, 'ना, ऐसा नहीं वैसा' तो हमें तो वैसा हो तब भी भले । ऐसा बर्ताव करने से हमें कोई मूर्ख बनायेगा तो वह भी भले ।

निरपेक्ष प्रेम जगाओ

हम से किसी **जीव** के अवगुण देखें न जाएँ उसकी तो सौ प्रतिशत परवाह रखनी है । हमारे कोई दुर्गुण देखता हो उसकी परवाह हमें कुछ नहीं रखनी है । हमें तो सभी किसी के गुणों की पूरी कदर किया करनी है । हमारे गुण की कोई कदर न करे, तो उसकी लेशमात्र परवाह नहीं करनी हैं । हमें तो सभी के साथ हृदय का प्रेमभाव रखना है । इस बात में पर्याप्त हृदय की सँभाल रखनी है । हमारे लिए कोई वैसा प्रेम न रखता हो, और उलटा कोई क्रोध, गुस्सा, एतराज या ऐसा रखता हो, तो उसके प्रति संपूर्ण दुर्लक्ष रखना है । समय आने पर ऐसे **जीव** का हमें विशेष ध्यान रखना है । हमें तो जिसमें और उसमें श्रीप्रभु को ही गिनना है ।

● ● ●

अपने पहरेदार बनो

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. २९-३-१९५२

यदि हमें सच्चे रूप से और सही साधना करनी ही हो, उसके पीछे दत्तचित्त होकर लगे रहने की हृदय की धारणा जागी हो, तो ऐसे **जीव** की वैसी वृत्ति सचमुच हुई है कि नहीं उसका भी लक्षण होता है। ऐसा **जीव** तो अपने अंतर में छुपी रही कामनाओं को पोषने के लिए सूक्ष्मरूप से **जीव** यदि प्रवृत्त हो, तो वह उस समय सिंह की तरह उस पर टूट पड़ता है। स्वयं अपना सतत जागृत पहरेदार पलपल का बना करता है। ऐसा जिससे व्यवहार होता है, उस **जीव** को कोई चोट लगी है ऐसा जानें और मानें।

दुर्वृत्ति की निराई करो

इस जीव के साधनाकाल में **जीव** की अपरा प्रकृति का भाव कुछ कम न था, पर प्रभुकृपा से उसे खोजता ही रहता और उसके अधीन न होने का प्रभुकृपा और श्रीगुरुमहाराज की कृपामदद से प्रयत्नशील जागृतरूप से पलपल रहा ही करता। उस उसके लिए सतत प्रार्थनाभाव में रमा करता था। उस समय की उसके लिए की प्रार्थनाओं के नमूने कुछ 'हृदयपुकार' और 'केशवचरणकमल' में हैं। इसलिए **जीव**प्रकार की वृत्तिओं को खोज-खोजकर निराई करनी है। निराई करनी है अर्थात् क्या ? उसकी निंदा करनी है इतना और ऐसा नहीं पर उखाड़ देनी है। निराई कब होती है ? जब किसान को ऐसा समझ में आये कि 'अच्छे के साथ गलत उगा है और ऐसा गलत उगा है कि अच्छे को उलटा नुकसानकारक है, उसे यदि उखाड़ न फेंके तो सही को वह उगने ही नहीं देगा।' इससे ऐसे गलत उगे हुए को किसान लोग निराई करते हैं और उसे 'निराई' कहते हैं। इसलिए ऐसी निराई की क्रिया तो साधक को जागृति रख-रखके किया करनी है। उसके बिना चलनेवाला नहीं है।

अपरा प्रकृति की चालबाजी

प्रभुकृपा से ऐसा होने का प्रयत्न यह **जीव** का था और उसमें फलित भी हो रहा था। वहाँ आँख में धूल डालने का भी प्रकृति प्रयत्न करती थी, पर जिसकी दानत सचमुच जग गई हो, उससे समय पर प्रभुकृपा से चेत जा सकते हैं। बिलकुल निःस्वार्थ लगते व्यवहार, संबंध, संपर्क या प्रवृत्ति में भी कुछ न कुछ गंध या दुर्गंध निकलती हो ऐसा अनुभव हो जाता और प्रभृकृपा से चेत जाता। इसी तरह प्राण की वासनाएँ भी गुप्त रूप से झाँक कर जाती और किस किस तरह और कैसे सूक्ष्म ढंग से वह सब तो तुम्हें क्या लिखूँ! ऐसे जीतेजागते रूप में साधना का यज्ञ एक तरफ से प्रभुकृपा से चला जाता होता है और दूसरी तरफ उसकी अपनी प्रकृति दूसरे **जीवों** के निमित्त द्वारा कई कई अड़चन पैदा करती है, पर जो देखता हो जाता है, वह आँख में धूल जाने से चेत जाता है। जिस **जीव** को ऊपर उठना है, उससे नीचे जाने पर पता चल जाता है कि 'भाई! यह तो अपरा प्रकृति का खेल है। इसमें यदि फँसे तो खेल खत्म हो जाएगा और बत्ती गुल हो जायेगी। इसलिए बाप! चेतो और उठो, नहीं तो कुछ देर भी भान भूले तो उसमें खिंचते ही चले जाओगे समझो।' ऐसा करने से वह जाग जाय तो जाग जाता है।

सहस्त्रशीर्ष, जरासंघ अहंकार

हमारे मन की प्रवृत्तियाँ, विचार आदि के साथ प्राण की आशा, इच्छा, कामना आदि के साथ हमारे अहंकारदादा तो सदा खड़े पैर तैयार ही होते हैं। हम जाग-जागकर चेत-चेतकर **जीव** की **अहंता** से बिलकुल मुक्त होने और निरभिमानी होने का प्रयत्न किया करेंगे, तो मन या प्राण को कुछ रास नहीं आयेगा। जिसकी अहंता गल गयी हो, उसे मन या प्राण अपरा प्रकृति में रगड़ नहीं सकते। जो तो सब अहंकार के कारण ही हुआ करता है। इससे साधना में पहले तो अहंकार का ही प्रथम बलिदान, त्याग और समर्पण से भगवान के चरणकमल में प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक किया करना होता है वह जान लो। इससे साधना करनेवाला **जीव** को

अहंकार को थोड़ा भी उठने नहीं देना है। ऐसों को संसारी **जीव** अनेक तरह से टोकेंगे। उसे प्रज्वलित (**जीव**दशा में) करने को अनेक तरह से प्रयत्न करेंगे। तथापि हमें वहाँ थोड़ा भी डिगना नहीं है। अहंकार जैसा तैसा नहीं है। उसके तो हजार सिर हैं। उसके सिर कट जायें, तब भी नये नये जन्म लेते रहते हैं। उसके हाथ, पैर, सिर, धड़, सब अलग अलग काटकर अलग फेंक दो, तब भी वे सब वापिस इकट्ठा होकर एक हो जाते हैं। ऐसे हैं अपरा प्रकृति के अहंकार के लक्षण और स्वभाव। इसलिए उसे तो भगवान के चरणों में प्रेमभक्तिज्ञानभाव से समर्पण ही किया करें। जहाँ जहाँ उसका झाँकना हुआ कि उसे भगवान को दे दो।

'दे देना' अर्थात् क्या ?

'दे देना' वह किस तरह होगा ? **दे देना अर्थात् उस उस समय श्रीभगवान को हृदय में हृदय से सच्ची तरह आर्द्र और आर्तभाव से प्रार्थना करनी है कि 'प्रभु ! आप इसे कृपा करके स्वीकार कर लो। आप और मेरे बीच एक बड़ा अंतराय करता है, इसलिए कृपा करके उसे आप इस *जीव* के पास से ले लो। आपके चरणकमलों में इसे मैं समर्पण करता हूँ।'** यदि हम सच्चे साधक हों और हमें **जीव**प्रकृति का ऐसा अहंकार सचमुच काँटे की तरह चुभता हो, तो हमारी प्रार्थना में आर्तनाद और आर्द्रभाव आएगा ही, पर मूल मुद्दे की सच बात यह है कि **जीव** को अपनी अपरा प्रकृति का सचमुच सालनापन, दंशपन और उससे जलनापन हृदय में हृदय से लगा हुआ नहीं होता है। इससे हम प्रभु की कृपामदद याचना कर-करके किया करें।

प्रार्थना में दर्दभरी दानत हो

अहंकार को तो निर्मूल करते ही रहें। अहंकार जिसका टला, वैसा **जीव** अपरा प्रकृति से परा प्रकृति में जा सकने में समर्थ हो सकता है। ऐसे संसारव्यवहार में अहंकाररहित होने का जागृत ज्ञानपूर्वक का प्रयत्न करते-करते हमें संघर्ष करना है। अहंकार होगा वहाँ तक मन या प्राण के **जीव**दशायुक्त भाव हमें ऊपर ले जाने को शक्तिमान नहीं हो

सकेंगे । इसलिए जिसे साधना करनी है, उसे तो नीचे से भी नीचा, चरणरज की भी रज अथवा शून्य से भी शून्य हुआ करना है । जहाँ जहाँ अभिमान जागे, वहाँ उसे श्रीभगवान को सौंपा करना है । फिर, ऐसा कहें कि 'हे भगवान ! यह तुझे सौंपा ।' ऐसा खाली खाली बोलकर नहीं चलेगा । उसमें सचमुच की दर्दभरी हृदय की वृत्ति उस काम के प्रति पूर्ण प्रकट होनी चाहिए, तभी कोई काम हो सकेगा ।

अहम् जाने पर चेतनाशक्ति का प्राकट्य

इस प्रकार, हम से अहंकार निकल जाय और प्राण के आवेग और आवेश यानी कि अनेक प्रकार की कामनाओं का लय होता जाय, उसके बाद की दशा प्रकट होते ही हमें अपने अंदर रही शक्ति की पहचान होने का प्रारंभ होता है । इससे प्रभु की कृपामदद ले लेकर मन, प्राण और बुद्धि - इन तीनों को सँवारने का काम जैसे साधक का है, वैसे ही सर्वप्रथम निरहंकारी बनने का काम भी साधक का है । यह कर्म कोई जैसा तैसा नहीं है । इससे संसारव्यवहार, संबंध, वर्तन में, हमारी सकल कोई प्रवृत्ति में अहंकार से व्यवहार न हो, उसकी पलपल सावधानी रखनी है । कोई कुछ उलटा-सीधा कहे तो हमारे अहम् को फटका लगाने श्रीप्रभुकृपा से प्रेरित वैसे **जीव** ऐसा करते हैं, ऐसा मानें, जानें और अनुभव करें । इस तरह से समझने से किसी **जीव** के प्रति खराब लगने का संभव नहीं रहता । खूब आनंद में रहना और नामस्मरण क्षणभर भी भूलना नहीं ।

• • •

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. २९-३-१९५२

पूज्यश्री नानचंद्रजी महाराज की प्रार्थना कविता मिले । सहृदयी आत्मा का प्रसाद प्रभुकृपा है ।

'त्वदंशों का देखना वदन तुझ को दीन न पसंद ।'

यह पंक्ति तो श्री बोटादकर की है यह जान लो ।

सद्‌गुरु का जीवन कैसे टिकता है ?

त्वत् + अंश । त्वत् अर्थात् तेरा अंश । इसका अर्थ तेरा स्वजन, तेरा अंश । यानी कि जो तेरा स्वजन है, तैरा अंश है, उसका मुँह दीन हुआ देखना तुम्हें पसंद नहीं है । इससे तुम्हें किसी भी दशा या किसी परिस्थिति के भार से लदी हुई नतमस्तक से हताश हुई या निराश हुई देखकर यह **जीव** को कैसे रुचेगा ? तेरे जैसों के कारण तो जीने का उल्लास जागता है । जीवनविकास के लिए प्राप्त स्वजनों के जीवन का शौर्य, हिंमत, साहस, धीरज, बलिदान, त्याग, समर्पण ऐसे ऐसे गुणों का त्रिवेणीसंगम के प्रसंगदर्शन की अनेक परंपराओं और उससे जीवनविकास की संभावनाएँ प्राप्त हो सकती हैं । ऐसे ज्ञान का उन उन **जीवों** को होता रहता अनुभव – ऐसे सब साधन तो इस **जीव** को जीने के लिए लोभित करते हैं । बाकी तो दूसरा कोई जीने में रस रहा नहीं है ।

शरीर का सदुपयोग कैसे हो ?

शरीर का महत्त्व अनुभव के लिए है । बाकी, इसका महत्त्व भी क्या है ? उसके पास से ले लेकर कितना काम ले सकते हैं ? जगत में देखो न ! गधे के पास से कितना काम लिया जाता है ! भार भी कितना भरते हैं ! और न चल सके तो ऊपर से सोटी भी खानी पड़ती है । इसलिए हमें इस तरह बरतना नहीं है । संसार के डंडे भी नहीं खाने हैं और प्राप्त प्रत्येक कर्म को बोझ के रूप में या भार रूप में स्वीकार भी नहीं करना है । हो सके उतना प्रभुप्रीत्यर्थ कर्म के यज्ञ की भावना से प्रभु का स्मरण करते करते वह सब उसे समर्पण करते रहकर जो तो सब अंतर के उत्साह से वैसा किया करना है । हमें तो किसी का दोष नहीं निकालना है ।

समझदार के पास से त्याग की आशा

दान उगाहता था, उसका अनुभव है कि जो दान देता हो, उसके पास ही लोक अधिक माँगने आते हैं । न देता हो ऐसी जिसकी ख्याति होती है, उसके पास कोई भी न जाय । उस तरह जो कोई **जीव** उत्साह, उमंग से काम करने में खुशी बतलाता है, उसे काम शीघ्रता से बताया

करे इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । दूसरों को अच्छा लगेगा या नहीं इसकी हमें कुछ पड़ी नहीं होती । किसी **जीव** को कुछ भी काम मानो कि न मिलता हो, उसके साथ हमें कोई संबंध नहीं है । हमें तो अपना ही देखना है । जितना हो सके उतने उमंग से, प्रभु को खुश करने के हेतु से, करना है । किसी के लिए तो करना नहीं है । ऐसे करनेपन का हमारा हेतु और समझ तो कोई संसार के व्यक्ति को खुश करने का होता ही नहीं है । किसी को खुश रखने या करने की खातिर हम अधिक काम कर-करके शरीर को तोड़ देते हैं ऐसा लगे तो हमारे ऐसा लगने में दोष रहा हुआ है । क्योंकि हमें तो सकल कर्म जो कुछ आ पड़े, उसे बिना आनाकानी के प्रभुप्रीत्यर्थ स्वीकार करना होता है ।

कर्म के पीछे की दृष्टि और परिणाम

हमें कर्म को केवल काम के रूप में नहीं देखना है । वह कर्म करते-करते अंतर में हमारी भावना किस तरह प्राणवान रहती है, वह तो सदा देखते रहना है । कर्म को शुष्क रूप से करने से तो जीवन उलटा कुचलेगा ही । इसलिए कर्म करते समय हृदय में भावना का ओघ उछलता रहे तो कर्म तो हलके फूल जैसे हो जाएँगे और उसे करते करते हृदय में आनंद प्रकट रहेगा । कर्म के संपर्क और संबंध के कारण जो जो स्वजनों और **जीवों** के समागम में आये उनके प्रति हृदय का समभाव प्रकट होता रहे, और सद्‌भाव में सभी के साथ बर्ताव कर सके - यह इस तरह कर्म करने से प्राप्त परिणाम हैं ।

काम के पहाड़ से भी ऊबे नहीं

तेरे जैसे के वर्तन से और जीवन से मैं जीया करता हूँ, यही मेरी तुम जैसों के पास से भिक्षा है । ऐसे वर्तन द्वारा **इस जीव** में प्राणचेतना आती है । जिसे जीवन-विकास साधना है, ऐसे **जीव** को तो आ पड़े कर्म स्वीकार करके हृदय की उमंग से करना है । तो तो ऐसा प्रश्न उठे कि हजारों लोग ऐसा बताते रहे तो ऐसा कहाँ करते फिरें ! ऐसा प्रश्न ही अस्थान पर है । एक तो हमारे कुटुंब और हमारे विस्तार में

हजारों लोग नहीं हैं और जो कोई बतलाता है, वह तो हमारा स्वजन हो, वही बतलाएगा । वैसों का बतलाया जो जो हो उसे करने में कम या ज्यादा हो उसकी गिनती नहीं होती है । श्रीभगवान भी उनके हृदय में बिराजमान हैं ही । वही परम कृपालु भगवान हमारी शुश्रूषा करनेवाले हैं । हिंमत, धीरज रखी है और रखते रहें उसमें ही जीवन की शोभा है ।

हमारा आधार

जहाँ जहाँ मन में थकान लगे, संताप हो, ऊब पैदा हो या त्रास लगे तो यह 'मोटा' मर नहीं गया है । उसे हृदय में प्रार्थनाभाव से प्रकट करें । इससे हृदय में हिंमत, बल, भाव, प्रेरणा, धीरज आदि तुम्हें मिलेंगे । ऐसा तुम अवश्य अनुभव कर सकोगी, परंतु कृपा करके हार न मानें या निराश न हों या सिर पर हाथ देकर बैठ न जाएँ । हमारा आधार तो संसार नहीं है । हमारा आधार तो करुणा-सागर कृपानिधि, हजार हाथवाले श्रीभगवान हैं । उसे हम अपने पास ही हृदय में जीवित रखा करें, तो सदा मस्ती ही है और आनंद आनंद के ओघ ही उड़ा करेंगे ।

'दम घुटनेवाले मनघडित भेद परहरूँ ।'

कैसी सुंदर प्रार्थना है ! ऐसी भावना की पल जीवन में जब जीतीजागती हुई होती है, तब जीवन में खुमारी कैसी है उसकी परीक्षा होती जाती है । जीवन के नूर और हीर ऐसे किसी संक्रांति के काल में ही परखें जाते होते हैं । जो जीवन का साधक है, वह कुछ कहीं से हार मानता नहीं है । वह किसी से भाग छूटने का दिल से भी नहीं करता है ।

आहुति नहीं, पर प्रकट होना वह

वह तो जो तो कुछ उलटा-सीधा हो उसका पराक्रम से सामना करता है । उस सामना करने में जीवन को अधिक से अधिक तेजस्वी बनाने, श्रीभगवान के योग्य यंत्र बन सकने के लिए जो जो आहुतियाँ दिया करनी हो, उन-उन आहुतियाँ दे करके, अधिक से अधिक शुद्धता

से झानकर (झानना शब्द भी योग्य नहीं है, उसके बदले 'प्रकट करके' ऐसा लिखना चाहिए था । झाननेपन में कष्ट या दुःख का भान रहा हुआ है ।) उसे लायक बनने के लिए और उस तरह की प्राणवान भावना से हमें तो जो आड़ा खड़ा है, उसका सामना करना है । जीवन का साधक तो पराक्रमी वीर है । उसके मन में तो कोई व्यक्ति बसा नहीं होता है । उसके दिल में तो एक राम ही रम रहा हुआ है । इससे व्यक्ति से उसका कुछ नहीं जाता । कभी **जीव**दशा की कमजोरी के कारण चला जाता लगे, तो उसे वापिस घुमाघुमाकर वापिस वह श्रीभगवान के स्मरणभाव में ही पिरो देगा । वैसा **जीव** तो सतत हृदय में हृदय से प्रयत्न करता रहता है ।

फ्रेंच संत बाई बर्नाडेट

फ्रांस में एक स्त्री (बर्नाडेट नाम से) बड़ी संत हो गई । उसके बारे में एक पुस्तक भी लिखी गई है । उसके जीवनवृत्तांत की पुस्तक हेमंतभाई ने पढ़ी है । उसका नाम उनके पास से जानना और उसका जीवनवृत्तांत भी । उसे साध्वी के किसी एक मठ में रखा जाता है । वहाँ उसे जो जो काम मिलते जाएँ वह बस किया ही करे । नकारे बिना वह कर्म को करती रहती है । उसे एक ऐसे प्रकार का दर्द था (gangrene घुटनों में) कि जिसकी वेदना भी असह्य होती । तब भी मन में कुछ गिने बिना वह तो कर्म के यज्ञ को सतत चलाया ही करती थी ।

समर्पणयज्ञ आनंद प्रकट करेगा

शरीर तबाह हो जाएगा ऐसा भय भी हमें रखने की जरूरत न हो । क्या हमारा भगवान मर गया है ? यदि हम मिले कर्मों में उसकी ही स्मरणभावना जीवित रख-रखकर सभी कर्म उसे ही खुश करने के लिए करते होंगे, तो कुछ भी भार दिल को लगनेवाला नहीं है । बल्कि यदि कर्म में उसकी स्मरणभावना जीवित रह सके तो मनहृदय हलके फूल जैसे लगने लगेंगे । प्रभुकृपा से कर्म को करने की कला और भावना अनुभव द्वारा कृपा से उसने जो सिखलायी है, वह तुम्हें हृदय खोलकर समझाता हूँ । समझकर उसी अनुसार बर्ताव करोगी, तब ही तेरे जीवन की सार्थकता है ।

सद्‌गुरु के आभूषण

तुम कहीं फँस जाओ या कहीं अटक जाओ या किसी से चलायमान हो जाओ या किसी से भयभीत हो जाओ या किसी से डोलायमान हो जाओ तो वह सब मेरी शर्म गिनी जाएगी और मेरा ही पतन गिना जाएगा । तुम्हारा दृढ़त्व वह तो मेरे जीवन की खुमारी है । तुम जैसों का अडिग (पर निराभिमानीवाला) सिर यह तो मुझे गौरव उत्पन्न करे ऐसा है । हृदय का उत्साहित त्याग, बलिदान और समर्पण की भावना से हृदय का सद्‌भाव, सत्कार और स्वीकार योग्य भाव का सहनेपन से हुआ यज्ञ यह तो **उसे** बिराजमान होने का सुंदर राजसिंहासन है । सभी **जीवात्मा** के प्रति हृदय की उदारता, मानसिक विशालता, सभी में समभाव और सभी को प्रभु का स्वरूप गिनकर और सभी को समान गिनकर उसी भाव से निहारने की अंतर्दृष्टि यह तो मेरे हृदय का हार है । तुम जैसे ऐसे ऐसे आभूषणों से श्रीप्रभु-कृपा-बल-मदद द्वारा इस **जीव** को आभूषित करते रहो तो मैं भी कैसा शोभायमान होऊँगा !

साधक की एक ही दृष्टि-सृष्टि

यद्यपि श्रीभगवान के बिना तुम्हें या मुझे तो कहीं शोभनापन है ही नहीं । हमें तो जैसे-तैसे करके उसे ही शोभायमान करना है । प्रिय के भाव बिना की दूसरी दृष्टि-सृष्टि हमारे लिए तो जूठा अन्न है । **संसार यह तो जीवन को कसौटी में कस कसकर शुद्ध करने के लिए परम यज्ञ** है । उसमें भावना कसानेपन की हमें नहीं करनी है, पर उससे शुद्ध हुआ करते हैं, ऐसा शुद्ध होनेपन का यदि **जीव** को ज्ञानभान जागे, तो वह ऐसा **जीव** इससे कितनी सारी कृतकृत्यता अनुभव कर सकता हो !

सद्‌गुरु कब धन्य होगा ?

तुम्हें **जीव**दशा से मर जाते हुए देखने को हृदय से तो चाहता रहता हूँ । चैतन्यता में आत्मा के ओजस में तैरते देखने को सदा हृदय में श्रीप्रभुकृपा से उत्सुकता रख रहा हूँ । इसलिए सदा ही श्रीप्रभु को खुश रखनेपन की भावना से और स्वयं शुद्ध हुआ करने का हृदय के लक्ष्य

से जो जो मिले उसे स्वीकार करके यज्ञभावना से वह वह किया करना है वह जानना । जगत में यदि जीना हो तो मर्द होकर जीना हो । बाकी के **जीव** तो क्षणक्षण नामर्द की मौत मरते होते हैं । तुम्हारे जैसे के जीवनवर्तन से धन्य होकर जीने के लिए सदा उत्सुकता रखता हूँ ।

● ● ●

कच्ची समझवाला *जीव* का मरण

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. ३१-३-१९५२

यह संसार जीवनविकास करने के लिए की साधना के लिए कर्म यज्ञभूमिका है । साधक के दिल में साधना करने के लिए की जीतीजागती प्रचंड भावना हृदय में प्रज्वलित यदि न रह सके तो संसार के चक्कर में हम कहीं अटक जाएँगे और संसार से हम कुचले जाएँगें । और जो अधकुचले और आधे बीच में रहते हैं, वह तो कहीं नहीं रह पाते हैं । जगत में तो ऐसे **जीवों** की हंसी उड़ायी जाती है । जगत को जाने अनजाने ऐसे **जीवों** को कुचलने का एक प्रकार का मज़ा भी आता है । ऐसे अधकुचले और आधे बीच में रहे **जीव** संसार के भयानक, हिंसक और निर्दय आक्रमण से अधिक से अधिक दबते जाते हैं । निराशा के भँवर में उलझकर उसमें वे डूबकर मर जाते हैं ।

किस तरह अटल स्थिर रहे ?

इससे तो साधक को हमेशा अपनी श्रद्धा के अपार परम बल से झूमने की ज्ञानपूर्वक की तैयारी रखनी होती है । स्वयं अकेला है, तब भी वह तनहा नहीं है, बेसहारा नहीं – यदि उसने श्रद्धा के मूल में और श्रद्धा के विषय में अपना हृदय पिरो दिया होगा तो । जिसके द्वारा उसका जीवनदीप प्रकट हुआ हो ऐसा वह मानता है, उसकी प्रेरणा-मदद प्राप्त करने की कला हृदय में हृदय से प्रार्थना कर करके प्राप्त करके स्वयं जीवन में संसार की रूकावट में अकेला होने पर भी खुमारी और स्थिरता अनुभव कर सकता है । ऐसे **जीव** तो अपने हृदय की प्रत्यक्ष भावना से प्राणवान रहकर अपने कर्म के यज्ञ में मस्त रहा करते हैं । संसार ऐसों

की अवगणना करने में कुछ भी बाकी नहीं रखता है । चारों तरफ से जैसे कि दावानल प्रकटा हो ऐसा भी बने, परंतु जो **जीव** श्रीप्रभुकृपाबल की मदद से अपने हृदय की श्रद्धा के बल पर झूमता है और जो **जीव** किसी को भी अवगणना या किसी पर भी कम या बुरा लगना समझता नहीं, वह क्यों सूखकर काँटा होगा ? यह तो उसके जीवन की कसौटी और परीक्षा हो रही है और वह भी जीवननिर्माण के लिए वे सारे कृपाप्रसंग हैं, ऐसा हृदय में समझकर ही स्मरण में लीन रहा करने में भाव से एकाग्र और केन्द्रित रहा करेगा ।

भगवान कब साधना हाथ में लेते हैं ?

ऐसी प्राणवान ज्ञानभक्तिपूर्वक की भावना जिस **जीव** को जो तो होते जाते सकल कर्म में रहा करती है, उस **जीव** को कर्म से घबराहट जागने की संभावना कहाँ से हो सकती है ? अथवा तो उसे कर्म से व्याप्त हो जाना संभव कैसे हो सकता है ? कर्म तो उसके दिल में प्राणवान यज्ञपुरुष है। ऐसे जीवन की साधना का मार्ग तो पराक्रमी का और दोधारी तलवार पर चलने का है। जो **जीव** उसे जितनी श्रद्धापूर्वक, भक्तिपूर्वक, ज्ञानपूर्वक हृदय से चिपके रहता है, उतने प्रमाण में साधना का भाव वैसे साधक में प्रत्यक्ष होता रहता है । जब समग्ररूप से, एकाग्ररूप से, केन्द्रितरूप से अपने श्रीप्रभु को अंतःकरण से सभी तरह और सभी भाव से एकएक करण से वह शरणागति पाता है, उस समय श्रीभगवान स्वयं ही उसे सँभाल लेते हैं। ऐसे जीवन की पलों में वह हमारा जीताजागता प्रत्यक्ष साथीदार रहा करता हृदय में हृदय से हम अनुभव कर सकते हैं। हमारे मार्ग में जो जो कुछ उलटा-सीधा, बिखरा हुआ आ पड़ता हो या आता हो, उन उन सभी में से हमारा मार्ग वह शीघ्रता से खोल देता है ।

हमारी प्रकृति ही कसौटी करेगी

इससे साधक को कसौटी या परीक्षा के प्रसंगों में श्रीभगवान के भरोसे टिके रहना होता है। वहाँ थोड़ा भी न डिगे या किसी भी अवस्था

में इधर-उधर न हो । यह तो हमारा परीक्षा का काल है । ऐसी अमूल्य पलों में खमीर प्रकटाने का और हमारे हृदय में प्रभु को प्रत्यक्ष करने का यह अमूल्य अवसर है । हमारे में रही प्रकृति वह कोई मात्र हमारे अकेले में ही रही है ऐसा कुछ नहीं है । वह तो सभी में रही हुई है । जहाँ तहाँ से वह हमें अपनी पकड़ में और खेल में रखा करने के कारण अनेक हल्ले मचायेगी ही । अनेक मुसीबतों, कठिनाईयाँ खड़ी होंगी ही । उस प्रकृति की सभी चालबाजी तो जीवन के ध्येय विषयक प्राणवान होती जाती भावना को छिन्न-भिन्न कर डालने के लिए होती है, वैसा वह प्रयत्न भी करती रहती है ।

जागृति कहाँ रखें

उसके निमित्त बनते हैं बेचारे हमारे स्वजन । वहाँ उन पर इस मन में क्या लाना हो ? इसलिए ऐसे समय में तो उस उसमें हमें अपनी स्वयं की प्रकृति के दर्शन करके अपने जीवनध्येय की भावना अधिक जागृत और तेजस्वी रह सके उसके लिए अधिक से अधिक सावधान और पूरे दक्ष रहकर जागृति रखनी रहती है यह जानना । ऐसी कसौटी के समय पर जो **जीव** दब जाता है, वह हमेशा के लिए जीवित तब भी मर गया होता है, पर वह प्रत्यक्षरूप में नहीं पर संसारी अर्थ में मर गया होता है । ऐसे समय में जो **जीव** हृदय में हृदय से अडिग रहकर अपनी **जीव**दशा का प्रतिकार करता हे, इनकार करता है वह **जीव** जीतता है । इस तरह चेतन उसके जीवन में जीत पाता है । अंत में ऐसी ही आत्मा सकल जगत को ऊर्ध्व संदेश दे सकती हैं । इसलिए हमें तो संसारव्यवहार में अपनी दृष्टि, वृत्ति और भाव सदा पलपल आकाश में ही जीवित चिपके हुए रख करके करना है ।

'तेरी गठरी में लागा चोर, मुसाफिर जाग जरा ।'

इस प्रकार की रेकर्ड अभी बज रही है । ऐसे अनेक प्रकार के चोर-असुर जीवन में दावानल प्रकट करने के लिए प्रत्यक्ष होने के हैं । यदि उनकी चालबाजी में हम आ गये और उलझ पड़ें तो हो चुका । हम दिवाला निकालेंगे ।

हृदय की प्रार्थना की शक्ति

साधना का सनातन मार्ग तो संकरा है, अत्यधिक संकरा है। प्रारंभ में तो अत्यधिक गाढ़ अंधकार से रुका भी रहता हैं। कुछ भी सूझता नहीं है। घबराये घबराये रहा करना होता है। चारों तरफ से दबाव आता है। उससे कैसे निपटे उसकी साधक को कोई सूझबूझ उस समय जागी हुई नहीं होती, परंतु जिस साधक की श्रद्धा अपने जीवन के ध्येय पर अपार है, वैसा साधक कोई सिर पर हाथ जोड़कर बैठे नहीं रहा सकता है। वह तो अपने अंतर के प्रभु की कृपामदद के लिए उस समय अपार वेदना से, फटते हृदय से प्रार्थना किया ही करता है। प्रार्थना का बल तो जो जानता है, वही जानता है। जैसे घर में आग लगी हो और स्वयं उसमें फँस गये हों, उसमें से मुक्त होने के लिए **जीव** जो अकथ्य छटपटाता है, उस समय जो आर्तनाद पुकारता है, वैसे ही आर्तभाव से जो साधक प्रार्थना किया करता हो, उसे प्रत्यक्ष मदद मिला करती वह स्वयं अनुभव करता है। वैसी मदद मिलने का जिस **जीव** को अनुभव होता है, वैसा **जीव** उसके बाद कभी अपने को अकेला, तनहा, एकाकी मान ही नहीं सकता। इसीसे संसारव्यवहार में कर्म यह तो जीवनविकास के लिए निर्माण का साधन है, ऐसा समझ समझकर उस उस पल हृदय में उस प्रकार का ज्ञानभान रखकर उसे यज्ञ जानकर वह वह सभी हरि के चरणों में ज्ञानभक्तिपूर्वक समर्पण किया करना है! ऐसी पल में जहाँ जहाँ गुत्थी, कठिनाई, उपाधि लगे, अड़चन पड़े, वहाँ-वहाँ सिर ऊँचा रखें, जीवन में खुमारी लाकर और कभी किसी के अधीन न हो। अधिक प्रकाशमान और तेजस्वी बने। अपने जीवन के प्राण-आधार को हृदय में हृदय से जगा-जगाकर, हृदय की प्रार्थना द्वारा उसकी कृपामदद प्राप्त कर-करके, उस परमकृपालु का प्रत्यक्ष साथ, मदद पाने का प्रत्यक्ष सहारा पाये। ऐसा होते ही हम सदा आरामवाले और निश्चिंततावाले रह सकेंगे, यह जानना।

एक प्रसंग का सदुपयोग

बहुत बचपन की बात है । गरीब को सभी छेड़ सकते हैं । उसे सभी परेशान कर सकते हैं । उसका कोई समाज में रक्षक नहीं होता । मेरे पिताजी को एक बड़ी खराब आदत थी अफीम खाने की । हुक्का भी सही । रात को भी पीने को चाहिए । सरेआम रास्ते पर एक ही कमरे का मकान हमारे रहने के लिए था । चार भाई, मातापिता और भाभी इतने रहनेवाले, उसमें पाँच-छः फीट आगे चबूतरा सही । रोज रात को चौंकी करनेवाले सिपाहीलोग पिताजी के पास आकर बैठा करते । हुक्का भी पीते । एक दिन घर पर मेहमान आये थे । उस रात को जमादार हुक्का पीने बैठे और पूछा, 'भगत ! वह कौन सो रहा है ?'

'वे तो मेहमान हैं ।'

'तो थाने पर खबर क्यों नहीं दी ?'

पिताजी ने उत्तर दिया कि, 'मेहमान आने की खबर तो कोलीधाराळा या जिस किसी की छाप चोर की हो उन लोगों को देनी होती है ।'

जो जमादार अनेकबार रात को वहाँ बैठता और हुक्कापानी करता उसने जो घमासान मचाया और पिताजी का घोर अपमान किया और धौलझापड़ लगाई वह दृश्य अब भी मन में है । उस दिन से जीवन में ऐसा दृढ़ निश्चय किया कि जीवन में ऐसा बनें कि जो तो कोई हमारे सामने झुके, ऐसा तेजस्वी जीवन को प्रभुकृपा से बनाना है । यह विचार आने पर ही सोचा कि 'इस गाँव में कौन ऐसा है कि जिसके सामने सभी झूकते है ?....' गाँव में जितने भी प्रतिष्ठित थे, वे गाँव के बड़े अमलदार को सलाम करते थे । इससे ऐसा बनने को सोचा । इसके लिए तो अंग्रेजी पढ़ना पड़ेगा, पर साधन कहाँ से लाये ? विचार जागा और निश्चित हुआ कि अब बस हुआ । हृदय की निर्धारित वृत्ति कोई नामर्द नहीं होती । वह तो हमें गतिवान करती है । गुजराती में सात कक्षा तक तो पढ़ चुका था । अंग्रेजी स्कूल गाँव में नयीनयी ही खुली थी । फीस उसका आधार था । पहलेपहले तो माफी कौन देगा ? इससे पाठशाला में जैसे तैसे दाखिल तो हुआ । संपूर्ण स्कूल के मकान में झाड़ू लगाना । इसके लिए

मासिक डेढ़ रूपया मात्र ही मिलता। सारी बेंच, टेबल, बैठक, कुर्सियाँ, काला तख्त आदि सभी को पोंछकर साफ रखना था। कभी कभी स्कूल के चपरासी का काम भी करने का और पढ़ने का भी। प्रभुकृपा से पढ़ने में नंबर पहला ही रहता था। अब ऐसा हुआ कि ऐसे पढ़ने में तो अधिक वर्ष निकल जायेंगे। इससे यदि प्रभुकृपा से दो-चार कक्षा कूद सकें तो उतने वर्ष बच जाएँगे। ऐसे प्रसंग में श्रीप्रभुकृपा से एक नये मुख्य शिक्षक आये। उनके साथ अंतर्गतरूप से वह उद्देश दृढ़कर के दिल में प्रार्थना का भाव दृढ़ करके उनका संपर्क किया। उनके घर जाता था। सागसब्जी भी ला देता। कुछ न कुछ मदद किया करता। बच्चों को खेल खेलाता। उनकी पत्नी मुझ पर बहुत प्रेमभाव रखती। मुझे खाना खाने को दिया करती। घर के बेटे जैसा हृदय का प्रेमभाव रखती। ऐसा करते करते कुटुंबीजन जैसा हो गया। चार कक्षाएँ डेढ़ वर्ष में पूरी की।

प्रत्येक प्रसंग को गुरु समझो

यह सब लिखने का कारण तो यह है कि जब दिल में जो कुछ करना है, उस भावना की प्रचंड अग्नि झलझलाती जलती होती है, उस समय काम तो कितने सारे मिला करे उसकी कोई कुछ पड़ी नहीं रहती है। इसलिए हमारे लिए तो साधना के मार्ग पर ही विकास और प्रकाश है वह जानना। उस मार्ग पर चलने में और उस मार्ग का जीताजागता ज्ञानभान रखने में जीवन की कृतार्थता है ऐसा जानना, मानना और अनुभव करना। यह साधना का मार्ग है सूक्ष्म। सामान्य प्रयत्न से यह समझा भी नहीं जा सकता है। इससे साधना के मार्ग में **जीव** जो संघर्ष, बेचैनी अनुभव करता है, वह भी अपार है, परंतु उस समय वह अपने अंतर के प्रभु को जागृत करता है, उनकी मदद लेने की कला वह सीख लेता है। प्रत्येक प्रसंग उसके मन गुरु है। जैसे गुरु सीखाते हैं, वैसे प्रसंग भी सिखाने के लिए हैं। इसलिए प्रसंग से सीख लेने की भावना हमें हृदय में जीवित करनी है। ऐसे के लिए कुछ भी कठिन नहीं है, समाज की परम्परा और मान्यताओं की लीक पर हमें नहीं चलना है। हमारा पंथ तो न्यारा है। समाज की मान्यताएँ तो जीवन को रुंधनेवाली हैं, उस

मान्यता की चक्की में एक बार यदि पिस गये तो खलास । ऐसी मान्यताओं के वातावरण में रहने पर भी हमारी दृष्टि, वृत्ति और भाव आध्यात्मिक विकास की गति को रोकनेवाले न बन जाय, उतनी सावधानी साधक को रखा करनी है । ऐसा जो करता है, वह जीवित रह सकता है ।

• • •

संतों के जीवन की प्रेरणा

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. ३१-३-१९५२

जीवदशावाला जीवन तो सचमुच अज्ञानमय, अपूर्ण और दुःखमय लगा करता है । इस कारण से उससे भाग जाकर (अपनी अपरा प्रकृति को जिसे परा प्रकृति में ले जानी है, यानी कि दैवी प्रकति को प्राप्त करने की हृदय में उत्कट तीव्र आतुरता जिसे पूरी तरह सचमुच लगी हुई है उसे) संसार के जीवन का त्याग भी नहीं करना है । हमारे आगे महान पुरुषों के, महान भक्तों के, महान साधकों के और अनेक उस मार्ग पर विचरित आत्माओं के जीवनचरित्र पड़े हुए हैं । उसमें से दैवी जीवन की संभावना विषयक हमारे हृदय को श्रद्धा का बल मिल सके वैसा बहुत सारा उसमें होता है, यदि उनके प्रति हमारा हृदय ढला और रंगा हुआ होगा तो । जो श्रद्धा हम में प्रकट होती है या होती है, उसे वैसे दृष्टांत पोषण और प्रेरणा दोनों देते हैं ।

साधना लाभालाभ के लिए नहीं

जीवपन से मुक्त होने के लिए अवरोध रूप जो कुछ होता हो तो वह **जीव** का अपना अहम् ही है । उस अहम् को ज्ञानभक्तिपूर्वक टालते रहने का साधक को जागृति रख रखके सीखते रहना है । यह जिससे हो पाएगा तो जानना कि उसका काम हुआ या फला । हमें किसी स्थूल या सूक्ष्म लाभालाभ के लिए प्रभु की प्राप्ति नहीं करनी है । जब हमारे हृदय में ऐसी आध्यात्मिक भूख की ज्वलंत ज्वाला प्रकट होती है, उस समय वह किसी भी लाभालाभ का विचार करके बैठ नहीं सकती, वैसा साधक तो बस उसकी खोज में निकले बिना नहीं रह सकता है ।

भाव का महात्म्य

हृदय का भाव यदि जागृत रहा करे, तो सभी में वह जीवित रह सकता है । यदि भाव जागता न रह सका तो साधक टूट भी जाता है । उसे तो बाद में जो तो सभी बड़ा बोजिला या भाररूप लगता है। उसे उस समय ऊब, त्रास, संताप, घबडाहट, अड़चन, अशांति, क्लेश आदि सब लगा करेगा । इससे जब ऐसा लगे, तब तब हमें स्वयं अधिक गहराई में उतरकर अंतर्मुख बनकर प्रभु की कृपामदद के लिए प्रार्थना करनी चाहिए । वैसा कर-करके हृदय में दुबारा भाव जागृत किया करें । **भाव यह परम साधन है । भाव यह शक्ति का मूल है । यही जीवन का सच्चा साथी है । उसका आसरा और ऊष्मा अनुभव से ही समझ आएगा । यदि भाव रहा करे तो साधक सब पर से उबर सकता है ।** बाकी तो किसी का कहीं कुछ सामर्थ्य नहीं । सभी में भाव की तो खास जरूरत रहेगी ही । भाव के बिना कुछ भी नहीं होगा ।

सभी का लीकयुक्त और आडंबरी जीवन

अपने को साधक बतलानेवाले या माननेवाले कितने ऐसे हैं कि जो अपने हृदय पर हाथ रखकर बोल सकते हैं कि स्वयं श्रीप्रभु की प्रेमभक्ति में मशगूल हैं, अथवा तो उनकी प्रेमभक्ति से जीवित रहे हैं ? हम सभी श्रीभगवान को ही चाह रहे हैं, ऐसा कैसे कह सकते हैं ?

हमारे रोम रोम में उसके लिए आग लगी है सही ? या मात्र बेकार के शब्द ही बोल रहे हैं ? मुझे माफ करना, पर मैं तो आजकल शब्दों की आडंबरी भाषा का उपयोग अनुभव कर रहा हूँ। भाव बिना का सूना व्यवहार चलते देख रहा हूँ । सभी अपनी-अपनी स्वार्थपरंपरा में खेल खेल रहे हैं । इस तरह परंपरा बस चला ही करती है । सभी आँख बंध करके उस दौड़ में दौड़ रहे हैं। किसी को कहीं कुछ स्वतंत्ररूप से सोचने की फुरसत भी नहीं मिलती । कोई खड़ा भी नहीं रहता ।

संसार में ही प्रभुमय जीवन

हमें तो ऐसा करना रास नहीं आयेगा । हमारा जीवन ऐसा जीवन जीने के लिए नहीं है । जितना जीयेंगे उतना सही, परंतु जो कुछ जीयेंगे,

उसमें हमारी दृष्टि, वृत्ति और भाव तो आकाशगामी रहेंगे और होंगे । हम ऐसे धूल में रगड़े हुए अधोमुखी संसार में भले रहे हों । और वह संसार ऐसा होने पर भी हम उसमें उस रंग से श्रीप्रभुकृपाबल से रंगना नहीं है ऐसा मरजिया निर्णय प्रतिदिन पक्का करते रहना है । जीवन के इस प्रकार के ध्येय से जीने से अच्छा हम वैसे संसार में हैं तो अकेले, पर यदि हम सच्चे दिल से जीवन की साधना में निरंतर प्रेमभक्ति से रंग जाने के लिए, हृदय से उत्सुक बन रहेंगे, अंतर के प्रभु को जागृत कर-करके प्रार्थना द्वारा उनकी कृपामदद पाया करेंगे, तो उसका आसरा और सहारा जीवन में मिला करता है, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव हुआ करता है ।

इसी कारण से साधक अपने आपको कभी अकेला नहीं मान सकता है । मात्र उसे इतनी सावधानी रखनी है कि वह कीचड़ में तो नहीं फँस रहा न ? वह कीचड़ में भले हो । कीचड़ के वातावरण में भी भले हो, तब भी उसकी दृष्टि, वृत्ति और भाव तो उसमय नहीं हो जानेवाले हैं और इससे वह मुक्तरूप से रहा करेगा । ऐसा होने के लिए स्वयं पलपल जागृत रहा करेगा । उसके मन की दशा तो उसरूप की नहीं है । उतना और ऐसा पक्का, सच्चा और पूरा भरोसा साधक को दिल में तो उस समय जाग गया होना चाहिए । प्रत्येक विचार, वृत्ति, उफान, भावना, कामना, आशा, तृष्णा, लोलुपता आदि जागने पर उसका उपभोग नहीं करना है, परंतु उस उस समय जागृत हो होकर उसमें से जो आवेश और आवेग प्रकट हुआ करे इससे स्मरणभावना में विशेष एकाग्र और केन्द्रित हुआ करना है यह जानना ।

आवेगों को कैसे जीते ?

प्राण (आधार का एक कारण) की भूमिका जहाँ तक **जीव**दशा की है, वहाँ तक भक्ति का सच्चा स्वरूप साधक कभी पा सकता भी नहीं । इससे प्राण की शुद्धि की प्रथम अनिवार्यता अवश्य खड़ी होती है । प्राण के स्वरूप में जो आवेश, आवेग, भावनाएँ, ऊष्मा आदि हैं, वे तो **जीव**दशा के होने से **जीव** उस उस पल जो उठे या जागे उस उस पल में उसमें ही उलझ जाता है । उस अनुसार ही व्यवहार करेगा और

समझेगा । इसलिए उससे पर जाने की शक्ति वह कहाँ से ला सकेगा ? साधक की आध्यात्मिक भूख यदि सचमुच और सत्य होती है, और यदि वह बलवान भी होती है, तो अंतर के पुरुष का उस उस काल पर सावधानी के पुकार को वह सुन भी सकता है और उसका वह अमल भी करता होता है । बाकी तो प्राण के अपने आग्रहपन, आशा, इच्छा, कामना आदि **जीव** पर सवार हुए ही होते हैं ।

तुम्हारी किस बहन के यहाँ पूज्यश्री रविशंकर महाराज पधारते हैं ? मैं तो तुम्हारे जैसे साधकों को जीवनविकासभाव से कितना सारा चाहता हूँ ! जिसके प्रति आशा होती है, वे ऊपर आ सके उसके लिए मुझे तो कितना सारा दिल में होता है ! संसारव्यवहार से किसी तरह घबराने की जरूरत नहीं है । वहाँ तो महापराक्रमी और युद्धवीर की तरह बर्ताव करना है और जीना है ।

'निर्बल के बल राम ।'

सच्ची निर्बलता

राम को अपना बना लेने की कला यहाँ भक्तकवि सूरदास ने हमें सहजभाव में बतला दी है । जिसका कोई नहीं है, उसका वह है । हम यदि बिलकुल निर्बल हो जाँये, इससे जो तो सभी श्रीप्रभु को ही सौंप देते हैं, कहीं कुछ भी हमारा न हो ऐसे बर्ताव करते हों और अहंता तो थोड़ी भी न हो, निपट शून्य से भी शून्य हों, यदि ऐसी दशावाले होकर हृदय में हृदय से उसे यदि आवाज देकर पुकारें और प्रार्थना करें, तो वह उत्तर अवश्य देता है । द्रौपदी का उदाहरण समझने के लिए पर्याप्त है । पहले तो उसने अपने पति पर आधार रखकर उन्हें संबोधन किया, फिर दूसरे बुजुर्गों को, फिर अपने सभी बल द्वारा अपने कपड़ों को पकड़े रखा । प्रार्थना तो तब भी किया करती थी, पर प्रभु मदद करने नहीं आये । स्वयं अपने से होते सकल प्रयत्न किये । अंत में उसने अपने दो हाथ ऊँचे कर श्रीप्रभु को पुकारा । स्वयं अपना रक्षण करने के लिए समग्र ज्ञानभान छोड़ दिया, उसे ही हृदय से मदद के लिए आतुरता से पुकारा, तब वह अपने वस्त्र के रूप में उपस्थित हुए । प्रार्थना करने की कला

– *'निर्बल के बल राम'* – उसमें से हमें मिल जाती है। हमें तो जो तो सब करते रहना है, और वह भी अहंता से मुक्त होते रह रहके। इसका भावार्थ और हेतु तो यह है कि **जीव** से हो सके उतना पुरुषार्थ कर-करके वह आखिर के अंत तक उसमें संघर्ष करेगा। और तब भी सकल उपाय किया करने पर भी कोई युक्ति न सफल हो, तब वह प्रभु को मदद में आने को पुकारे। जो **जीव** श्रीभगवान की संपूर्ण शरणागति में प्रकट हो गया है, ऐसे **जीव** के लक्षण कोई मेरे तेरे जैसे नहीं होते। इसका ही नाम सच्चे अर्थ में निर्बल है। अंत में तो पुरुषार्थ कर करके भी उसमें ही गलकर मर जाना है। इसलिए उसके ही आधार पर निर्माण करते रहना सीखें यही उत्तम यज्ञ है।

काम बहुत हो और यह **जीव** तो तुम्हें आराम से बैठकर पत्र पर पत्र लिखा करता है और तुम्हें सोने भी न देगा, यह तो फिर कैसा क्रूर होगा !

...भाई तो सद्‌भावी आत्मा है। वे यदि स्वयं **इस** मार्ग की शरण स्वीकार कर सके तो बहुत शांति प्राप्त कर सके, क्योंकि वह तो समझदार **जीव** है।

हम कृपा करके कभी भी ऐसा न समझे कि हमारा कोई नहीं है। मन में कुछ भी लगे, तब इस *जीव* को हृदय में हृदय से याद करके प्रत्यक्ष करना है। देखना ! सब कुछ भाग जायेगा।

● ● ●

भेद से अभेद प्रकटाओ

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. १-४-१९५२

संसारव्यवहार में संसारी **जीव** भेद को अधिक महत्त्व दिया करते हैं, इससे कभी आनंद स्वरूप को नहीं पा सकते हैं। संसार में जो सुमेल नहीं दिखता उसका मूल कारण भेद में रहा हुआ है। **जीव**दशावाले तो भेद को बढ़ाने में समझते हैं। भेद को अभेद में ले जाने का तो कोई भूला भटका **जीव** ही कर सकता है। इससे हमें तो ऐसे भूले भटके **जीव** होना है। जहाँ-जहाँ भेद लगे, वहाँ-वहाँ उस तरह हमें देखना,

समझना या बर्ताव करना नहीं होता है। भेद को बढ़ाने का थोड़ा भी यदि मन किया, तो फिर वह भेद जो थोड़ा होगा, वह अधिक से अधिक बढ़ा ही करेगा, कभी एकभाव से नहीं हो सकेगा। समस्त संसार भेद के वर्तन में फँसा है। इसमें इससे ही न्याय-अन्याय जहाँ-तहाँ सभी जगह लगा करता है।

न्याय-अन्याय जहाँ आमने-सामे दो पक्ष हो, वहीं संभव है। पक्ष जहाँ भेद हो वहीं संभव हो सकेगा। इस प्रकार, जो तो सब भेद पर चलता रहता है। इसलिए हमें तो प्रभुकृपा से भेद का ही छेद उड़ाकर जहाँ-तहाँ आचरण करना है। जहाँ पक्ष ही नहीं रहता तो फिर न्याय-अन्यायपन कहाँ देखना रहता है ? जीवन की मूल वास्तविकता में भेद नहीं है। वहाँ तो अभेद ही व्याप्त है, क्योंकि यदि भेद हो तो भेद में आनंद का टिकना, जीना, फलना, बहलना, आदि की संभावना ही नहीं रही न ? अभेद में ही आनंद आ सकता है। अभेद की भूमिका हुए बिना **शिव** के असल स्वरूप को पा भी नहीं सकते। इससे हमें तो जहाँ जहाँ भेद हो, सूझे, मिले, उगे, लगे वहाँ वहाँ भेद का ज्ञानभक्तिभाव से उच्छेद कैसे हो सकेगा, उस तरह सोचकर व्यवहार करना है।

प्रेमभाव से सहने का मार्ग

इस तरह से व्यवहार करने से बहुत सहन करना पड़ेगा, परंतु ऐसे सहन करने में यदि कहीं ऊब, त्रास, संताप, क्लेश, नापसंद, चिढ़, क्रोध आदि का कुछ भी रहा होगा, तो वैसा सहन करना मनुष्य से अधिक देर तक नहीं हो सकेगा। वह अंत में लाचारी की वृत्ति से सहन तो करेगा। इस तरह संसारव्यवहार में जो तो सभी सहन तो कर ही रहे हैं, पर उसमें तो जीवन का कुचलनापन रहा है। ऐसे सहन करने में जीवन को लड़खड़ाना पड़ता है, कुचलना रहता है और उसमें जीवन का पतन होने लगता है। **जीव** अधिक से अधिक रागद्वेष के शिकंजे में फँसता जाता है। इस तरह सहने से **जीव** अधिक दुःखी, असंतोषी, अधीर, छोटे मन का, अधिक स्वार्थी और अधिक एकाकी होता जाता है। ऐसा **जीव**

दूसरे **जीवों** के दूषणों और अवगुणों को देखने के लिए प्रेरित होता जाता है। ऐसों को फिर कहीं चैन नहीं मिलता।

इसलिए संसारव्यवहार में जो सहन करने में आये, उसे तप की भावना से, प्रेमभक्ति से अपने जीवनविकास के यज्ञ के लिए वह सभी करने जैसा है, वही प्रभु के चरणकमल में अर्पित करने का अर्घ्य है, ऐसी भावना से जो तो सब सहन करना है। ऐसा रोजबरोज के संसारव्यवहार में जो तो सभी **जीव** के साथ बर्ताव करने का नम्र से नम्र प्राणवान नेक दिल से सच्चे से सच्चा और पूरा प्रयत्न किया करना है। ऐसा जो प्रयत्न किया करता है, ऐसे **जीव** को किसी के साथ भी कोई शिकायत करने की नहीं रहती है। यदि कुछ रहता है, तो वह अपने स्वयं के प्रति ही रहा करता है।

संसार में फूलचंदन जैसे जीओ

संसारव्यवहार में तो भेद रहा करेगा। पानी को कोई कहे कि 'तुम क्यों ठोस नहीं हो?' तो वह उसका अज्ञान बतलाएगा। वैसे संसारव्यवहार में तो सभी **जीवों जीव**दशावाले हो और **जीव** में द्वन्द्व-वृत्ति ही हो और द्वन्द्व में तो भेद रहेगा ही, पर पानी में घनता लानी हो तो उसके लिए प्रयत्न की जैसे जरूर रहती है और पानी को भी घनस्वरूप में या वायु के स्वरूप में पलट सकते हैं, वैसे हमें जीवन में जहाँ तहाँ सभी व्याप्त भेद को पलटना रहा करता है। उसमें अभेद रूप से व्यवहार करने से हम उसके स्वरूप को पलट सकते हैं वह जान लेना। जो **जीव** दूसरों को आनंद देता है उसे भी आनंद मिलता है। हमें तो श्रीभगवान को खुश करना है न? तो क्या भगवान के आगे हम अपना रोना रोयेंगे? और हमारे दुःख संताप आदि से उन्हें रीझा सकेंगे? उनके चरणकमल में तो फूल, चंदन आदि चढ़ाने का प्रचलित रिवाज है न? **फूल का अर्थ क्या होता है? समूचा विकसित होकर उसकी संपूर्ण सुवास के साथ उसके चरण में प्रेमभक्तिभाव से समर्पित हो जाना वह।** चंदन यदि जीवित वृक्ष से काटकर सूखा सूखाकर टुकड़े टुकड़े होकर, उतने से भी

नहीं चलता खूबखूब घिसकर के पूरी तरह मुलायम बनता है, उस पल से भगवान के चरणकमल में उसे चढ़ाया जाता है। हमें भी वैसा ही बनना है।

भगवान की शरण से आनंद

मैं तो तुम्हें आदर्श बतला रहा हूँ। प्रभुकृपा से वैसे यज्ञकार्य में तुम्हारे साथ यह **जीव** है। उसकी मदद मिला करे, उसका सहारा, ऊष्मा तुम्हें हृदय में प्रकट हुआ करे, ऐसे हृदय के आर्त और आर्द्रभाव से प्रार्थना का प्रयोग करती रहना ! मैं तुम्हें दुःखी नहीं देखना चाहता और दीन भी नहीं देखना चाहता। तुम्हारे जैसे साधकों को नामर्द देखने से अच्छा तो मैं ही न होऊँ वह मुझे विशेष पसंद है। तुम जो तो सभी उन्नत मस्तक से (पर वह संपूर्ण निरभिमान होकर) संसारव्यवहार में रखा करे ऐसी भावना है। तुम्हारे आँसू हम से देखे नहीं जाते, तो तुम्हारा दुःख तो कैसे देखा जाय ? पर हमें **जीव**भाव से तो रहना नहीं है तो जीना तो कैसे हो ? **जीव**वृत्ति में दुःखी होनापन रहा हुआ है। हमें **जीव**वृत्ति ही जहाँ टालनी है, वहाँ फिर मन से मन में दुःखी होनापन प्रकट हो जाय तो कैसा लगेगा ? इसलिए हमें ऐसे समय में जिसे हृदय में हृदय से माना हुआ किया है, उसे हृदय में जीलाये और उसका शरण प्रेमभक्तिभाव से वहाँ खोजना। हम उसे उस वक्त प्रत्यक्ष करते रहें। तुम्हारा सारा जो कुछ होगा, इससे तुम उदार अवश्य बनोगी।

एक आरजू तुम्हें.... ! है कि हमें मर्द बनना है । जीवित हो उठना। तुम किसी से खिसिया जाओ या प्रभावित हो जाओ या उलझ जाओ या कुचली जाओ तो मुझे प्रभुकृपा से जो... मिली हो वह यह नहीं है।

● ● ●

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. १-४-१९५२

ता. २९-३-१९५२ का भाई का पत्र मिला। उसमें नीचे अनुसार लिखा था :

अभी पूज्य... बहन आयी, खूब दुःख से भरी हुई, अंतर की आग से जलती हुई और आँसू बहते हुए, पर वह वाडज (बस स्टेन्ड) तक। फिर चलने का सूझा। कुछ चले वहाँ पर उन्हें शांति मिली। यह भी उन्हें एक सुंदर अनुभव हुआ।

ता. क. ...बहन को एक भजन पढ़ाया। 'तुम भगवान के आगे अपनी फरियाद प्रस्तुत करने दुःख से भरे चेहरे को लेकर न जाना। वे तो सब जानते हैं और जो तो योग्य, योग्य काल में करेंगे ही।'

हमारा ह्रदय कोई पत्थर का नहीं होता है। वह पढ़कर क्या हुआ होगा! पर तुम थोड़ी पागल हो। तुमने अपने आप ही समाधान प्राप्त कर लिया अथवा तुम्हें स्वयं को ऐसा समाधान मिल गया यही प्रभुकृपा। तुम थोड़ी विशेष भावनाप्रधान **जीव** हो। हमें तो जो तो किया ही करना है और वह भी हमारे अपने लिए।

सद्‌गुरु का आचार के बाद ही उपदेश

इस जीव को साधनकाल में क्षणभर की फुरसत नहीं मिलती थी। बस काम, काम और काम। इससे मुझे लाभ ही हुआ है, हानि नहीं हुई है, और अभी की बात तो करना ही नहीं! मुझे स्वयं को तो अनेक अन्याय हुए हैं। उसकी कथनी या इतिहास तुम्हें कहाँ लिखूँ? **यह** जो... भाई आदि हैं, उन्हें मैं कैसे मेरे ह्रदय के भाव से चाहता था! उन्हें मिलने जाने पर **यह जीव** गरीब होने पर भी उस समय एक पैसा खर्च करने की ताकत नहीं थी, ऐसी दशा में भी पैसे खर्च करके मैं मिलने जाता था, पर ह्रदय के भाव को सत्कार मिले ऐसे उनके ह्रदय थे ही नहीं। मित्रों को ह्रदयभाव से प्रेमभाव करने जाता तो सामने उसे सत्कार न मिलता, मिला तो था ही नहीं पर इससे हमें क्या? मैंने तो तब भी उन्हें प्रेम ही किया जाना है.... संस्था में काम करते करते और वह भी बहुत — **इस जीव** को न्याय ही मिला है या क्या यह देखने का काम हमारा नहीं है। तथापि मन में उसके लिए बुरा लगा नहीं है। मित्रों पर सद्‌भाव उलटा बढ़ा था पर घटा नहीं था। **इससे मैंने जो किया**

नहीं है, उसे कहा नहीं । जीवन में प्रभुकृपा से और श्रीगुरुमहाराज के आशीर्वाद से जैसे बर्ताव हुआ है, वही तुम्हें कहता हूँ ।

प्रेमभक्ति से अद्‌भुत प्राप्ति

हमें न्याय-अन्याय कुछ देखना नहीं है, हमें तो जो तो जीवनविकास के लिए करना है, और वह भी प्रभुप्रीत्यर्थ । वहाँ फिर उसमें जो जो अन्य निमित्त बने, उसमें उनमें फिर क्या देखें ? तुम्हें दुःख होने पर भी उसमें से अपना समाधान खोज लेने का सूझा यह पढ़कर मन में खुश हुआ कि तुम खो जाती हो, पर फिर मिल भी जाती हो ! यह सब होने पर हमारे भाव कैसे हो, इस बारे में तुम्हें लिख तो गया हूँ, अधिक क्या लिखूँ ! **विपुल पत्रों को पढ़ने से कोई समझ आ नहीं सकती । यह तो हृदय में जब प्रेमभक्तिज्ञानभाव से एकाग्रता और केन्द्रितता अनुभव हो, तो उससे जो ज्ञान मिलेगा, वही कठिन समय और कसौटी के प्रसंग में काम आ सकता है, इससे कृपा करके हृदय में हृदय को मिलाकर एकाग्र और केन्द्रित (और वह भी हृदय की प्रेमभक्ति से मार्दवतायुक्त होकर) किया करके, वहाँ उसे पुकारकर उसके साथ बातचीत करें (अलबत्ता, मौनभाव से) तो जो मिलता है, वह अद्‌भुत होता है । सीखना तो वह है** । संसार तो तपतपकर शुद्ध होने यज्ञ की वेदी है । तुमने अभी दूसरे सभी संसार के अनेक प्रकार के कुटुंबों के वातावरण को देखा नहीं है । उस हिसाब से और गिनती से तो हमारे यहाँ कुछ नहीं है, उलटा अधिक अच्छा है ।

दैवी चेतना को प्रत्यक्ष करो

अनेक लोग मुझे कहते हैं कि 'आप बहु या विधवा हुए होते तो आपको पता चलता ।' भाई ! हम तो सब बने हुए हैं । हमें जिसकी उसकी सभी की खबर पड़ती है, पर भावनावाले **जीव** को थोड़ासा का भी विशेष लगा करता है । तुम बिना वजह भड़कती हो ऐसा तुम पर आरोप रखने का हेतु नहीं है । इससे उतना हमें सविशेष लगता है । हमें भारी शर्म से बचाना वह तुम जैसे साधक का काम है । एकदम कुछ

नहीं होता यह बिलकुल सच है, क्योंकि हम जिस पार्थिव चेतना में सदा रहते हैं, उसकी नींव अज्ञान में ही नहीं परंतु अचेतना में (तुम्हें जिस शब्द की समझ न पड़े उसे कोश में देख लेना) यानी कि जड़ता में रही है। इस तरह पार्थिव चेतना हमारे में जिसे matter या पदार्थतत्त्व जैसा कहा जाता है, उसमें और जड़शक्ति में वह अदृश्य हो गई हुई है। हमें उसका विकास प्रभुकृपा से करते रहना है। यानी उस चेतना को हमें प्रत्यक्ष करनी है। वह तो दबकर स्वयं पड़ी हुई है ही पर वह प्रत्यक्ष हो वह कैसे होगा यदि हम स्वयं ही **जीव** की तरह बर्ताव करेंगे तो ? इसलिए हमें स्वयं तो सकल व्यवहारवर्तन में प्रेमभक्तिज्ञानभाव से ही आचरण करना है यह जानना ।

ता. क. कभी दुःखी या हताश न होना। नहीं तो हमें क्या होगा उसका ख्याल रखना ।

● ● ●

युद्ध किया करो

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. २-४-१९५२

जीव को जब जब ऊर्ध्व मार्ग की ओर आरोहण करना होता है, तब वह कभी एकदम आरपार नहीं हो जाता है। हम हिमालय गये थे, उस समय हम जाते थे तो ऊपर ही। हमारा लक्ष्य और हृदय में सतत जीवित ख्याल तो ऊपर आये तीर्थ में ही जाने का रहा करता था, पर कितनी ही बार गहरे से गहरी घाटी में हमें उतरना पड़ता और उसमें से फिर ऊँचे पथ पर हम चढ़ते थे। ऐसे ऊँचे ही ऊँचे चढ़ने पर भी वापिस घाटी में उतरना होता था। ऐसा क्रम रहा करता, वैसा ही साधनामार्ग का है। साधनामार्ग में अनेक प्रकार की कठिनाईयाँ, उपाधियाँ, उलझनें, दम घुटना, मुठभेड़, घर्षण, क्लेश, संताप, विघ्न आदि बाधा डालेंगे ही, और वे भी अति आवश्यक हैं। इच्छाशक्ति का सफल होना नहीं हो पाता उसे अधिक कट्टर चसका भी चढ़ता है। इच्छाशक्ति की अपनी भावना और ध्येय के रूप में संतोष करने का न होने पर वह भी अपना आग्रह

लेकर बैठती है, ऐसा भी कितनों में अवश्य होता है । इसके अलावा इच्छाशक्ति को मोड़ने और तेजस्वी करने के कारण, जीवन में जहाँ जहाँ युद्ध आते हैं और उसका प्रखर सामना करने का जिगर से होता है, उसमें से स्वयं अपनी शक्ति को पहचान सकता है ।

ऐसी उसकी शक्ति, सामने चुनौती देते बलों को पराजित करने को सदा प्रयत्न करती, वह अधिक से अधिक प्रत्यक्ष होती जाती है । ऐसा युद्ध करते-करते साधक का आत्मविश्वास अधिक से अधिक प्रकाशित होता जाता है । तब वह अपने आपको अटल रूप से खड़ा रहता अनुभव कर सकता है, उस समय उसे अपने स्थान पर से चलित कर सकने को कोई भी शक्तिमान नहीं होता है । ऐसे युद्ध का सामना करते करते साधक के जीवन में अनेक गुणों का विकास भी हुआ करता है । यह उसकी सबसे बड़ी पूँजी हो जाती है ।

स्वप्रयत्न की अनिवार्यता

साधक का स्वप्रयत्न अनिवार्य है । मूर्ख और निपट अज्ञानी लोग 'सब गुरु कर देंगे' ऐसा मानकर कुछ भी किये बिना ऐसे ही पड़े रहते हैं । इससे कुछ हांसिल नहीं होगा । सभी करणों की संपूर्ण प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक की शरणागति प्राप्त होने के बाद ही वैसी दशा संभव हो सकती है । यह तो स्वयं कुछ करना नहीं है और करने का सौंपने को केवल मुँह से कहा करना है । मन, हृदय में उस प्रकार की श्रद्धा, विश्वास या निष्ठा तो जागे हुए नहीं होते । अपने जीवनविकास के ध्येय के अनुरूप सतत एक-सी दृष्टि, वृत्ति और भाव तो उसके सकल कोई होते रहते कर्म में नहीं होते रहते हैं । जिसका कोई कुछ व्यवस्थित नहीं रहता । अभी नामस्मरण जैसे सरल साधन का तो कुछ भी ठिकाना नहीं है । जिसे 'गुरु' मानता है, उसका प्रेमभक्तिज्ञानभाव से सकल कर्म के अंतर में ज्ञानभान तो बिलकुल नहीं रहता है, वैसा **जीव** यदि गुरु को अपना सब करने का चाहे या कहे तो गुरु को ऐसे पामर पर क्या हो वह हमें सोचना है । इसीलिए तुम्हें कहता हूँ कि तुम्हें ऊपर की किसी दलीलों को किसी

दिन भूलचूक से सुनना नहीं है, नहीं तो स्वप्रयत्न में मंदता आ जाएगी। स्वप्रयत्न में अहंकार न रहे, उसकी पूरी सावधानी रखे। स्वप्रयत्न हो उतना एक-सा सतत, खंडित हुए बिना का चला करे वह तो अत्यधिक आवश्यक है यह जानना ।

तादात्म्यभाव की आवश्यकता

साधना कोई कुछ दिन में या कुछ वर्षों में थोड़ी पूरी हो जाती है ? वह उतने काल में सिद्ध हो जाय ऐसी क्रिया नहीं हैं। हमारे आधार में जो जो मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहम् आदि रहे हुए हैं, उन उनके अपने अपने पद्धति, आदत, समझ, विचार, वृत्तियाँ, भावनाएँ, कामनाएँ, तृष्णाएँ, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या आदि अनेक अनेक रहा करते हैं। वे वे करण उन्हें दृढ़ता से चिपके ही रहते हैं। इन सभी का हम नित्य नित्य प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक श्रीभगवान के चरणकमल में समर्पण किया करना रहता है । वह भी कोई एकदम हो नहीं जाता । उसमें भी आधार के करणों का जबरदस्त विरोध जागता होता है। हमारे करण अनेक प्रकार की माँग भी किया करते हैं। शुद्धरूप से वे समर्पण भी कर नहीं पाते हैं। उसमें कई-कई प्रकार का आग्रह भी छिपा रहा करता है। प्राण की कामनाएँ भी उसमें संलग्न होती हैं। वह सभी सूक्ष्म, गूढ़, गहन और छिपी खेललीला को हमें परख लेना पड़ेगा, और उसकी निराई किया करनी रहती है । ऐसी प्रत्येक क्रिया में हृदय में हृदय से प्रार्थनाभाव से गुरु की कृपामदद साधक को याचना करनी है ।

गुरु के हृदय के साथ साधक के हृदय का प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक का तादात्म्यभाव के साथ संपूर्ण मिलने की परमावश्यकता रही है। ऐसा होने पर, माँगने के साथ ही मदद मिलती अनुभव कर सकते हैं, ऐसा **इस जीव** को जीताजागता अनुभव है, पर इस तरह अभी तक किसी **जीव** ने करके नहीं देखा है, और अभी कोई कर भी नहीं सकता है। मार्ग में आगे न बढ़ सकने के अनेक कारण रहे हुए हैं, पर यदि मार्ग में बढ़ना ही हो तो स्वप्रयत्न यह तो अनिवार्य शर्त है और यदि जीवन

के गुरु की कृपामदद चाहिए तो साधक को भी उन शर्तों का अनिवार्यरूप से पालन करना ही पड़ेगा और उसी अनुसार योग्य संपूर्ण अमल हो गया अनुभव हो और उसके प्रति गुरु के ह्रदय को पूरा संतोष हो जाने पर उसका जो तो योग्य होने लगेगा । साधक के मनह्रदय और गुरु के मनह्रदय यदि एक हुआ न करते हों, तो ऐसे काम में क्या भला होनेवाला है ? संसारव्यवहार में भी जो काम दो या तीन व्यक्तियों को मिलकर करना होता है, उसमें भी उन उन **जीवों** का एकराग, एकमेल हुआ हो, तभी वह योग्य प्रकार से हो सकता है । महासभा की प्रवृत्ति का योग्य तरह से आचरण हो सके इसके लिए उसके नेता सभी को एक होकर उसे पार उतारने का आह्वान दिया करते हैं । उसी तरह साधना में भी साधक और गुरु के एक होने पर अत्यधिक आधार रहा है ।

समर्पण कैसा होना चाहिए ?

साधनामार्ग में समर्पण एक उत्तम प्रकार का सरल, सहज साधन है । प्रत्येक होते रहते कर्म, विचार, वृत्तियाँ, भावना, मनोभाव, भाव, प्राण के आवेश, आवेग, कामनाएँ, आशाएँ, तृष्णाएँ, लोलुपताएँ आदि अनेक और बुद्धि के जड़ आग्रहों समझ, पसंद-नापसंद आदि में साधक को जागृति रख-रखके उन सभी को श्रीभगवान के चरण में प्रेमभिक्तपूर्वक समर्पण करते रहना है । कुछ भी **जीव** का **जीव**प्रकार का न रहे ऐसा हुआ करना है । ऐसा समर्पण कोई एकदम से नहीं हो जाता है । यह तो धीरे-धीरे होता जाता है और वह भी यदि ऐसा ज्ञानभान जिसमें और उसमें चेतनपूर्वक की जागृति के साथ रहा करता होगा तभी । आरंभ में तो स्वयं अपने आपको समर्पण करते रहना है, ऐसा भान भी वह **जीव** नहीं रख पाता । जैसी-जैसी और जितनी-जितनी तैयारी और प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक की आतुरता वैसे वैसे उसका हुआ करता है । इससे साधक को बारबार अपने अंतर में डुबकी मार-मारके नजर किया करने की अति आवश्यकता रहती है, तो उसे समझ में आएगा और जानेगा कि समर्पण की तो बिलकुल अनुपस्थिति है । उसे अपने होते रहते कर्म

में और मन, प्राण और बुद्धि के स्थूल, सूक्ष्म आकारवर्तन में श्रीप्रभु का या सद्‌गुरु की चेतना-स्मरण-भावना का कहीं भी भान रहता नहीं है । इसलिए हमें तो जो जो करना है, उस अनुसार यदि दृढ़तापूर्वक हृदय में हृदय से चिपके रहकर किया करेंगे, तभी वह हो सकेगा, बाकी तो नहीं ।

साधना की सूक्ष्म चाबी

साधक हिंमत हारने से नहीं चलेगा । ऊबने से भी काम नहीं चलेगा । साधक को ऐसे भी संसार में सुख, शांति, समता, धीरज आदि गुण जितना भी मिल सकेगा नहीं । उसके हृदय को वहाँ भी आराम, संतोष तो मिल नहीं सकता । यदि कहीं भी उसका ऐसा अधिक से अधिक संभव रहता हो, तो वह इस क्षेत्र में और वह भी प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक सचमुच हृदय की सही दानत से वह लगा रहे तो । **साधक का हृदय और सद्‌गुरु का हृदय इन दोनों का बिलकुल एकराग और एकमेल यह एक साधनामार्ग के फतेह की एक सूक्ष्म चाबी है यह निश्चित जानना ।** तुम में भावना है और यदि तुम कर सको, तो तुम्हें कुछ अनुभव उनकी कृपा से होगा ।

• • •

कर्म क्या और अकर्म क्या ?

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. ३-४-१९५२

अज्ञान में रहकर होते जाते कर्म वह कर्म ही नहीं कहलायेंगे । वैसे ही अहंता से जो कर्म हो रहे होंगे, वे भी कर्म नहीं गिनायेंगे । ऐसे कर्म तो दूसरे अनेक कर्मों के बंधनों को जन्म देनेवाले होते हैं । ऐसे कर्म द्वारा **जीव**दशा अधिक गाढ़ी होती जाती है । उसमें से न तो शांति, समता, प्रसन्नता आदि मिलते या न तो सच्चा सुख या आनंद प्राप्त कर सकते हैं । सचमुच कहें तो संसारव्यवहार के जो तो सभी कर्म **जीव** अपने अहंकार को पोषने अथवा तो ममता, मोह, लोभ, काम, क्रोध, राग, मद, द्वेष, ईर्ष्या, असूया, लालसा, कामना, आशा, इच्छा, तृष्णा आदि वृत्तिओं

से प्रेरित होकर जो तो सब करता होता है । ऐसे ऐसे अनेक प्रकार के आवेश, आवेग और हमलें के वश होकर लाचार होकर भी **जीव** कर्म किया करता है, वे भी कर्म नहीं है । हमें जिस तरह और जिस भाव से कर्म करना है, उसमें सचमुच बिलकुल अहंता न हो वही इष्ट और योग्य है । उसमें प्राण के प्राकृतिक लक्षण न हो, वैसे ही निम्न मन के विचार आदि से युक्त भी वे न हो । वैसे कर्म भी श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ ही ज्ञानभक्तिपूर्वक हुआ करते हों, समर्पणयज्ञ में आहुतिरूप में होम हुए हों, तभी वे कर्म गिने जायेंगे । ऐसे कर्म में भक्ति और ज्ञान की भी उतनी ही जरूरत होती है । ऐसे कर्म भक्ति और ज्ञान की मदद बिना होना कभी संभव नहीं होता । इसलिए तुम्हें 'कर्मगाथा' का पूरा अभ्यास कर लेना आवश्यक भी है । 'कर्मगाथा' के लेख कर्म अर्थात् क्या और वह किस तरह से और भाव से करें उसे समझने के लिए पत्र के उत्तर रूप में वह सब लिखा है ।

सच्चा वैष्णव-जीवन

अंतर में श्रीप्रभु के भाव के साथ हृदय में हृदय से घना निकट संबंध रख करके और ऐसे प्रभु के भाव से प्रेरित होकर जो कर्म किये जाते हैं, वे कर्म फिर अधिक कर्मयोग कहलाने लायक हो जाते हैं । **श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ जो तो कुछ सकल किया करना और ऐसी उसकी भावना बिना का कुछ भी नहीं होगा, उसी का ही नाम सच्चा वैष्णव जीवन है ।** हृदय की सच्ची संपूर्ण वैसी भावना और वैसे ज्ञानभक्तिपूर्वक की दृष्टि, वृत्ति और भाव आये बिना वैसा होना संभव नहीं है । इससे हमें तो जिसमें और उसमें हृदय की ऐसी सच्ची नेक, लक्ष्य, भावना और वैसी वैसी दृष्टि, वृत्ति और भाव जगा-जगाकर, उसे कर्म के अंतर में पिरोते रहना है यह जानना ।

शांति स्थापित होते शक्ति आती है

'मन की चंचलता कैसे दूर हो' ऐसा तो साधक चाहता है ही, पर उसे टालने की चाबी हाथ नहीं लगती है, पर मात्र बुद्धि से गुरु के बताने

से कोई **जीव** वैसा कर भी नहीं सकता । यदि अहंता से खुला होना हुआ करता हो, प्राण की कामनाएँ, तृष्णाएँ, लोलुपताएँ यानी कि रजोगुण के आवेश और आवेग से यदि मुक्त होते जाने का ज्ञानभान उस उस पल जागृति रख-रखके श्रीप्रभुकृपा से साधक से रखा जाता हो, तो उसके परिणाम से साधक के मन की चंचलता जरूर हट जाएगी और शुद्धि भी होती रहेगी ।

मन की ऐसी स्थिरता और शांति होते और शुद्धि होते अंतर में ऐसी कोई शक्ति का अवतरण होता हुआ हम अनुभव कर सकते हैं । उसके बाद उसकी कृपामदद द्वारा हम सब कुछ कर सकने को शक्तिमान हो सकते हैं । उस समय ही मनुष्य को अपनी पामरता का सच्चा ज्ञानभान आ जाता है । स्वयं नाहक का अहंता का मारा मेहनत कर-करके मर जाता होने पर भी, कहीं कुछ न कर सकता था, और जब अहंता से मुक्त होकर मन और प्राण की शुद्धि और शांति स्थापित होने पर उस पल से जिस शक्ति का उद्‌गम होता जाता है, उससे तो अद्‌भुत कर्म होता रहता है । इस तरह हृदय में हृदय से साधक को अनुभव होने से वैसे साधक को श्रीप्रभु की चेतनाशक्ति का संपर्क और संबंध अधिक से अधिक गाढ़ हृदय में हृदय से हुआ करता है । साधक ऐसे अनुभवों की परंपरा द्वारा तो ऐसी शक्ति को अपने जीवन का एक मात्र अवलंबन सही रूप से मानता हो जाता है । इसके बिना कुछ भी संभव नहीं है । जिसमें और उसमें वही उसे सर्वस्व लगता है ।

प्रभु को पलपल का साथी बनाओ

दृढ़ संकल्पबल और धैर्य साधक के जीवन में श्रीप्रभुकृपा से होना अत्यधिक आवश्यक है । सत्संकल्प की मदद द्वारा निश्चयबल को जागृत करके उसे बढ़ाते रहना है, परन्तु कुछ भी आग्रह, मताग्रह के परिणाम से तो नहीं होना चाहिए । जिसमें और उसमें श्रीप्रभु की स्मरणभावना सदा जागृत रहनी चाहिए । ऐसा निरंतर एक-सा जागृत प्रयत्न उसकी कृपा से हृदय में हुआ करना चाहिए । हमें तो उस पर संपूर्ण भरोसा, श्रद्धा,

विश्वास रखना है, तभी हमारे मन, प्राण और अहं उसमें दृढ़ और स्थिर हुआ करेंगे यह निश्चित जानना । प्रभु को जिसमें और उसमें बुलाने का करे । उसे पलपल का हृदय का जीताजागता बोलता साथी हमें बना देना रहता है । यह सब कुछ कल्पना से नहीं करना है, कल्पना से ऐसा हो भी नहीं सकता है । उसके पीछे तो हृदय का ठोस प्रेरणात्मक बल काम में लगा होना चाहिए ।

युद्ध तो चलता ही रहेगा

श्रीप्रभु का स्मरण किया करें । कर्म के आदि में, उसे हृदय में हृदय से आराधना करके कर्म में प्रवेश करें, उसके ही लिए श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ किया करते हैं, ऐसी हृदय की सच्ची भावना, नेक, लक्ष्य और दृष्टि, वृत्ति और भाव हमें धारण करना है । कर्म के अंत में उसे प्रेमभक्तिज्ञानभाव से समर्पण किया करके, उसका हृदय से अत्यधिक आभार माना करना है । श्रीप्रभु मानो प्रत्यक्ष है, ऐसा भाव हृदय में वास्तविकता का स्वरूप पकड़ता हो, उस तरह उस भाव से श्रीप्रभु को हमें संबोधन करते रहना है । उनके साथ का संबंध यह कोई काल्पनिक नहीं है, पर हृदय की भावुकता का है, ऐसा भाव जब वास्तविकता का स्वरूप पकड़ता है, उस समय श्रीप्रभु कोई काल्पनिक हकीकत है, ऐसा भक्त साधक को लगता नहीं है, उसकी उपस्थिति भी वह अनुभव करता है । जहाँ हृदय में हृदय से ऐसे प्रभु के यानी कि ऐसे चेतन के **जीव** को साथ और ऊष्मा मिलते हैं, उस समय साधक को कुछ भी कठिन नहीं लगता है । उसके प्रति हृदय का प्रेमभाव तो उसके बाद सहज रूप से होता जाता है । वह उसके प्रति अपने आप हृदय में हृदय से आकर्षित होता जाता है । श्रीप्रभु के प्रति बहने की गति बाद में तो सहज होती जाती है, वह बिलकुल सच, पर तब उसे युद्ध या सामना करना नहीं होता ऐसा बिलकुल नहीं है । तब भी वह तो होता ही है । जीवन का विकास होने के लिए, सतत चेतनयुक्त जागृति से तैयारी में रहने के लिए उसकी आवश्यकता भी अत्यधिक रहती है ।

नवजीवन कैसे पाये ?

आरंभ में साधकों को इससे अपनी-अपनी मान्यताएँ, समझ, आग्रह, रीतिरिवाज, आदतें, धारणाएँ आदि उन-उन सभी से खींचते चले जाना न होना चाहिए, बल्कि ज्ञानभान रख-रखके स्वभाव की तरह वर्तन करने का न हो जाय, उसका तो पर्याप्त भान और जागृति रखने हैं। शीघ्रता से कहीं किसी पर मत या अभिप्राय या समझ न बाँध ले, उसकी भी सावधानी उतनी ही रखनी है। संसारव्यवहार में जिन **जीवों** के साथ वर्तन करने का हो, वहाँ शांति, समता, तटस्थता, प्रसन्नता, धीरज आदि रखा करें या विकसित करने का जागृतिपूर्वक का अभ्यास साधक को रखना होता है। वैसे वैसे **जीवों** के लिए किसी भी प्रकार का ऐसा या वैसा मत, अभिप्राय या समझ न बंध जाय, उसका भी ज्ञानभान साधक को रखना होता है। संसार में जो तो सभी हमारे अपने हैं, ऐसा स्नेहयुक्त भाव हमारे हृदय में उनके प्रति जीताजागता रहा करे वह भी अति आवश्यक है। ऐसा जो साधक करता रहता है, वही नया जीवन पा सकता है।

अहंता से मुक्त हो जाओ

ऐसे एक तरफ से साधक अपनी अहंता से बिलकुल विस्तृत होने का ज्ञानपूर्वक का प्रयत्न करना है, और दूसरी तरफ से श्रीप्रभु के चेतनस्मरण की भावना में रत रहा करना है। प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक अभ्यास विकसित करते रहना है। जहाँ जहाँ अभिमान दिखाई देने लगे, उस समय हमें थोड़ी भी हार स्वीकार नहीं करनी है। उससे मुक्त होने के लिए हमें सदा पलपल ज्ञान के भाव से प्रेरित रहना पड़ता है। मन की चंचलता या अस्थिरता लगे तो मान लेना कि अभी अहंता भरी पड़ी है। अहंता पूरी पिघल जाने पर अपने आप वह असल ठिकाने पर आ जायेगा। **इसलिए साधना की सफलता की चाबी तो अहंता से मुक्त होने में रही है।**

अहंमुक्त की स्थिति

निराग्रहीता यदि ज्ञानपूर्वक रखी जा सकती हो तो अहंता से दरियादिल शीघ्र बन सकते हैं । कहीं किसी में अपने आपका आग्रह ऐसा या वैसा बिलकुल न रह सके ऐसे मन, बुद्धि, प्राण का जीताजागता भाव रह सके, तो अहंता किस आधार पर फिर रह सकती है ? जो तो बंधन भी अहंता के कारण ही है न ? जो कर्म अहंतारहित बनता है, उसमें कर्मबंधन नहीं है, क्योंकि उसमें द्वन्द्व नहीं है । **जहाँ अहंता नहीं है, वहाँ द्वन्द्व भी नहीं है । अहंता के कारण ही द्वन्द्व की भूमिका व्याप्त है । इसलिए अहंता से मुक्त होना यह साधना में आगे बढ़ने का सबसे योग्य तथापि कठिन से कठिन कदम है ।** कठिन से कठिन इसके लिए कि अहंता का भी अपना एक प्रकार का विशिष्ट अपनापन रहा है न ? ऐसे मनुष्य स्वयं भी सरलता से अहंता के पाश में से मुक्त हो जाने को ज्ञानभक्तिपूर्वक की पूरी तैयारीवाला भी नहीं होता है । जिसे अहंता बिलकुल नहीं है, उसे कहीं कोई आघात-प्रत्याघात भी नहीं होते हैं, उसे कोई उथलपुथल भी नहीं होती है । अथवा उसे कहीं किसी के प्रति ऐसे या वैसे होनापन भी नहीं होता है । जो जैसे जहाँ हो और जैसे हुआ करता हो, वहाँ वह वैसे का वैसा रहा करता है – मानों कि किसी से कोई संबंध न हो । उसे कुछ स्पर्श भी नहीं कर सकता है । उस समय के कर्म कोई अलग प्रदेश में से उद्‌भव होते रहते हैं । अहंता परिवर्तित होकर किसी दूसरी शक्ति के आकार में लय हो जाती है । **अहंता से मुक्त मनुष्य कैसा हो, ऐसा प्रत्यक्ष नजर में आये ऐसा लक्षण तो वह बिलकुल संपूर्ण निराग्रही रहा करता होता है ।** परंतु वैसा उसका प्रत्यक्ष लक्षण उसके जीवनवर्तन में अनुभव होने पर भी प्रत्येक **जीव** को वह वैसा लग भी नहीं सकता है । जिसे उसका प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक का थोड़ा बहुत भी हृदय का परिचय हुआ होता है, उसको वह वैसा लगे बिना भी नहीं रह सकता । इसलिए साधक को जिसमें और उसमें माथापच्ची करना छोड़कर साधना में ही लगातार एकाग्र, केन्द्रित हो जाना करना है । **जिसमें और उसमें सिर मारने का मन हो, तो जानना कि वह अहंता है ।** अहंता

से तो मुक्त बनना है, इससे उससे प्रेरित होकर कुछ न करे यह उत्तम है । ऐसे उत्तम हेतु की सिद्धि के लिए भी हृदय से हृदय का एक होना अति आवश्यक है ।

● ● ●

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. ३-४-१९५२

तुम्हारे विकास के लिए **इस जीव** का दिल प्रभुकृपा से कितना तुम पर है, यह किस तरह लिखकर बतलाऊँ ? तुम उसका उपयोग करती हो जाओ, तुम्हारे हृदय में हृदय से ऐसी प्रेमज्ञानभक्तिपूर्वक की उत्कट आतुरता सद्गुरु के हृदय में एक हो जाने के लिए प्रकट हो, तो तुम अवश्य महारथी बन सको ।

गुरु की महान मदद

उलझन या मंथन होते समय कुछ भी हो 'मोटा' अवश्य तुम्हारी पीठ पीछे हैं, उसे तो तुम में जीना है । उन्हें उस समय हृदय में आर्त और आर्द्रभाव से प्रार्थना कर-करके जगाना और उनकी कृपामदद का अनुभव लिया करना । ऐसी मदद प्राप्त करने का अनुभव मिलने पर तुम असहाय हो, आसरा बिना की हो, अकेली हो ऐसा सभी चला ही जायेगा । तुम्हारे द्वारा प्रभुकृपा से कितनों को ही श्रद्धावंत बनाना संभव बन सके ऐसा है । तुम जीवनविकास में स्वयं खड़ी रहकर साथ ही साथ दूसरे **जीवों** को प्रेरणारूप कितनी हो सकती हो वह सोचना । सदा मस्त बनना ।

● ● ●

अधिक महत्त्व तो जाप, प्रार्थना आदि को दो

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. ३-४-१९५२

हमें यदि जीवनविकास सचमुच दिल से करने का हो तो साधक अपने ध्येय-मार्ग के विकास को रोकनेवाला जो जो कुछ आये, उसका त्याग करने के लिए आत्मिक बल प्रकट करना होता है । जो जो कुछ मार्ग में विकास के प्रति अवरोधरूप होता हो, उसका स्पष्ट दर्शन साधक

को हो जाना चाहिए । त्याग करते रहने की जागृति उसे साधनी रहती है । ऐसा होने पर भी साधक को अधिक महत्त्व तो उस कार्य के लिए कृपा-बल-मदद प्राप्त करने के लिए प्रार्थना, भक्ति, प्रेम और समर्पण आदि की हृदय की वैसी वैसी साधनाओं को देते रहना है, जैसे पैर में काँटा चुभा होता है, उसका भान होते उसे निकालने के उपाय में मनुष्य अधिक महत्त्व देने लगता है, उसी तरह नामस्मरणभावना धारणापूर्वक हुआ करे, उस पर उसका महत्त्व रहा करना चाहिए । जिस की मदद से साधक को चढ़ना है, उसके हृदय में अपने हृदय को एक करके, एकाग्र और पूरी तरह केन्द्रित और वह भी प्रेमभक्तिज्ञानभाव से करके करते रहना है । उनकी मदद लिया करनी है । कुछ होने पर उसमें मन-दिल पिरो देना होता है ।

साधक के दुःख का कारण

मनुष्य को लगता है, उसका कारण अभी उसकी दृष्टि, वृत्ति और भाव सामान्य **जीव** की कोटि से अलग तरह का सीखा नहीं है । स्वयं जीवनविकास करने निकला है, उसका ज्ञानभान उस समय उसे जीवित रहा नहीं होता है । ऐसा ज्ञानभान होना साधक के लिए अति आवश्यक है । यदि ऐसा नहीं हुआ करेगा तो साधक संसारव्यवहार के भाव में डूब मरेगा, बह जायेगा और उसमें दुःखी दुःखी होकर अटक जाएगा ।

सद्‌गुण से भी साधना को महत्त्व

साधक के मन में शांति, स्थिरता, तटस्थता, समता, धीरज आदि गुण खिले-खिलते रहे वह भी उतना ही आवश्यक है, परंतु उन सभी पर साधक अधिक महत्त्व न दे, पर उस कार्य के लिए हृदय में प्रार्थना प्रेमभक्ति द्वारा किया करता रहे । उस कार्य के लिए वैसा रचनात्मक बल प्राप्त करने का अनुभव करता रहे । इन सभी का जीताजागता महत्त्व हृदय में रहा करे यह अति आवश्यक है । मन में मन की स्थिरता, शांति आदि स्थापित हुए बिना साधक अनेकबार उलझन में पड़ जाते देखा है । आ पड़ी परिस्थिति में समता, शांति और धीरजपूर्वक हल निकालने में अति

अधीर और हक्काबक्का हो जाते अनुभव किया है । प्रत्येक काम स्वस्थता, समता, शांति से होता जाय, तो उसमें व्याकुलता, संताप, अशांति, रागद्वेष आदि न हुआ करे और ऐसा होना वह भी साधना यदि करनी हो तो अति आवश्यक है, सब कुछ जो करना है, वह प्रभु की भावना प्रकट करने, विकसित करने के लिए करना है, अपने विकास के लिए करना है, ऐसे भी मन को विकसित करना है ।

शांति के उपाय

हम अपनी ही चाह अनुसार कर सकें, हमारी धारणानुसार सब हो ऐसी इच्छा या आग्रह मन में रखा करें वह भी अयोग्य है । हमें श्रीभगवान का चाहा हो उसके लिए जीना है । यदि वैसा है तो फिर अपने अहंकार, आग्रह, मत, समझ, आदत आदि को तोड़ने के लिए अलग-अलग निमित्त से जो जो प्रसंग प्राप्त हों, उसे साधक को प्रेम से स्वीकार करने का दिल हुआ करना चाहिए । 'प्रत्येक प्रसंग गुरुरूप है', इसका अर्थ इस तरह का है । प्रत्येक प्रसंग का जीवनविकास के निर्माण में कैसा और किस तरह का स्थान है, उसे देखने के अंतरचक्षु हमें विकसित करने हैं । यदि वैसा हुआ करेगा, तो हमें संसार-व्यवहार में सामान्य **जीव** जिस प्रकार व्यवहार करते हैं, उसमें दुःख या न्याय-अन्याय देखने का थोड़ा भी मन नहीं होगा, क्योंकि उनके पास दूसरी अधिक की आशा रखना यही हमारा अपना अज्ञान सूचित करता है । हमारी जिस तरह की जीवनश्रेणी हो, समझ हो और जिस तरह की भावना हो, वैसा ही सभी **जीवों** का होता है, ऐसा तो हो ही नहीं सकता न ? इससे हमें तो जो जीवनविकास को रोके और मन में अशांति आदि लाये और ऐसा यदि मन हमें दिखलाने का करे, तो उस उसमें उस तरह से हिस्सा लेने का साधक को स्पष्ट इनकार करना है । स्वयं उससे अलग हो जाये । मन को कहें कि उस तरह से सोचने का काम तुम्हारा नहीं है । ऐसे प्रत्येक **जीव** के साथ की घटना और प्रसंग के समय यदि मन को टोकते रहेंगे, तो अकुलाने, दुःखी हो जाने या हमें न्याय-अन्याय हो रहा है, ऐसा सोचने का अवसर हमें नहीं

होगा । हमें तो जो कुछ जीवनविकास के हिसाब से, गिनती से और उसी भाव से किया करना है और सोचना है । उसके बिना दूसरी तरह से दूसरी तरह से भारपूर्वक हृदय से इनकार किया करना रहता है, ऐसा जानना ।

प्रभु को पलभर के लिए भी नहीं भुल सकते, इसका प्रत्यक्ष ज्ञानभान साधक को हृदय में रहा करे यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है । प्रभु के लिए जीना है और उसके लिए जो तो किये करना है । जिसमें और उसमें उनका ही भान व्याप्त हो यह उतना ही आवश्यक है । जब जब **जीव**दशा में आ पड़े तब तब हृदय में चेतकर उसे जगाते रहें और कृपाबल मदद प्राप्त करते रहें । पत्रव्यवहार यह तो हमारे हृदय का नित्य सत्संग है ।

तुम्हें कोई बल मिलता अनुभव हो, तुम्हें किसी तरह से शांति अनुभव होती लगे, और ऐसे ऐसे समाचार मिलते रहे, तो तुम्हारे प्रति हृदय का प्रेमभाव विशेष जागृत होकर तुम्हारे आधार में हिस्सा लेने को प्रभुकृपा से उद्यत होगा । बालक को चलता देखकर, उसकी टूटीफूटी बोली में बोलता सुनकर माँ के हृदय में जो आनंद होता है, वह तुम माँ होने पर भी समझ नहीं सकती हो ?

दो तरफा लक्ष की आवश्यकता

दिन को सूर्य तो तपता रहता है । उसका तेज भी उसका वही होता है, पर चौमासा हो और बादल छाये हों और बरसात पड़ा ही करता हो, तो उसमें का कुछ भी नहीं लगता है, क्योंकि उसके अस्तित्त्व के विरुद्ध ऐसा आवरण उसे घेरे हुआ है । यदि उसके तेज के विरुद्ध ऐसा कोई भी आवरण न हो तो तो जैसा और वैसा ज्यों है वैसे का वैसा अपने आप ही व्याप्त हुआ लगेगा । इसलिए **जीव** को एक तरफ से सकल आवरण मुक्त होना है और उसके लिए साधन में मग्न रहा करना है । साधक को जीवनविकास की साधना अधिक से अधिक एकाग्र केन्द्रित और समग्र हुआ करे उसके लिए उस तरफ भी लक्ष दिया करना है ।

ऐसे पत्र तो केवल तुम्हें ही लिखता हूँ, पर वह भले तुम्हें संबोधित करके लिखे हों, पर वे कोई तुम्हें अकेली को ही संबोधित करके नहीं

है, पर वे साधना करनेवाले प्रत्येक **जीव** को लागू हो ऐसे हैं । 'तुम' सर्वनाम यह तो मात्र प्रतीकरूप लगता है । **पत्रव्यवहार यह भी एक साधना का प्रकार है । हृदय हृदय को मिलने का वह उत्तम प्रकार का अवसर है ।**

प्रेम के लक्षण

'सबसे ऊँची प्रेम सगाई ।' यदि हम संसारव्यवहार में जो भी हो सभी जीवों के साथ हृदय के प्रेम की सगाई बाँधने के लिए हृदय से जीया करते हों, तो प्रेम तो आशा, अपेक्षा सभी से पर है । वह किसी का कुछ देखना नहीं चाहता होता । उसे किसी लाभ या बदले की कोई आशा भी नहीं होती है । प्रेम तो बस प्रेम ही किया करने में मस्त होता है ।

पत्रव्यवहार का हेतु

कृष्ण भगवान स्वयं श्रेष्ठ से श्रेष्ठ होने पर भी उन्हें अर्जुन का सारथि बनने में कोई छोटापन नहीं लगता । अर्जुन के बाण से उसके सारथिपन की कला से, उनकी आंतरिक प्रवीणता से, अर्जुन को विशेष लाभ हुआ होगा । ऐसे हृदय की प्रेमभावना विकसित और विकास हो सके और उसकी योग्य समझ आ सके इसके लिए 'पुनित प्रेमगाथा' का लेख है । उसमें प्रेम के सभी पहलू, प्रेम के प्रत्यक्ष लक्षण, मन का झुकाव सब विस्तृत पृथक्करण कर–करके वर्णन किया है । उस पर तुम्हें अध्ययन करने की जरूरत है, पर अभी तो ये पत्र ही अध्ययनरूप रहे हुए हैं, क्योंकि वह पढ़ना, उसे उतारना और उसे समझना वह भी एक पर्याप्त अध्ययन है । पत्रों के माध्यम से तुम में भावना बनी रहे और तुम अधिक से अधिक सतेजरूप से जीया करो ऐसा हृदय का उद्देश ऐसे पत्र लिखने के पीछे रहे हुए हैं, उसे जानो और उसे सार्थक करती रहना ।

सहज साधना

जो जीव मात्र श्रीप्रभुपीत्यर्थ ही सकल जो तो कुछ हृदय की पूरीपूरी उत्कट प्रेमभक्ति से किया करने का रखता है, और जिसके

हृदय में एक मात्र भगवान को ही राजी करने की मनीषा है, अभिलाषा है, इच्छा है, और उस तरह मनहृदय से बारी बारी होकर उस पर सब तरह से और सब भाव से न्योछावर हो जाने की तमन्ना लगी हुई हो, ऐसा *जीव* ध्यान करने बैठे या न बैठे उसमें कोई अंतर नहीं पड़ता है, अथवा साधना की कोई दूसरी रीति अपनाये या नहीं उसका भी कोई विरोध नहीं होता है । ऐसे *जीव* को कुछ बताने जैसा रहता नहीं है । मात्र हम यदि हमारे सभी कर्मों में सभी समय हृदय की सच्ची दानतवाले हों और हमारी भावना यदि एकमात्र प्रभुप्रीत्यर्थ जो तो किया करने की हृदय में हृदय से जाग गई हो अथवा उस तरह का हमें अभ्यास होता रहता हो अथवा वैसा अभ्यास विकसित करने का जीताजागता प्रयत्न हुआ करता हो और उस समय हमारे मनहृदय श्रीभगवान के प्रति ही उन्मुख रहा करते हों या वैसा रहने के लिए हृदय से प्रयत्न करते हों और उसमें संपूर्ण तल्लीन, एकाग्र और केन्द्रित हुआ करें, तो जो कुछ आवश्यक हुआ करे वह अपने आप ही हमारे सामने उपस्थित हो जाएगा, ऐसा इस *जीव* को श्रीप्रभुकृपा के बल आधार से पक्का अनुभव हो गया है, यह जान लेना ।

वैष्णवधर्म की जो मूल भावना है कि जो तो सब प्रभुप्रीत्यर्थ ही किया करें, यह तो सहजसाधना है । इसके जैसी दूसरी कोई सरल, सहजसाधना नहीं है । यद्यपि दूसरे साधन **इस जीव** ने तो श्रीप्रभुकृपा से किये हैं, पर शुरू शुरू में तो ऊपर का ही साधन उसकी कृपा से लिया था, इससे वैसी साधना में से बहुत मिला है । इसलिए उस अनुसार कर लेने में सार है । ध्यान, त्राटक या ऐसे दूसरे साधन करने का समय न मिले उसमें कोई बाधा नहीं हो – यदि हम ऊपर का साधन करते हो जाय तो ।

• • •

सच्ची परतंत्रता

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. ५-४-१९५२

संसारवर्तनव्यवहार में परतंत्रता माननी यह तो हमारा निरा अज्ञान है । हमें साधक मात्र को उसका **जीव**पन ऐसी **जीव**दशा है यह उसकी

परम परतंत्रता है, यही उसे अत्यधिक सालते रहना चाहिए, हृदय में दंश लगना चाहिए । उस विषय में परतंत्रता मानना किया करेंगे, तो संसारवर्तनव्यवहार में हमारी दृष्टि, वृत्ति और मन का झुकाव ऊर्ध्व प्रकार के बना करते हैं । हमारी परतंत्रता हम **जीव** हैं और **जीव**रूप में व्यवहार करते हैं वही है । उसे टालने को मन किया करें और उसमें मन को सतत एक-सा पिरोया करे यही जीवन है । ऐसे जीवन के अनुशीलन, परिशीलन से सच्ची स्वतंत्रता जन्म लेनेवाली है, वह जान लो ।

गुरुआज्ञापालन का महत्त्व

अपने जीवन का निर्माता हृदय से जिसे सचमुच मान लिया हो, उसे तो जगत में आचरण और आदर करने के लिए योग्य यदि कुछ हो तो अपने सद्‌गुरु का वचन है । ऐसे के वचन का पालन करनें में जिसे निजानंद मिलता है, यानी कि वैसा करने में जिसके हृदय को प्रेमभक्तियुक्त उत्साह, जोश, सँभाल, उमंग हुआ करती है, वैसे **जीव** को उसके वैसे पालन करने में से जो अनुभव मिलता है, उसमें से उसे नया नया ही मिला करता है, उसे नयी दृष्टि, नयी समझ प्रकट होती रहती है । ऐसा **जीव** क्षुल्लक संसारवर्तनव्यवहार से पर रहा करता है । उसका मन संसार के कार्य में होने पर भी उसका मन संसारी कभी नहीं बनता है । वह भी निश्चित जानना । जिस **जीव** से अपने हृदय से माने हुए सद्‌गुरु का वचन का पालन नहीं हो पाता, उसने गुरु किये न किये के समान है । ऐसे **जीव** को तो गुरु करने की माथापच्ची में पड़ना यह भी निरा अज्ञान है ।

हृदय की दानत ही महत्त्वपूर्ण

जीवन का विकास यह कोई खेल की बात नहीं है । जीवन के साथ साधक को खेल खेला करना उचित नहीं होगा । उसे तो प्रयत्न करते हुए सतत जागृत रहना होगा । संसार से उकता कर या ऊब जाये यह रुचे ऐसा नहीं है । हमें तो जो भी करना है, सब हमारे अपने विकास के लिए करना है और श्रीप्रभुपीत्यर्थ ही करना है । ऐसे यदि हमारे दृष्टि, वृत्ति और मन का झुकाव हो जाये, तो फिर अन्य आ ही कैसे सकते

हैं ? हमें तो ऐसे ही स्वप्रयत्न में ओतप्रोत रहने के लिए प्रभुकृपा से मथा करना है। हमारे हृदय का सच्चा लक्ष्य प्रामाणिक और संपूर्ण योग्य प्रकार का है कि नहीं इसका पक्का भरोसा कर लेना पड़ेगा। यदि वैसा सच्चा लक्ष्य हो, तो मानसिक दृष्टि, वृत्ति और मन का झुकाव किस ओर रहा करता है यह तो 'जीवनारंभ' में बतला दिया है। इसलिए सच्चा लक्ष्य और हृदय की दानत यही मुख्य हकीकत है।

विचार कैसे शांत हो ?

मन में अनेक विचार उलटे-सीधे और खराब भी आया करें, तो वे क्यों आये ऐसा करके उनके पीछे चिंता किया करने में सार नहीं है। ऐसे तो अनेक विचार आया करेंगे ही, परंतु जैसे मलमूत्र के लिए पाखाने जाना होता है, छींक आये, लार निकले, सिनक निकले, ऐसा ऐसा होने पर उसके विषय में सोचा थोड़े ही करते हैं ? वैसे ही विचार, वृत्तियाँ, मनोभाव उपज जाये, तो उसमें फँसे नहीं। उसमें हम लीन हो जाएँ और उन विचारों में दूसरे अंको को न पिरोते रहें। ऐसे ऐसे पलों में जागृत रहकर वह सभी श्रीभगवान के चरणकमल में समर्पित करते रहें। यदि ऐसा किया करेंगे, तो वे सारे चले जायेंगे। ऐसा तो अनेकबार हुआ ही करेगा। इससे कभी चिंता में न पड़ जाय या उदास न हों। ऐसे विचारों को अति सामान्य तुच्छ समझकर छोड़ देने जैसे गिनके, उसे अधिक कुछ भी महत्त्व न दें। ऐसे विचार मन में एक तरफ हो पर यदि दूसरी तरफ फिर मन में मन से प्रभु की चेतनस्मरण-भावना धारणायुक्त जीवंत रहा करती होगी, तो वैसी **जीव**दशा के विचार हमें परेशान नहीं करेंगे यह निश्चित जानो। यह तो वैसा होता है कि क्यों वैसे प्रयोग करें, तभी तो उनका अनुभव होगा न ? इसलिए उस समय हृदय के भाव से वैसे प्रयोगों में ही रचे रहें। विचार तो आयेंगे और जायेंगे। उस ओर नजर भी नहीं करनी है। यदि ऐसा समझपूर्वक हुआ करेगा तो धीरे धीरे वह हमारे अधिकार में आयेगा, यह निश्चित जानें।

हमें जो कुछ करना है, वह हृदय के भाव से किया करें। भाव यही सर्व श्रेष्ठ है। भाव यदि जागा हुआ होगा तो कोई हमें पराजित नहीं

कर सकता है । मन के हमले आदि होने पर भी उसमें फँसना नहीं है । साधक के जीवन में जीवन को भाव जितना गढ़ सकें उतना और वैसा कोई भी नहीं गढ़ सकता है, यह निश्चित जानना ।

एकनिष्ठा की शक्ति

जीवनविकास की भावना में जब एकनिष्ठा आती है, तब शरीर या आधार के करणों में भी उसका प्रवेश होता है। उसमें बदलाव आने लगता है। जो होना भगीरथ पुरुषार्थ से भी संभव नहीं होता, वह जीवनविकास की भावना से प्रकट हुई एकनिष्ठा से हो जाता है । ऐसी एकनिष्ठा प्राप्त होते जो दृढ़ निश्चयात्मक संकल्पबल प्रकट होता है, उसकी जोड़ी कहीं नहीं है। सामान्य **जीव**दशावाले मनुष्य में तो उस प्रकार का संकल्पबल कभी प्रकट नहीं हो सकता है। भक्तहृदय की साधना में जो प्रेरणात्मक बल आता है, उसके आधार के मूल तो हैं उसकी ऐसी एकनिष्ठा में ।

अमुक अल्प की जरूरत

अल्प आहार (शरीर की आरोग्यता और सुखाकारी पूर्णत: सँभली रहे उतना तो सही ही) अल्पविहार, अल्प निद्रा, अल्प बोलना, अल्प संबंध, अल्प संपर्क, अल्प व्यवहार, अल्प जाना-आना और अल्प मिलनों यह सभी मन के संयम को विकसित करने के लिए अत्यधिक मददरूप हैं ।

अंतर्मुख बनो

जीवन, व्यवहार, वर्तन, संबंध, कर्म, वृत्ति, विचार, कामनाओं में स्थूल व सूक्ष्म प्रकार में शांति, समता, प्रसन्नता, धीरज आदि कैसे सँभल कर रहें, उसे लक्ष में रखकर जैसा करना योग्य लगे वैसा वह करें। जहाँ जहाँ उसका भंग होता लगे, तब अटकना। इन सभी 'अल्पता' के प्रकार के पीछे का हेतु तो इतना ही है कि **जीव** को अधिक से अधिक अंतर्मुखता बनाये रखनी है। मनुष्य की सभी क्रियाएँ, कर्म, व्यवहार, वर्तन, संबंध, विचार और वृत्तियाँ आदि सभी बहिर्मुखता का है। जिस **जीव** को ऐसी

दशा हो, वैसा उसका मानस और उसकी वैसी बुद्धि साधनामार्ग विषयक यथार्थ मूल्यांकन भी नहीं कर सकते हैं ।

शून्य बनकर गुरु को शोभित करें

साधनामार्ग का होने के लिए ज्ञानपूर्वक रज से भी रज होने की जरूरत है । नम्रता तो शून्यता से भी पार हो यह अति आवश्यक है । **नम्रता यानी स्वयं कुछ भी नहीं - एकमात्र श्रीभगवान ही है, ऐसी निष्ठापूर्वक की ज्ञानयुक्त भावना वह ।** उसके बिना हमारा काम कभी पक्का न हो सकेगा । इसलिए जो तो **इस** मार्ग का तुम्हें लिखना हुआ करता है, उसका वैसा यथाशक्ति प्रेमभक्ति से, हृदय से पालन करती रहना । यह पामर **जीव** की तुम्हारे **जीव** में प्राणप्रतिष्ठा करने की जिम्मेदारी तुम्हारी है । इस **जीव** की शोभा तुम्हारे जीवन के वर्तन से है । तुम्हारी वाणी, वर्तन और भावना में है, वह जानना ।

गुरु को छलना नहीं

स्वयं गुरु किये हैं, परंतु हृदय में तो क्या, पर मन में भी गुरु की ज्ञानभक्तिपूर्वक की भावना (और वह भी अपने जीवनविकास की भावना को विकसित करने और उसका वैसा उपयोग करने की खातिर) यदि **जीव** जीवंत यथार्थ रूप से नहीं रख सकता और वह **जीव** को वैसा बलवानपन वैसी भावना में व्याप्त न हो, और यदि वैसा **जीव** अपने श्रेय की बात करे, तो ऐसी बात तो उसके आत्मा को छलने के समान है । यद्यपि उसमें उसको तो कुछ भी नहीं, क्योंकि वह तो किसी प्रकार के कोई किसी के प्रति आकांक्षा रखता नहीं है । इसलिए उसे कहीं छलनापन रहता नहीं है, परंतु ऊपर कहा उस प्रकार के **जीव** तो परम अपराध के पात्र हैं, यह निश्चित जानें ।

कठिन मानकर हताश न हों

फिर यह तो अत्यधिक कठिन और मुश्किल है और वैसा तो हम से न हो सकेगा ऐसी वृत्ति रखनी या करनी और मुँह से ऐसा बोलना

वह साधक के लिए बिलकुल अहितकारी है । वैसी वृत्ति का समय पर जितना जल्दी त्याग कर सके उतना साधक के लिए उत्तम हकीकत है । हमारा बोलना, वर्तन, बैठना, उठना, चलना और सकल कुछ कर्म करना, ऐसा सभी सब कुछ जो तो हमारे जीवनविकास के योग्य है कि नहीं, उसकी समझ अपनेआप साधक को हो जानी चाहिए । तभी उसके बचने की बारी आ सकती है ।

साधक की जागती आँखों से देखो

किसी ने ऐसा कहा और किसी ने वैसा कहा । यदि उसीमें ही **जीव** भटक जाये, घबड़ा जाये, खिसियाना हो जाये, उकता जाये, अशांत हो जाये, दुःखी दुःखी हो जाये, तो अभी उसमें अहंता भरी पड़ी है ऐसा जानना, क्योंकि उसकी अहंता को उस प्रकार के आघात लगते हैं, इससे उसे वैसे वैसे भाव होते हैं, सारे प्रसंग स्वयं को अधिक जागृति में जीने और प्रेरित करने के लिए हुआ करते हैं, ऐसा ज्ञान जब साधक के दिल में प्रकटता है, तब बनते जाते सभी प्रसंगों में अपने जीवननिर्माण के लिए श्रीप्रभु की परम कृपा का सूक्ष्म हाथ रहा वह अनुभव करता है । ऐसा अनुभव होते स्थूल रूप से लगते ऐसे भयानक भयानक प्रसंगों में बाद में साधक का मन **जीव**दशा की समझ से कभी भी खिंचता नहीं है । जो **जीव** जागता है, वह तो जागने की समझ से जो तो सब समझता जाता है, देखता रहता है । इसलिए हमें तो जो तो सभी जाग जाग करके ही देखना है । उस समझ के अनुसार बरतना है, यह जानना ।

लि. तुम में जीवनविकास की भावना से जीने को आतुर ऐसे **मोटा** के सप्रेम बहुत बहुत प्रणाम ।

● ● ●

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. ५-४-१९५२

तुम्हारा पत्र मिलने से पहेले ही आगे किसी पत्र में लिख चुका हूँ । अनेक बार तुमने पत्र में लिखा हो, उससे पहले ही तुम्हें उत्तर मिल चुका होता है ऐसा अनुभव तो तुम्हें अनेक बार हुए हैं । **जीव** में भक्ति

की भावना उसके हृदय में ऐसे अनुभव की असर और भावना से विशेष रूप में निष्ठा के भाव में प्रकट होती जाती है, वह जानना ।

भान भूला जगत

तुम काम से निवृत्त न हो ऐसा तो माँगता हूँ । फुरसत के समय का सदुपयोग करने की कला आज तो लगभग सब खो बैठे हैं, पुरुष एवं स्त्री दोनों जन । समय बहता जा रहा है, जीवन लुढ़कता जा रहा है, ऐसा ऐसा भान भी किसी को नहीं है ।

सद्‌गुरु की सफलता कब

जो जीवन को चाहता है, उसे अत्यधिक हृदय में चाहता हूँ । जीवनविकास के लिए हृदय की लगनी लगे इससे मेरा काम पके ऐसा श्रीप्रभुकृपा से गिनता हूँ । इससे सत्संग का ज्ञानपूर्वक का निरंतर अभ्यास आवश्यक है, परंतु **जीव** को **जीव**प्रकार की वृत्तिओं का अभ्यास है, इसलिए उसमें एकदम कुछ श्रीभगवान के चेतन के प्रति संस्कार का उदय किस तरह से हो सकेगा ?

अंतर रंगने का काम

मैले कपड़ों में ठीक से रंग नहीं चढ़ सकता है । कपड़े को रंगने से पहले तो उसका सारा मैल निकाल देना होता है । ऐसे तो स्थूल रूप से स्वयं रंगरेज हूँ न ? रंग करने का काम मिला था । श्रीप्रभु की कृपा से हमें तो सभी का यानी कि जो अपने आप उस काम के लिए प्रभुकृपा से मिले उनके अंतर रंगने का काम अत्यधिक अच्छा लगता है ।

एक में अनेक का समावेश

जो असत् है यानी कि **जीव**दशावाले चित्त को चेतन संबंधी का संपर्क और स्पर्श यथायोग्यरूप से उसी भाव और उसी स्वरूप में नहीं पड़ सकता है, क्योंकि **जीव** को कितने ही जन्मों का असत् का ही अभ्यास पड़ा है, इसलिए वह प्रकृति में ही वह खेला हुआ करता है । अपनी प्रकृति को उसने श्रीभगवान को प्रेमभक्तिभाव से समर्पण भी नहीं की है ।

इसलिए नित्य समागम और वैसे अभ्यास की जरूरत होती है। इसलिए तुम्हें अकेली को यद्यपि मैं सत्संग की भावना को लम्बे पत्र लिखता हूँ, परंतु भावना तो उस अर्थ से मिले सभी स्वजनों के दिल में प्रभुकृपा से प्रेरित करता हूँ।

हमारी ही प्रकृति का फैलाव

यह **जीव** काम कितना करता था, वह तो तुम्हें लिखा है। **काम से डरे वह तो कायर।** मुझे तो तुम्हें मर्द अनुभव करना है न ? अभी तुम्हें हराने, भय लगाने और हैरान करने तथा संताप देने को कुछ कुछ हो भी सही, पर इससे उसमें हमें क्या ? कोई जान-बूझकर ऐसा करता है वैसा नहीं है। जहाँ तहाँ सभी जगह हमारी अपनी प्रकृति फैली हुई है। उसके उसके वे वे फुनगे हैं। इसलिए कृपा करके नामस्मरण हृदय के उमंग से करती रहना।

मेरा तो तुम पर बहुत आधार है। तुम यदि डगमगाओ, तो मेरा कैसा हाल होगा ?

तुम्हें रुलाना क्या मुझे पसंद है ? रोने से तो उसकी भावना और उसका उपयोग चेतनस्मरणभावना में किया होता तो कितनी एकाग्रता जन्मी होती ?

● ● ●

संसारी दलदल से कैसे उबरें ?

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. ६-४-१९५२

जीवन की सचमुच और पूरीपूरी यदि लगनी लगी हो, तो फिर इस संसारव्यवहारवर्तन की बात में मन जायगा ही नहीं न ? इसलिए कृपा करके हमें तो सदा ऊँचा ही देखना, सोचना, वर्तन करना, समझना, अनुभव करने का जागृतिपूर्वक रखना है। उसमें से ही जीवन का विकास हुआ करता है। संसारव्यवहार और दुनियादारी के कलह या ऐसे झंझट के झगड़े में यदि मन पड़ गया, तो उसके दलदल में से मन का निकलना असंभव ही हो जाएगा, वह निश्चित जानना। इसलिए मन की दृष्टि, वृत्ति

और मन का झुकाव वहाँ जाते हुए उसे टोके, समेटे और सरकाये । ये तीनों प्रक्रियाएँ तो साधक के लिए अत्यधिक आवश्यक है । श्रीप्रभुकृपा से इसी अनुसार किया कर-करके मन को शिक्षा दी हुई है । मन कितनी ही बार गिर जाता, पर ऊपर की तीनों प्रक्रिया यदि ज्ञानपूर्वक किया करते हैं, तो वैसे सभी मनोभावों से उबर जाने की सौ प्रतिशत संभावना रहती है, यह निश्चित जानना ।

मन का गुरु मन को बनाये

मात्र हमने हृदय में निश्चित कर लिया होना चाहिए कि हमें किस मार्ग से प्रयाण करना है । प्रयाण करने का मार्ग यदि मनहृदय से निश्चित पक्का हो गया हो, तो तो मन जो जहाँ जाने को करे, वहाँ मन ही मन को पूछा करेगा कि 'बच्चा ! इस ओर जा रहे हो सही, पर वह मार्ग दृढ़ किये निर्धार के मार्ग पर है कि दूसरे मार्ग पर ?' ऐसा जब मन का गुरु मन बन जाता है, तब हमारी गाड़ी लीक पर चलने लगती है, यह भी अनुभव का नवनीत है । करता है उसे समझ आती है । इसलिए कृपा करके करती रहना ।

प्रभुकृपा से साधनाकाल के जीवन के बारे में मुझे लिखना है, पर अभी समय पका लगता नहीं है । अभी तो किसी को कोई बात करूँ या लिखूँ तो वैसी उसकी संपूर्ण यथार्थता गले उतरे वैसा समझने के लिए वैसे मनहृदय भी हुए लगते नहीं है । यह हकीकत अनुभव की समझ से कहता हूँ ।

संत को कब परखें

नमक में यदि खारापन नहीं तो तो फिर उसे 'नमक' किस तरह कह सकते हैं ? गुड़ में यदि मिठास ही न हो तो गुड़ कहना योग्य नहीं कहलाएगा । उसी तरह **जीव** को **जीव** कहने जैसा वहाँ तक ही रहता है कि जहाँ तक उसमें **जीव**पन के लक्षण हैं, पर वैसे लक्षण न रह सकें वैसा करने को मंथन कर करके हमें उनकी कृपामदद से चेतन के स्वरूप में प्रकटना है, यह निश्चित जानना । ऐसा कोई हो सकता है सही ? ऐसों

को कैसे जान सकते हैं ? ऐसा अनेकों को पूछते सुना है । हमारे आँख, मन, हृदय उस प्रकार के हो गये, तभी उनको पहचान सकेंगे, जान सकेंगे, बाकी तो नहीं ।

जीव जैसे रहते एक संत

एक ऐसे महानुभाव का प्रत्यक्ष अनुभव है । यह एक संपूर्ण वास्तविकता (reality) भरी हकीकत है । मेरे तेरे जैसे **जीव** को तो उनके जैसी दशा में रखा जाना और वह भी एक दो घण्टे नहीं पर सात आठ घण्टे – **जीव**पन की वृत्ति प्रकट हुए बिना रह ही नहीं सकती, पर वह तो बिलकुल निर्ममत्ववाला, निःस्पृही, संपूर्ण अनासक्त, (यद्यपि यह **जीव**दशावाले **जीव** के साथ उनकी तरह मिला होने पर भी) दशावाला अनुभव कर सका हुआ है । सामान्य **जीव** की वैसी दशा में वैसी स्थिति होना वह सौ प्रतिशत असंभव ही हो, पर वे तो उस दशा से पर रहा करते । यह तो स्वयं अनुभव की हुई हकीकत है । इसमें मीनमेख का भी अंतर नहीं है । ऐसे लोग **जीव** के साथ **जीव** जैसे होकर रहे, वर्तन करे । इसलिए उन्हें बाद में किस तरह से परख सकते हैं ? उनके जीवन की मूल भावना यदि हमारे जीवन में प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक की उतारें, और उस अनुसार बर्ताव करें तो कुछ समझ में आये सही ।

सत्संग की जरूरत

मल को भी उपयोग में ले सकते हैं और उसका उत्तम खाद बना सकते हैं, पर उसके लिए गंदगी में उतरना पड़ेगा । आज ऐसा कर्म भी यंत्र की मदद से सीधा हो सके ऐसा भी संभव है सही, परंतु मल जो जैसे का वैसा हो उसे वैसे का वैसा वहीं के वहीं रख छोड़े, तो वह खाद नहीं बन सकेगा, पर उसे वहाँ से उठाकर, उसका संग करके उसका खाद हो सके, ऐसे के साथ मिलाया जाता है, तो फिर अमुक काल के बाद मल का रूपांतर हो जाता है । इससे **जीव** को यदि **शिव** होने की जरूरत और महत्त्व हृदय में हृदय से समझ में आये तो किसके द्वारा किसके साथ कैसा मिश्रण होने से वैसा होगा, उस उसकी समझ आये और उसी अनुसार

प्रेमभक्तिज्ञानयुक्त होकर उस उस पल में मिश्रित हो वैसा वर्तन करे तो उसका वैसा भी हो सकता है ।

गुरु में मिश्रित हो जाये तो शीघ्र प्रगति

साधना का परिपाक एकदम तो उतरता नहीं है । आम के पेड़ को भी फलने में वर्षों लग जाते हैं, पर यदि फल शीघ्र आये ऐसा करना हो तो उसकी भी कला है । कलमी आम सामान्य आम से तो शीघ्र पकता है । शीघ्र पकने के लिए और स्वयं हो उससे उत्तम प्रकार के फल यदि अपने में फलित करने हों तो जिस प्रकार का उत्तम में उत्तम वृक्ष है, उसके साथ स्वयं अपने से कटकर एकरस होकर स्वयं को मिश्रित हो जाना होता है । इसलिए हमें जैसा होना है, इतना और ऐसे सर्वश्रेष्ठ समूचा संपूर्ण नमूना इस जगत के मनुष्य में मिल सकना दुर्लभ है, पर वैसे चेतन की भावना के समीप हों, ऐसी आत्मा में हमारे अपने जीवनविकास का जीवंत ज्ञानपूर्वक का हेतु रखकर संपूर्ण हमें मिश्रित हो जाना होता है, पर **जीव** ऐसे मिश्रित भी किस तरह हो सकता है ? वहीं पर **जीव** को अपना जीवत्व अड़ता होता है न ?

संगम क्यों तीर्थ है ?

संगम को अपनी संस्कृति में तीर्थ माना है । उसके पीछे चेतन के ज्ञान के अनुभव के संस्कार हैं । यह तो प्रतीक है । **जीव** और **शिव** का मेल हुए बिना, संगम हुए बिना, कुछ भी नहीं हो सकता है । **जीव जीव** होने पर भी **शिव** होने की भावना-आतुरता हृदय में प्रबल हुआ करे, इसी प्रकार की उसकी सकल प्रवृत्ति हुआ करे, तो वैसा होने में उसका उद्‌गम हुआ करे । संगम साधक के लिए आवश्यक है, पर उसके पीछे की भावना, आंतरिक भावना, उसमें —— उस उच्च प्रकार की आत्मा में —— मिश्रित होने की पूरी तरह जग गई होनी चाहिए । **एक का दूसरे के साथ मिश्रित होना और वहाँ से दोनों एक होकर बहें उसका नाम संगम ।** उसमें यद्वातद्वापन कुछ भी चल नहीं सकता है ।

स्वयं को संगम से मिला अनुभव

प्रयागराज के पवित्र संगम को गंगायमुना के प्रवाह परस्पर में अरसपरस मिश्रित हो जाने पर हृदय से बस ओतप्रोत होकर निहारा करने का हृदय में जो अनुभव हुआ था, उससे जो जीवन में सीखने को मिला था वह तो अद्‌भुत प्रसंग है। जब मन, हृदय में जीवन में कुछ पाने की भावना प्रत्यक्ष तदाकार होकर, एकरूप और एकरस हो तद्रूप होता है, तब जो प्राप्त करना होता है, उसका अनुभव प्रत्यक्ष हृदय में अपनेआप प्रकटता है। 'अनुभव' तो उसका नाम कि जो अनुभव से आधार के दूसरे करणों में भी उसका प्रवेश सूक्ष्मरूप से होता रहता है। अनुभव को तो स्थितिस्थापकता नहीं होती है, पर गति रहा करती है, यह जानना।

● ● ●

अहंता के लक्षण

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. ७-४-१९५२

अहंता न हो उसका लक्षण निराग्रहीता है। तो जो निराग्रही हो उसका क्या लक्षण ? तो वैसा *जीव* निराकांक्षी हो। जहाँ जहाँ कोई भी आशा, इच्छा, कामना आदि रहा तो जानो कि अभी हम *जीव*दशा में है और अभी अहंता है ही, ऐसा समझें। फिर, अहंता न हो, वैसे *जीव* में कहीं किसी के प्रति ममत्व, राग, मोह, मद आदि वृत्तियाँ भी न हों।

संत हृदयसंपर्क से पहचानेंगे

फिर, कोई प्रश्न करे कि 'अहंतामुक्त' **जीव** जाने कैसे और पहचाने कैसे ? यह तो उसका प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक का हृदय का हृदय में परिचय, संबंध, आत्मिक संपर्क होते ही अपनेआप पहचाने जाते हैं और अनुभव होता है। कोई भी मानवआत्मा समग्ररूप से पहचानना वह लगभग दुर्घट हकीकत है। हृदय हृदय से जितना और जैसा परिचय हो सकता है, वैसा तो किसी से भी न हो सकेगा।

हमारे अशुद्ध निर्णय

परंतु हम सभी तो सामान्य **जीव** हैं। हृदय अर्थात् क्या उसकी तो हमें कुछ भी सूझबूझ नहीं है। जो तो कुछ आ पड़ता है, उसका हल हम अपनी बुद्धि द्वारा करते होते हैं। और वह बुद्धि भी कैसी ? पसंद, नापसंद, अमुक प्रकार के बाँधे हुए मत, समझ, आग्रह आदि सब उसमें स्थूल और सूक्ष्मरूप से रहे ही होते हैं। उस बुद्धि में समता, स्वस्थता प्रकट नहीं हुई है और खूबी तो देखो कि ऐसी बुद्धि के निर्णयों को मनुष्य स्वतंत्र निर्णय गिनता होता है ! ऐसी तो उसकी परम खूबी है।

समबुद्धि के शुद्ध निर्णय

किसी भी मार्ग के प्रति कुछ भी योग्य और तटस्थ रूप का उसका हार्द पाने के लिए जानना करना हो, तो वह भी प्रेमभक्ति से रंगी हुई बुद्धि द्वारा ही हो सकता है। बुद्धि यह शक्ति स्वरूप है। मानव के आधार में दिव्य शक्ति का वह प्रथम करण है। सभी करणों में से वह अधिक से अधिक सूक्ष्म है। इसके लिए ही हार्द जानने के लिए बुद्धि में समता प्राप्त कर लेनी चाहिए। इसके बिना चल नहीं सकेगा। ऐसी समतायुक्त बुद्धि हार्द जानने के लिए योग्य योग्यता रख सकती है।

अंतर्मुखता से समबुद्धि और शुद्धि

इसके लिए ही साधक अपने जीवन की समस्याओं के हल बुद्धि के निर्णय की अपेक्षा हृदय से उसका हल मिला करे, उसके लिए साधक को अंतर्मुखता अधिक से अधिक विकसित करनी रहती है। हम सभी तो **जीव** स्वरूप में हैं और उस अनुसार ही वर्तन करते रहते हैं । हमारी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, प्राण आदि करण भी बहिर्मुखी हैं। ये सभी हमारे अंतर में उतरकर वहाँ एकाग्र और केन्द्रित होकर वहीं किसी के बारे में सोचना भाग्य से ही करते होते हैं। **अंतर्मुखता यानी इन्द्रियाँ, दूसरे सभी करणों सहित उन-उनकी बहिर्मुखता के विषय से मुक्त होकर जब अंतर में विचार करने का किया करे, वहाँ वह टिका करे, तब वह अंतर्मुखता कहलायेगी ।** ऐसी अंतर्मुखता जैसे जैसे

विकसित होकर जीवित हुआ करती है, वैसे वैसे बुद्धि में समता आदि प्रकट हुआ करती है । **ऐसी अंतर्मुखता विकसित होकर जीवित बने तो ही मन, प्राण और बुद्धि की शुद्धि सभी प्रकार से हुआ करे । उसके बिना वैसा होना कभी संभव नहीं है । साधना में सर्व प्रकार की शुद्धि की अनिवार्य आवश्यकता होती है, परंतु उसके प्रति कोई भी लक्ष नहीं देता है । श्रीभगवान के चेतन के प्रति प्रेमलक्षणाभक्ति प्रकट हो तो उसके वैसे प्रकट हुए भाव से भी करणों की शुद्धि अपनेआप हुआ करती है ।** हम सभी चल निकले हैं, चेतन का अनुभव करने पर उसकी योग्यता कैसी हो, उस विषयक काम तो हमें दत्तचित्त होकर पूरा-पूरा करना नहीं है, तो वह कैसे होगा ?

प्रार्थना का ब्रह्मास्त्र

उपरोक्त कही वैसी **जीव** की बहिर्मुखता टालने के लिए हम यदि प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक नामस्मरण की भावना में सतत रहने का अभ्यास किया करें और इन्द्रियाँ व करणों के हलनचलन गति के साक्षी होकर निहारा करें और उनके उलटेसीधे झुकाव के प्रति जागृत रहकर, उस उस समय वह वह सभी श्रीप्रभु के चरणकमलों में समर्पण किया करने का अभ्यास विकसित करें और ऐसे ऐसे समय में वैसी वैसी इन्द्रियाँ और करणों को यथार्थ रख सकने के कारण से हृदय में हृदय से प्रार्थना किया करें तभी साधक का काम हुआ करेगा । **साधक के लिए प्रार्थना एक बड़े से बड़ा साधन हैं । प्रार्थना से अखूट बल और अटूट शक्ति मिला करती है, ऐसा अनेकों का अनुभव है ।** ऐसे ही किसी का कुछ नहीं हो सकता है । इसलिए प्रार्थना करती रहना ।

कर्म की आवश्यकता

हम तो जो तो कुछ किया करें वह प्रभुप्रीत्यर्थ हो, ऐसी जीतीजागती भावना हृदय से हृदय में प्रकट करते हुए कर्म के आदि, मध्य और अंत में जीना है । हमारे मन कर्म की महत्ता नहीं है । श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ की भावना को दृढ़ बनाने के लिए कर्म तो वैसी भूमिका विकसित करने के लिए

यज्ञ है । कर्म तो भावना को गढ़ाने आकार देने के लिए अमूल्य अवसर है । कर्म में हमारे मन, बुद्धि, प्राण और अहम् किस किस प्रकार के रहते हैं और कैसा-कैसा व्यवहार करते हैं, उसका ज्ञानपूर्वक का अभ्यास साधक को यदि रहा करे, तो वह अपने आपको यथार्थ रूप में समझ सकता है । उसे कहाँ कैसे मोड़े वह भी वह जान सकता है ।

बातें नहीं, कार्य करो

जैसे व्यापार बड़ा करना हो तो पहले तो उतनी पूँजी, फिर वैसी जानकारी, काल, स्थान और अन्य उस प्रकार की योग्य समझ इत्यादि उस प्रकार की सरलता पकी हो, तो वैसा हो सकता है, उसके बिना तो नहीं ही । तुम या मैं बाजार में व्यापार करने जायें तो ? घोटाला ही करेंगे या अन्य ? आज अनेक **जीव** 'साधना' और दूसरी बातें करते हैं, पर उसकी यथार्थता पर - उसे अनुभव करने के लिए उसके पहले साधक के मन, बुद्धि, चित्त, प्राण आदि कैसे विकसित होने चाहिए, उस पर तो किसी का पर्याप्त लक्ष भी नहीं जाता है । सभी सातवें आसमान की बात करते हैं । सभी **जीव** ईश्वर विषयक और कितने ही निराकार-साकार, सगुण-निर्गुण आदि के बारे में प्रश्नों की झड़ी लगाते हैं, परंतु वैसे **जीव** को वैसी वैसी कक्षा होने के लिए किस तरह विकसित होना पड़ता है, उस विषय में तो बहुतसारे में बिलकुल शून्य होते हैं । इसलिए हम तो बात करने से अच्छा जितना थोड़ा भी काम किया करेंगे उसमें सार है ।

समर्पण की भूमिका रचो

जिस **जीव** को ज्ञान का अनुभव करना है, उसके जीवन की आंतरिक भूमिका तो जो तो सभी मिले हों, उन उनके लिए श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ त्याग, बलिदान और समर्पण की भावना रहा करनी चाहिए । जो **जीव** अपने जो मिले हैं, उसके लिए यदि प्रेमपूर्वक समर्पण नहीं करता, वह चेतन के लिए क्या कर सकता है ? जहाँ स्वयं खड़े हैं, वहाँ भी यदि उस प्रकार की समर्पण की भावना हमारे में जीतीजागती नहीं टिक सकती तो चेतन के लिए कैसे हो सकेगी ? इसलिए हमें तो हृदय की उमंग से

प्रेमभावपूर्वक हमारी वैसी आंतरिक भूमिका की रचना हो सके उसके लिए उन उनके लिए त्याग, बलिदान और समर्पण किया करने हैं और वह भी श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ की ज्ञानपूर्वक की प्राणवान हृदय की भावना से ही । इस प्रकार, यदि हम जो तो सभी के लिए त्याग, बलिदान और समर्पण ही किया करना हो, तो फिर किसी के बारे में कहीं कोई शिकायत करने जैसा कहाँ रह सकता है ? इतना सारा और ऐसा सब किसी **जीव** से कहीं एकदम से नहीं हो सकता है । यह तो प्रभुकृपा से जैसा सूझा है, और जैसे दृष्टि, वृत्ति विकसित हुई है, उस तरह से तुम्हें समझ देने का प्रयत्न किया है कि जिससे वस्तु की यथार्थता समझ सके ।

अनुभव से बुद्धि स्थिर होगी

मन, बुद्धि, प्राण और अहम् यदि प्रेमभक्तिज्ञान की भूमिका की ऐसी सरलतावाले और सभी प्रकार से खुलकर रहा करेंगे, तो जितने भी हैं सभी यथार्थ रूप से ग्रहण कर सकते हैं, अन्यथा तो नहीं ही । बुद्धि में शंका-कुशंका हुआ करने के लिए भी उस प्रकार की वृत्ति होती है, और वह भी सत्य का अनुभव करने के लिए है । एक बार ऐसा होते उसके द्वारा वस्तु की सच्ची यथार्थता और महत्ता, रहस्य आदि समझ में आ जाय तो फिर बुद्धि की शंका-कुशंका की वृत्ति फीकी होती जाती है । एक हुए अनुभव द्वारा, वह वैसे हुए अनुभव की तरह जो तो सभी आकलन करता रहता है । जो अनुभव हुआ हो, वह ऐसा निश्चयात्मक हो कि जिसके विषय में बुद्धि में भी दो मत नहीं हो सकते हैं, हमें सौ प्रतिशत हृदय में हृदय से वह लगा ही हो, तो उस प्रकार का हुआ अनुभव बुद्धि, मन, प्राण, अहम् को आदि को मठारने में प्रेरणात्मक रूप से मददकर्ता हो सकता है ।

अपना निरपेक्ष प्रेम

जगत में हमें कोई अन्याय करे, उलटा समझे, उलटा माने, तब भी हमें तो वैसों के प्रति भी प्रेमभाव और सद्वर्तन ही रखना होगा, ऐसा रह सके तभी जानें कि हम सही मार्ग पर जा रहे हैं ।

इस *जीव* को अनेकों ने अन्याय किया है । अनेक *जीवों* ने उलटा समझना किया है । उलटा मान लिया है । अनेकों ने पार बिना की अवगणना की है । कितनों ने तो तुच्छकार्य भी किया है । कितनों ने यह *जीव* अभिमानी है, ऐसा भी कहा है । कितने ही स्वजनों ने इस *जीव* का वर्तन देखकर कुछ कुछ माना और कहा किया है । ऐसा सब होने पर भी उनके प्रति प्रेमभाव में या हृदय के सद्‌भाव में प्रभुकृपा से कमी नहीं आने दी है । ऐसा भारी काम **इस जीव** का तो नहीं है, पर यह सारा प्रताप श्रीप्रभु की परम कृपा का है । कितनों ने मजाक भी उड़ायी है, वह भी निश्चित है । तथापि उनके साथ का **इस जीव** के बरताव में अंतर नहीं आया है । यह भी प्रभु की कृपा से ही बन सके । इसलिए तुम्हें जो कहता हूँ और तुम्हें वैसा वर्तन करने के लिए जो समझाया करता हूँ वह **इस जीव** से प्रभुकृपा से जैसा हुआ है, वैसा ही तुम्हें कहा है । हमारा तो कोई अहितकर्ता नहीं है । हमारे तो सभी मित्र हैं । सब कुछ हमारा तो भगवान स्वयं है । इसलिए सदा निश्चिंतता, चैन अनुभव करना ।

जगत के न्याय-अन्याय के भेदों में मन को जाने से रोकें । हमें तो जहाँ तहाँ काम ही करना है न ? और काम मिला करे वह तो उत्तम ही है, ऐसा निश्चत मानें । मेरे पत्र उतारने या पढ़ने जितना भी समय बाकी न रहता हो तब भी धीरज धारण करना । उतना समय तो अवश्य मिल ही जायेगा । इसलिए अकुला न जाना । शांति जिसमें तिसमें अनुभव करके मन, बुद्धि की अक्कड़ता तो तोड़ा ही करें ।

सत्संग में मनादि करणों में स्फूर्ति एक प्रकार की रहा करती है । **हमें घर का कामकाज छोड़कर ऐसा सत्संग कहीं करने जाना है ? इसलिए ऐसा जो पत्रव्यवहार है, वह एक प्रकार का सत्संग ही है । वह हमें चेताने, समझाने, प्रेरित करने के लिए अति आवश्यक भी है ।**

खुलने का अर्थ

जिसे जीवन का निर्माता गिना है, उसके आगे मन की बिलकुल खुली सरलता अति आवश्यक है । उससे जितना छिपा रहेगा उतना

एकात्मकता में भंग होगा। ऐसी सरलता में कहीं खचक या संकोच नहीं होता है। मात्र निवेदन जितनी वहाँ सरलता हो उतना पर्याप्त नहीं है, पर जो जो निर्बलता **जीव** को हो वह वह अत्यधिक सालती है, दंश देती है, तभी उसमें से खुला होने का उपाय वह **जीव** ले सकता है, बाकी तो नहीं। ऐसी दशा देखने पर ही जो तो कुछ कहने, कथने, बताने का, अपनेआप हुलास से सूझा करता है।

फिर, साधक में वैराग्य भी प्रकट होना चाहिए। यहाँ वैराग्य अर्थात् क्या यह भी जानना आवश्यक है। **वैराग्य अर्थात् (अलबत्ता, प्रभुकृपा से इस *जीव* को जो समझ में आया है उस तरह) जिस मार्ग पर जाना है, उस ओर जाने के लिए जो जो अवरोध हो या लगता हो, और जो न लगता हो तथापि सूक्ष्मरूप से वास्तविक रूप से तो वैसा ही होता है, उन-उन सभी की तरफ मन-दिल का रुख थोड़ा भी न उगे या हो, कहीं भी उसके प्रति थोड़ा भी राग न रहे, तो ऐसे आंतरिक रुख को वैराग्य कह सकते हैं।**

इस वैराग्य की भावना के साथ-साथ जीवनविकास के मार्ग के प्रति आगेकूच किया करने की उत्कट आतुरता और वह भी सचमुच दानतवाली होनी चाहिए। ये तीन जिसमें हैं, ऐसे **जीव** भी इस काल में दुर्लभ हैं, ऐसा हो तो उस प्रकार के **जीव** से मथना हुआ करे, यह तो फिर अधिक दुर्लभ लगता है। इसलिए हमें कृपा करके ऊपर की तीन हकीकतों का ध्यान रख रखके, उस भाव से और उस तरह से जागते रहा करना है, यह जान लेना।

प्रेमभक्ति

ता. ७-४-१९५२, प्रेमभक्ति के बिना ज्ञान तो प्रकट हो ही नहीं सकता है। प्रेमभक्ति जगने पर मनादिकरण अपनी **जीव**दशा के स्वरूप को त्यागना अवश्य कर सकते हैं। जो जो **जीव** प्रभुकृपा से जीवनविकास के लिए मिले, पर वे जाग गये नहीं हैं या जाग नहीं जाते, वे **इस जीव** में लगे रह सके उसके लिए उन उनमें उन-उन की तरह प्रभुकृपा से

प्रवेशकर हमें तो खाली वहाँ पड़े रहना पड़ता है, वह हमें कैसे लगता होगा, उसकी दया कौन जाने ?

यदि तुम ता. ३-४ के पत्र में लिखती हो, वैसे *इस जीव* को प्रेमभक्तिज्ञानभाव से मन-हृदय में रख रखके काम किया करे तो चार क्या, छः आठ व्यक्ति का काम तुम अकेली कर सकती हो । थकान का तो नामोनिशान नहीं मिलेगा । हृदय में ऐसी प्रेमभक्ति की एकराग से प्रकट हुई उत्कट आतुरता तदाकाररूप रहनी चाहिए । उसे इसलिए भावना को वापिस हमें कर्म में उतारनी रहती है ।

मर जाओ

'तुम्हें **जीव**दशा से मर जाते देखने को हृदय से आतुर होता है' उसके बदले 'होता हूँ' ऐसा लिखना चाहिए था । इसका अर्थ तो ऐसा था कि 'तुम में **जीव**पन किसी प्रकार का रहे नहीं, ऐसा तुम्हें देखने को आतुर होता हूँ । **जीव**दशा टल जाय' ऐसा भी लिख सकते हैं । ***जीव*दशा से मर जाना अर्थात् ज्ञानदशा में प्रकट होना, चेतन के अनुभव में पलपल जागृत होकर जीना वह ।**

आंतरिक ऊष्मा का उपयोग करो

मेरे पत्र समय पर तुम्हें न मिल सकें और उससे तुम्हें जो भावना हुई उसे यदि प्रेमभक्तिभाव से हृदय में उतारकर पूरा उपयोग कर लिया होता तो कितना अच्छा और कितना उत्तम होता ! **भाव या ऐसा उद्भव हो, तब एक प्रकार का जोश और वेग पैदा हुआ करते हैं । यह भी एक प्रकार की शक्ति है । वैसी शक्ति का उपयोग हमारे आंतरिक कर्म में कर लेने की कला साधक को सीख लेनी होती है ।**

ज्ञानात्मक भावना से कर्म करो

बिस्तर में कोई पैर रखे, उसकी बहुत चिढ़ हो, यह स्वच्छता के नियम तक उत्तम है, पर साधक को तो कहीं किसी के प्रति पसंद या नापसंद इन दोनों के पार जाना है । इससे यदि ऐसा प्रसंग प्राप्त

हो जाये, कि हमारे बिस्तर पर बालक आनाजाना करते हों, उस समय हम में रहती उस चिढ़ को निकालने के लिए ही यह प्रसंग जीवन में आया है, ऐसी ज्ञानपूर्वक की भावना-धारणा जिसे उग जाती है, ऐसे साधक-जीव उस उस मिलते प्रसंग का लाभ उस उस तरह से ले सकते हैं, बाकी के नहीं । ऐसे तो सफाई कामदार रोज मैल के साथ काम करता रहता है । इससे क्या उसके मन का उस साधन से कुछ विकास होता रहता है सही ? साधन करने के पीछे की ज्ञानात्मक तमन्ना और विकास की भावना जीतीजागती होनी चाहिए, तभी साधना भावनापूर्वक के अभ्यास से होती क्रियाप्रक्रिया से प्राणचेतना प्रकट हो सकती है ।

अपना एक प्रसंग

मुझे भी मेरे श्रीगुरुमहाराज ने मेहतर का मल उठाने काम करने को कहा था । उस समय वह काम नडियाद में तो कोई करने नहीं दे और वहाँ के नगरपालिकावाले **यह जीव** की प्रतिष्ठा जानने के कारण ऐसा काम सौंपेंगे भी नहीं । इससे नवसारी में श्री परीक्षितभाई जो उस समय भी हमारे हरिजन संघ के मंत्री थे, उन्हें मैंने नगरपालिका में मेहतर का काम मिले वैसा आयोजन करने के लिए लिखा था, और उन्होंने वैसा आयोजन भी किया सही, परंतु जब श्रीगुरुमहाराज के पास उनकी आज्ञा और आशीर्वाद लेने गया, तब उन्होंने मना किया और कहा कि, 'अब तुम्हें जाने की आवश्यकता नहीं है। तुम्हारी संपूर्ण सच्ची तैयारी थी, इतना पर्याप्त है ।' सच में ही शुरू शुरू में जिन जिन **जीवों** ने मौनएकांत लिया उनका मल और पेशाब आदि **इस जीव** ने ही साफ किया और अब भी वह करने की उम्मीद सही । अब तो स्वजन, मित्रों आदि ने वैसा काम ले लिया है और मुझे वैसा करने भी न दे ।

तत्काल ज्ञान होना चाहिए

यह सब लिखने के पीछे की समझ और भावना यह है कि जो जो प्रसंग मिलते हैं, वह-वह हमें कुछ सिखने के लिए मिलते हैं, परंतु

हम से उसका उस तरह से पर्याप्त ज्ञानपूर्वक का लाभ उठाया ही नहीं जाता। ऐसी तो हमारी बुद्धि और मन की बलिहारी है। जिस जिस काल जो प्रसंग आये, वह हमें क्या सिखाने के लिए आये हैं, इसका सहज ज्ञान अंतर में तत्काल जिस **जीव** को उस पल हो जाता हो तो जानें, मानें और समझें कि वैसे **जीव** की भूमिका साधना के लिए दृढ़ हुई है। उनको सीखने में देर नहीं लगती है।

सद्‌गुरु को प्रसन्न करो

व्यवहार में भी जिस की मदद, सलाह हमें चाहिए, ऐसी गरज जाग गई होती है, तो वह सत्कार करने का मन हमारा होता है, उसे प्यारे लगे ऐसा होने की इच्छा होती है। संसारव्यवहार में जो अत्यधिक आवश्यक और उपयोगी होता है, उसका विरोध तो तभी करते नहीं है। उसे हमारे प्रति अरुचि हो, ऐसा तो कभी बर्ताव नहीं करते। उसी तरह सद्‌गुरु के पास से हमें जो कुछ लेना हो, तो उनकी भावना को सत्कार सके ऐसी भूमिका हम में प्रकट होनी चाहिए। उसके विषय की भावना अर्थात् क्या यह जानना चाहिए। जीवनविकास के लिए उन्होंने जो जो साधन बतलाये हो, उन्हें करने में हमारे हृदय की उसके हृदय के साथ की प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक की एकतारता हमें प्रकट करनी होगी। जिसमें और उसमें उसे हमें जीवित करना रहता है, यह जानना।

जहाँ जहाँ ध्येय का सचमुच पर्याप्त प्रेमभाव जन्मा हुआ होता है, वहाँ वहाँ ज्यादा कुछ गड़बड़ खड़ी नहीं होती है। अपनेआप उसमें मानने का हुआ करता है। उसके कहे में बाद में कुछ ज्यादा यहाँ या वहाँ के विचार भी उद्‌भव नहीं होते हैं। हृदय का ऐसा प्रेमभाव जिसके बारे में प्रकट होता है, उसके प्रति हमारा हृदय बहुत ही सरल और निपट खुला रहा करता है, वैसा भी अनुभव है। उनके आगे जो किसी को भी न कही हो ऐसी हकीकत कह जाते होते हैं।

गुरुकृपामदद कब मिले

उस तरह साधक और उसके जीवननिर्माता के बीच (उपरोक्त वर्णित से तो कही अधिक उच्चतम कक्षा का) का संबंध प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक

के जीवनविकास के हेतु की समझ के लिए विकसित हुआ हो, तभी वैसा संबंध साधना में मदद करनेवाला हो सकता है, ऐसा **इस जीव** का अनुभव है। श्रीप्रभुकृपा से जीवन में उत्कट आतुरता तो जीवन के लिए अत्यधिक थी, तथापि प्रकृति के हमले भी ऐसे जबरदस्त आये कि जिसका वर्णन भी क्या करूँ ? पर उस समय श्रीगुरुमहाराज की कृपा और आशीर्वाद से जागृत रह सका था। कहीं पर नीचे बह जाने का भी होता, पर 'यह बहा जा रहा हूँ, सकल प्रयत्न करने पर भी सफल नहीं हो पा रहा, और यह मैं तो डूब रहा हूँ। हे करुणासागर ! प्रभु ! उबारो। अब तो हार गया। कुछ काम में नहीं आ रहा है।' सभी उपाय जो जानता वह कर करके बचने के लिए प्रभुकृपा से तनतोड़ प्रयत्न करता था। उसमें कहीं भी कमी नहीं आने दी थी। अंत में *'निर्बल के बल राम'* होने पर उसे हृदय में से डूबे-डूबते भी रोते-रोते आर्तनाद और आर्द्रभाव से प्रार्थना कर-करके पुकारता और वहाँ मदद प्रत्यक्ष होती है।

अहम् का सदुपयोग कब होगा ?

जीव को स्वयं अपने से पूरापूरा होता सकल कर चुकने के लिए प्रयत्न चाहिए, और वैसा करने पर भी वह अपने सद्गुरु की चेतनस्मरणभावना तो हृदय में रखा करेगा, जो किया करना है, वह भी अहंता की वृत्ति से तो नहीं और उस समय उसमें उसका अहम् रहता भी नहीं होता। जैसे कि आग लगी हो, उसमें हम फँस गये होते हैं तो उसमें से निकल जाने के लिए जो मरजिया प्रयत्न होता है, उसमें तो अहम् का शक्ति के रूप में उपयोग हो जाता है सही, उसमें अभिमान प्रकट होता नहीं है। उसमें उस समय ऐसे मनुष्य का जो **अहम्** है, वह स्वयं प्रचंड शक्तिस्वरूप में प्रकट होता है और कल्पना भी नहीं कर सकते ऐसी हिंमत और साहस उसे प्रेरित करता है। सामान्य संयोग में मनुष्य ऐसा कभी नहीं कर सके वैसा उस समय में मनुष्य अजब और गजब रूप से बर्ताव कर सकता है। वहाँ उसका **अहम्** उपयोग में व्याप्त होता है। उस तरह साधना में भी उसका उपयोग कर सकते हैं। जब कि साधन करने में – जैसे मानव आग में फँसने पर उसमें से निकलने के लिए वह कैसे

भयानक प्रचंड जहमत उठाता है, ऐसे मरजिया निर्धार की आतुरता जिसे साधन में लगती है, वैसे **जीव** को तो वैसा **अहम्** उपयोग के रूप में साहस, हिंमत, शक्तिवर्धक हो सकता है। ऊपर जो 'निर्बल' शब्द लिखा है, उसके पीछे की भावना तो जो **जीव** अहंकार से हलका है, जिसे कहीं किसी से चोट् नहीं लगती, ऐसा जिसे अनुभव हो रहा है, और आखिर में जब अपना कुछ भी नहीं चलता है, अब कोई भी उपाय बचने का रहा हुआ दिखता नहीं, अंतिम तक सभी प्रकार की मेहनत कर चुका है और वह करता होता है, और बचना तो है ही, ऐसी जिसके हृदय में उत्कट रूप से निश्चयात्मक आतुरता प्रकट हुई है, वैसा **जीव** उस समय श्रीप्रभु के चरणकमल में अपने हृदय की गुहार लगाता है, उसे उस समय मदद मिलती हुई भी अनुभव होती है।

सच्चे निर्बल बनो

इसलिए हमें तो ऐसे निर्बल बनना है। वैसे निर्बल बनने से पहले तो उस **जीव** को अपने से हो सके उतना सकल कर चुका होना चाहिए। जो **जीव** बहता जाता हो, डूबता जाता हो पर वैसे किसी का ज्ञानभान होता नहीं है, वैसा **जीव** कहीं कुछ भी साधन करता नहीं होता है, ऐसा मानें और समझें।

कैसा *जीव* साधक नहीं है

जो **जीव** कुछ करता है, वैसे **जीव** को उसके करने जैसे के माप से कुछ तो सूझबूझ आती होती है। इसलिए यदि हमारे हृदय की सच्ची और संपूर्ण दानत से साधन करते हों, तो हमें इससे उस प्रकार की जागृति और समझ आनी चाहिए, परंतु अनेक बार बहना, घिसटना, डूबना हो, उस उस समय वैसा वैसा यदि पता ही न पड़ता हो तो फिर साधक को ऊपर आने जैसा रहेगा ही क्यों ? यदि पता चले और वैसी मेहनत न होती हो तो उसके वैसा होने से उसे दंशता या सालता नहीं है ऐसा गिना जाएगा। यदि वैसे बहते जाने में, डूबते जाने में या घिसटते जाने में जिसे

समूचा दंशता नहीं या सालता नहीं उसे जीवन की कुछ भी पड़ी नहीं है ऐसा निश्चित होता है ।

अपना अनुभव

इसलिए यदि जागते रह सके तभी वैसा **जीव** साधन करता है ऐसा समझ आता है । यदि **जीव** जागा हुआ रहे तो वैसे **जीव** को उसकी उलटी-सीधी दशा होने पर उसमें से वापिस फिरने का ज्ञानभाव जाग जाने पर उसे देर नहीं लगती है । जिसे वैसा ज्ञानभान जागता है, वैसा **जीव** वैसे दलदल में से वापिस जा सकता है । मानों कि वापिस न जा सकता तो उस समय वैसा **जीव** श्रीप्रभु को जिस भाव से पुकारता है, उस भाव की आंतरिक गूँज से उसके हृदय में ऐसा तो कोई प्रचंड भाव जागता है कि जिससे वह ऊपर आ सकता है । ऐसा होने पर वह धन्य धन्य होकर कृतकृत्य होकर श्रीप्रभु का प्रेमभक्तिभाव से हृदय में हृदय से अति आभार भी मानता है । श्रीप्रभुकृपा से ऐसा मेरा तो अनुभव है । यदि वह तुम्हें उपयोग में आये तो उपयोग करना ।

• • •

साधक और संसारी का प्रेमभाव

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. ९-४-१९५२

संसारव्यवहार में भी जहाँ दो दिलों में परस्पर का उत्कट प्रेमभाव एकरागवाला जमा होता है, वहाँ उनके मन एक-दूसरे के बारे में भाव से ओतप्रोत हुआ करते हैं । एक-दूसरे के बारे में स्निग्धता, सरलता, सहजता, प्रसन्नता आदि प्रकट हुआ करते हैं । एक-दूसरे के व्यवहारवर्तन में हमारा मन इधर-उधर नहीं होता है । मन जिसमें और उसमें हृदय के प्रेमभाव से उसे अपने आपमें ही समाया हुआ अनुभव करने जानता होता है । मन उससे अलग नहीं हो सकता है । जहाँ ऐसा प्रेमभाव है, वहाँ जिसने जैसा किया वैसा भले हुआ । उसमें इस तरह मन समाधान की सरलवृत्ति रखता हो जाता है । इसलिए मन को वहाँ किसी मिथ्या दौड़-धूप, डगमगाहट, भूलचूक, शंकाकुशंका, तर्कवितर्क ऐसा ऐसा पैदा नहीं

होता। परसपर एक होकर, एक बनकर, एक रहकर ही जीने में वे दोनों परम आनंद का अनुभव करते हैं। हृदय के ऐसे प्रेमभाव में उदारता, विशालता, परस्पर की सहिष्णुता, सहानुभूति आदि गुण प्रकट होते रहते हैं। परस्पर के ऐसे प्रेमभाववाले दो **जीव** दूसरे **जीवों** के साथ का व्यवहारवर्तन में उनके परस्पर के व्यवहारवर्तन को जैसे न भी हो, कभी नहीं भी होते, परंतु साधक के हृदय के प्रेमभाव का वैसा होना रास आये ऐसा होता नहीं है। साधक के हृदय का प्रेमभाव तो समग्रता को अपने बाहों में लेता होता है। उसके प्रेमभाव में और सद्भाव में उसे कुछ अलग-अलग नहीं होता है। सभी में वह अपने आपको अनुभव करने को चाहता है और अपने में सभी को अनुभव करने को चाहता है। ऐसे हृदय का प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक का ओतप्रोत सद्भाव साधक अपने सद्गुरु के साथ विकसित करता जाता है, तब संसार के **जीवों** के साथ के वर्तनव्यवहार में साधक के मनादिकरण के कोने भी घिसकर सीधे गोल हो जाने की क्रिया भी अपनेआप उसमें चल रही होती है।

गुरुप्रेम से सर्व के लिए प्रेम

जैसे मुसाफिरी में जाना होता है, तो उस समय क्या क्या चाहिए, उसका ख्याल जागकर उस उसकी तैयारी करके, वह सब इकट्ठा करके सब साथ ले लेने में आता है, उस तरह एक के लायक बनने के लिए जो प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक का प्राणवान हृदय का सकल प्रयत्न हुआ करता होता है, उसमें भी ऊपर की तरह ही हुआ करता है। सद्गुरु की भावना के लायक होना और उसकी पसंदगी में आना यानी जीवन के विकास की समग्रता में भी प्रकट होते रहना। जगतव्यवहार में भी जिसकी पसंदगी मन करता है, उसे वह स्वीकार करता होता है। पसंदगी हुए बिना कोई कोई का स्वीकार नहीं कर सकता है। पसंदगी की भावना में अपनी उस पर की प्रसन्नता प्रकट हुई है, वैसा भी भाव रहा हुआ है।

मन साधना से दूर क्यों भागता है ?

जब संसारव्यवहारवर्तनवाला एक तरफ का जीवन और दूसरी तरफ जीवनविकास की भावना विकसित करने के लिए जीवन – इन दोनों के

बीच की पसंदगी, ऐसी प्रसन्नतापूर्वक पसंदगी, **जीव** का मन जब जीवनविकास के प्रति होता है, उस समय उस तरफ का उसका जोर, महत्त्व आदि हट जाने पर वह अनुभव कर सकता है। जिसमें मन लगता है, उस ओर वह सोचता होता है । इसे वह छुट्टा नहीं रख सकता है। इसलिए जीवन की किस दिशा की पसंदगी हमने की है, उसकी ही अभी कुछ पूरी हमें सूझबुझ नहीं पड़ी है ऐसा लगता है। जिसको जिसकी बहुत पड़ी होती है, उसमें भी मन लगा रहता है । इसलिए हमें यदि जीवनविकास की भावनावाले जीवन की पड़ी हो, तो फिर मन को उसमें से ज्यादा भागने जैसा होता नहीं है ।

मन भागे तब क्या करें ?

वैसा मानों कि हो सके तो मन में उठते अनेक विचार, वृत्तियाँ, लहर, विकास की भावना को जो पोषक नहीं हैं, उसे हम साक्षीभाव से देखा करें और उसे ज्यादा गरज न दिखानी और उन्हें वैसे के वैसे ही बह जाने देना है, और इस प्रकार के जागृत ज्ञानपूर्वक के प्रयत्न की धारणा हृदय में रखा करनी है । उस समय ऐसे प्रयत्न हुए बिना मन में उठते विचारों में हम पिरो ही जाएँगे वह भी निश्चित है। हमें जो जो विचार, वृत्तियाँ, लहरियाँ, तरंगें, कल्पनाएँ, कामनाएँ पसंद या नापसंद आदि जो जो सब उठे, उस उस समय उसके साथ मानो कोई निसबत ही न हो, वैसा वर्तन करना है। उस-उससे अलगता करने का प्रयत्न किया करना रहता है। उस उसके साथ उनको उनको अनुसरण करते आनुषांगिक दूसरे विचारों की श्रृंखला हम स्वयं होकर कभी न जोड़ा करें। हम स्वयं हमारी अपनी साधना के भाव में ही एकाग्र और केन्द्रितभाव से हृदय में मस्त रहने के लिए ही बस जीया करना है । मन, प्राण, बुद्धि को हमें उस तरह से विकसित किया करना है । उसमें जहाँ जहाँ सफल न हों, वहाँ वहाँ श्रीप्रभु की कृपामदद हृदय की प्रार्थना द्वारा प्राप्त करनी रहती है । सचमुच तो हमारे हृदय के वैसे भाव में ही वे स्वयं बिराजित हैं ।

● ● ●

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. १०-४-१९५२

नीचे के वचनामृत श्रीमद् राजचंद्रजी के हैं —

'किसी को भी अंतःकरण देना नहीं, दो उससे भिन्नता रखना नहीं । भिन्नता रखो तो वहाँ अंतःकरण दिया वह न दिये के समान है ।'

'एक भोग भोगता है, तब भी कर्म की वृद्धि नहीं करता और एक भोग नहीं भोगता, तब भी कर्म की वृद्धि करता है । यह आश्चर्यकारक किन्तु समझने योग्य कथन है ।'

'योगानुयोग से हुआ कार्य अति सिद्धि देता है ।'

'हम जिससे परोक्ष हुए उसे सर्वस्व अर्पण करते हुए रुकना नहीं ।'

'महापुरुष का आचरण देखने से अच्छा उसका अंतःकरण देखना यह अधिक परीक्षा है ।'

'राग नहीं करना । करना तो सत्पुरुष पर करना । द्वेष करना नहीं । करे तो अपनी कुशीलता पर करें ।'

'बहुत ऊबकर संसार में रहना नहीं ।'

तुम्हारे पत्र अभी कोई फाईल करता नहीं है । मैं तो ऐसे के ऐसे ही रहने देता हूँ । भाई बाहर निकलकर जो तो करेंगे । हृदय में हमें तो निर्भय होकर जहाँ तहाँ जिसमें और उसमें बरतना करना रहता है । जगत में, संसार में, अच्छापन, खराबपन - जो तो मन के ऊपर अवलंबन रहता है । हमें तो श्रीप्रभुकृपा से सदा प्रसन्नता में ही रहना चाहिए ।

● ● ●

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. १२-४-१९५२

श्रीमद् राजचंद्रजी के वचनामृत —

'खेद न करते शूरवीरता ग्रहण करके ज्ञानी के मार्ग पर चलते हुए जो तो कुछ सुलभ ही है ।'

'संसारव्यवहार के वर्तन में और मन में, मानसिक सृष्टि में, विचार, वृत्तियाँ आदि विकार कर जाय, उस समय विचारवान को अपना निवीर्यपन

देखकर बहुत ही खेद होता है, और आत्मा को बार-बार निंदा करता है। घूम-घूमकर अपने पर तिरस्कार की वृत्ति से देख-देखकर, पुनः महत् पुरुष के चरित्र और वाक्य का अवलंबन करके उसे वह हटाता है, वहाँ तक वह नीचे (शांत) मन से बैठता नहीं है। वैसे अकेला मात्र खेद करके अटक नहीं जाता। उसी वृत्ति का अवलंबन आत्मार्थी **जीवों** ने लिया है और इसीसे अंत में विजय पाया है। यह बात सभी मुमुक्षु मुख से हृदय में स्थिर करने योग्य है।'

'केवल अंतर्मुख होने का सत्पुरुष का मार्ग सभी दुःखक्षय का उपाय है, पर वह किसी जीव को समझ में आता है, पर महत् पुण्य के योग से, विशुद्ध मति से, यह उपाय समझने योग्य है। यह समझने का अवसर एकमात्र यह मनुष्यदेह है। वह भी अनियमित काल के भय से गृहित है। (तथापि) वहाँ प्रमाद होता है, यह खेद और आश्चर्य है।'

'ज्ञानी पुरुष ने कहना बाकी नहीं रखा है, पर **जीव** ने करना बाकी रखा है। ऐसा योगानुयोग कोई भी एक ही बेला में उदय होता है। वैसी इच्छारहित महात्मा की भक्ति तो केवल कल्याणकारक होती है, पर किसी समय वैसी इच्छा महात्मा के प्रति हुई और वैसी प्रवृत्ति हो गई, तब भी वही इच्छा यदि असत् पुरुष में की हो, और जो फल होता है, उससे उसका फल अलग होना संभव है। सत्पुरुष के प्रति उस समय यदि निःशंकपन रहा हो तो समय जाने पर उनके पास से सन्मार्ग की प्राप्ति हो सकती है।

● ● ●

विपत्ति में प्रार्थना

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. ११-४-१९५२

विपरीत परिस्थिति हो, सिर पर चारों ओर से दुःख और दावानल प्रकट हो, उस समय हमें प्रभु से प्रार्थना करनी है। ऐसी स्थिति जो स्वजनों की होती है, उस समय उन-उनका स्मरण होते ही मैं तो भगवान की प्रार्थना करने में समझता हूँ।

दुःखादि कृपामौके हैं

धीरज, शांति, प्रसन्नता, हिंमत, साहस, आदि गुण विकसित करने के लिए वैसे कृपाअवसर हमें प्राप्त होते हैं । सभी मिले हुए **जीवों** के प्रति सद्‌भाव लाने के लिए यह अमूल्य अवसर मिला है, ऐसी भावना और समझ ले सकते हैं, यह पढ़कर हृदय नाच उठता है। जीवन के खमीर को परखने की परीक्षा करके नब्ज पहचान लेने का ऐसा मौका जो **जीव** हृदय के प्रेम–उमंग से सत्कार करके जीवननिर्माण के लिए ऐसे अवसरों का ज्ञानपूर्वक स्वीकार करके श्रीभगवान ने कृपा करके जीवननिर्माण के लिए हमें उस दशा में रख देना उसने स्वयं ही पैदा किया है, ऐसी हृदय की भावना–धारणा हम यदि उस समय रख सके, तो हम तो तैर जाएँगे । उनकी कसौटी में से संकट की स्थिति से पार हो और उन्हें शोभायमान करे, तो वह प्यारा हम पर कितना अधिक खुश होगा ?

विपद का उपाय : प्रार्थना

जीवननिर्माण कोई ऐसे ही नहीं हो जाता है। उसके लिए तो हथौड़े की चोट सहन करनी पड़ती है । वैसी चोट भी हृदय की उमंग से और प्रेमभक्तिज्ञान के भाव से गढ़ने के ज्ञानभान के साथ स्वीकार करके सह लें – सह लें ऐसा गिनना या सोचना यह भी अयोग्य है, पर वैसा जो दुःख, अवहेलना, तुच्छता आदि है, वह हमारे लिए तो तप है, ऐसी भावना जब जब हृदय में जीतीजागती रहा करती है और उस समय प्रभु का हृदय से परम आभार माना करें कि, **'हे प्रभु ! आपने मुझ पामर पर परम कृपा करके ऐसे अवसर जीवन के गुण विकसित करने के लिए दिये हैं, उसमें तेरे कृपाबल द्वारा ही टिक सके ऐसे बलसाधन देना । मुझ पामर को तेरे सिवा कोई सच्चा सहारा नहीं है । तू ही एक मेरे मददगार हो, तारणहार हो, पोषणहार हो, रक्षण करनेवाले हो । इसलिए कृपा करना । मेहर बरसाना और तेरी हिम्मत इस *जीव* के दिल में प्रकट करना ।'** प्रार्थना का ऐसा भाव गूंज के साथ हृदय में जाग गया होना चाहिए । वही हमारा सच्चा बेली है । उसका जो ***जीव***

मनहृदय से करके प्रेमभक्तिभाव से सचमुच आसरा लेता है, उसे पीछे हटने की बारी अभी तक तो नहीं आयी है और यह अनुभव की हकीकत है । इसलिए उसे उस समय हृदय में प्रकटकर मर्द की तरह, पहाड़ की तरह खड़े रहने में जीवन की मर्दानगी जीवित होने की है । जीवन को और जीवन के खमीर को चुनौती होते जो **जीव** अधिक प्राणवान और तेजस्वी बनता है, एकमात्र वैसा **जीव** श्रीप्रभु की कृपामदद का अनुभव कर सकता है । उसे अर्थात् वैसे **जीव** को श्रीप्रभु की मदद सहारे का प्रत्यक्ष अनुभव मिलता है । ऐसे वे परमकृपालु, दयालु है । उनकी मदद माँगते ही मिलती है – यदि हमें वैसी मदद माँगने की कला हृदय में प्रकट हुई होती है तो ।

अपनी हमदर्दी और प्राप्त आघात

अग्नि के वातावरण में होने पर भी मर्द की तरह जो निराशा में डूब नहीं जाता, वह देखकर तो अत्यधिक आनंद होता है । ऐसे तो तुम जैसे को निराशा से डूबकर वातावरण के वश हो गई देखकर मेरा तो गला भर आता है और छाती बैठ जाती हुई लगती है । स्वजनों के जीवन के वैसे दर्शन से ऐसा अनेक बार अनुभव किया है । **इस जीव** के वैसे दर्द की भावना–मनोभाव को पहचानने का किसी स्वजन के वैसे हृदय अभी विकसित नहीं है । **अनेक स्वजनों ने यह दीन, पामर के हृदय को अधिक से अधिक जरा छूने से दर्द हो ऐसा बनाने में, मानों अपार विरोध कर-करके उसे मारने और अधमरा कर देने में बाकी नहीं रखा है ।**

पर तुम मुझे शोभा दिलाना

यह कथनी तुझे लिखने का अर्थ तो यह है कि तुम वैसी न होना । अपने वर्तन के द्वारा तेरे में **इस जीव** को जीवित रखना । इतनी तुम्हें प्रार्थना है । जो **जीव** मिले हैं, वे जीवन पाने के लिए **इस जीव** के साथ जुड़े हुए है, परंतु जीवन की अभी किसी को पूरी तरह से पड़ी नहीं है । तुम्हें भी प्रार्थना है कि जीवन की सच्ची गरज जगाकर **इस जीव** के साथ जुड़ना योग्य है । यह तो क्या है ? अभी तो सेर का चौथे

भाग में पहली पूनी भी नहीं है । अधिक प्रचंड दावानल प्रकट हो, संपूर्ण भस्म हो जाये, तब तुम मर्द होकर प्रभु से प्रार्थना करती हुई खड़ी रहो और टिक सको और जीवन को गढ़ती रहो और मुझे उस तरह शोभा दिलाओ और खुश रखो ऐसी हृदय की प्राणवान अभिलाषा तुम्हारे जैसों के प्रति रखता प्रभुकृपा से जी रहा हूँ । कृपा करके निराश न करना । इतनी तुम्हें प्रार्थना है ।

हमारा ही दोष

जीवन गढ़ना नामर्द या मामूली **जीव** से नहीं होता । संसार में तो अभी तो बड़ी भी होली प्रकट हो, पर वह सब हमारे अपने ही कर्म का परिणाम है । उसमें किसी **जीव** का कहीं कुछ दोष नहीं देखा जाता और जो तो कुछ हमारे अपने कारण ही है, ऐसी सभी के प्रति जीवित धारणा रख सकें, तो सभी **जीवों** के प्रति मन में सद्‌भाव जीवित रह सके, और हम अधिक से अधिक प्रभु के चरण में शरणागत होने के लायक उनकी कृपा से हो सकें ।

संसार अर्थात् शुद्धियज्ञ

मेंहदी अच्छी तरह कठोर पत्थर पर पीसा-पीसाकर, पूरी तरह एकरस लोंदा जैसी बन जाती है, तभी वह चरण के स्पर्श होने, उसमें से रंग लाने योग्य होती है । पारा अग्नि में पूरी तरह परिपक्व होते उसकी भस्म भारी गुणकारी होती है । सोना भट्ठी की सख्त गरमी में भस्म बनते ही उसका गुण शरीर में शक्ति लाने का होता है । उसी तरह जिस **जीव** को जीवन की साधना करनी है, उसके लिए संसारव्यवहार का दावानल यह तो जीवन को छान-छानकर संपूर्ण शुद्ध करने की भठ्ठी है, बल्कि यज्ञ है ।

शूरवीर को सद्‌गुरु की सहायता

इस प्रकार, जीवन में उस समय जो **जीव** ऊपर के अनुसार प्रत्यक्ष भावना मन में जीवित रख सके, वैसा **जीव** उस समय उसमें डूब मरता नहीं है । वही सच्चा धीर वीर साधक है । मैंने तो अनेकबार लिखा है कि साधना महान पराक्रमी नर के लिए है । उसमें जैसे-तैसों का काम

नहीं है, यह हकीकत तुम्हें समझ में आती जा रही है, इसे मेरा सद्भाग्य समझता हूँ। **इसलिए कृपा करती रहना, और इस *जीव* को तेरे द्वारा अपार शांति और हिंमत देती रहना, तभी मुझ से तुम्हारे में जीया जा सकता है । प्रभुकृपा से तुम्हारे साथ ही हूँ - यदि तुम ऊपर लिखकर बताये अनुसार उस दशा में जीवित रहा करने का करोगी तो । मेरी मदद तुम्हारे साथ है, तुम्हारे हृदय में ही है - यदि तुम्हें वह लेने की कला आ गई हो तो ।**

वर्ष में जैसे अलग अलग ऋतुएँ आती हैं, वैसे जीवन में भी होता है । बादल भी जरूर आयेंगे, पर वे जरूर बिखर जायेंगे । हमेशा के लिए किसी को भी एक की एक दशा नहीं रह सकती है । सब कुछ परिवर्तन होता रहता है। होली भी जलती है, पर वह शांत हो ही जानेवाली होती है, यह भी निश्चित है ।

प्रेमभरा (प्रिय) संदेश

पत्र यह तो सत्संग है, हृदय में भावना जगाने और प्रेरणा के लिए वह एक अमूल्य साधन है । बाकी तो हृदय में हमें तो उसे जीवित रखना है। यदि प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक की वैसी भावना हृदय में बनी रह सके तो तुम्हें **इस जीव** प्रभुकृपा से दूर नहीं लगेगा। भावना से बहुत प्यार निकलता है। प्रभु तुम्हें टिके रहने का बल दें। साहस, हिंमत, धीरज, सहिष्णुता सभी के प्रति सद्भाव और समता आदि गुणों का सामर्थ्य प्रेरित किया करो ऐसी प्रभु से प्रार्थना करता हूँ। हमारा काम हिल उठने का नहीं है। नामर्द तो जीवन में अनेक बार मरते हैं। ऐसे जीने में कोई सार नहीं है। जीवन यदि जीना ही हो तो जीवनविकास के यज्ञ के लिए मर मिट मिटकर सब तरह से फना हो जाने के लिए जीवन यह तो हमारा सद्भाग्य है । यही **यह जीव** का तुम्हें प्रेमभरा संदेश है। वही। अधिक तो क्या लिखूँ ? धीरज, शांति, समता और सबके प्रति सद्भाव रख करके जीना ।

सभी प्रसंग सद्गुरु हैं

जीवन के प्रसंगों के अलावा अन्य किससे हम गढ़ सकते हैं ? इसीसे प्रसंगों में तो गुरु बिराजमान है, ऐसी जीतीजागती भावना हृदय

में जो **जीव** रखता है, ऐसे हेतु के ज्ञानभान से जो **जीव** प्रसंगों को स्वीकार करता है, वैसा जीव प्रसंगों से घिर नहीं जाता, खिसियाना भी नहीं होता, तो फिर उससे संताप तो कैसे पा सकता है ? प्रसंगों में यदि त्रास, ऊब, नापसंद, क्लेश, उपाधि आदि जो **जीव** को लगा, तो जानना कि प्रसंगों में सद्‌गुरु की भावना का सत्कार हुआ नहीं है और प्रसंगों को उस तरह और उस भाव से हमारे से ग्रहण नहीं हुए हैं । **प्रसंग तो प्रत्यक्ष गढ़नेवाले हैं । इसीसे तो सदा स्वागत के योग्य है । प्रसंग अच्छे भी होते हैं और बुरे भी होते हैं, परंतु हमें तो इन दोनों में सद्‌गुरु की भावना ही दृढ़ करनी है और अधिक प्रत्यक्ष उस ज्ञानस्वरूप में परिणाम आये उस तरह से प्रसंगों में शिक्षा प्राप्त करनी है ।**

इससे संसार पाठशाला है

तभी यह सकल संसार उसकी ही व्यक्त लीला है, उसका अनुभव **जीव** को होनेवाला है, यह निश्चित जानना । यह समस्त संसार **जीव** को तारने के लिए रचा हुआ है, परंतु कोई भी **जीव** संसार को इस तरह और इस भाव से कभी स्वीकार कर नहीं सकता । इससे वह संसार से सीख भी कैसे सकता है ? इससे संसार से ऊब जाना या त्रास जाना जो **जीव** जाने अनजाने करे, उस **जीव** को साधना की कोई सूझबूझ नहीं है ऐसा जानें । जो चेत जाता है, वही जाग सकता है । इसलिए सदा जिससे उससे चेतते रहकर, जीवन को विकास प्राप्त हो वैसी भावना को जहाँ तहाँ महत्त्व हृदय से देना रहता है, यह जानना ।

मारनेवाले प्रसंग तारते हैं

यदि वैसा कर सको तो कहीं निराशा, दुःख आदि जीवन में आने पर भी, उन-उनका आने का हेतु कोई सा भी हो, पर हम तो उसे भावना की तरह ही स्वीकार कर सकनेवाले हैं और जो मारने आएगा वह जीवन को तारके जाएगा, ऐसा अनुभव भी हमें हुआ करेगा । तभी प्रभु हमारे निकट हैं ही ऐसा प्रत्यक्ष भरोसा हृदय में जाग जाता है । ऐसा हृदय में जब पक्का, सच्चा, भरोसा जागता है, उस समय तो लाल अंगारा हुए

धधकते लोहे के स्तंभ को आलिंगन करने का आये, उसे आलिंगन करने में **जीव** थोड़ा भी हिचकिचाता नहीं है – प्रहलाद की तरह । वह तो उसमें भी मेरे प्यारे प्रभु बिराजित हैं, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञानभान उस **जीव** को होता रहने से वह तो उसे प्रेम से आलिंगन करता है । यह हकीकत हमें समझने जैसी है । प्रहलाद के जीवन की वैसी घटना मात्र आलंकारिक है, ऐसे कितनों का मानना है पर उस प्रकार के प्रसंगों का वैसा होना संभव भी होता है । संसार के ऐसे होते प्रसंग उस रूप भी बन जाना संभव होता है, परंतु उसमें हमारे हृदय की भावना प्रहलाद के जैसी पक्के सत्य सच्चे सच्ची हृदय के भरोसे की यदि प्रकट हो जाय, तो फिर हमें कहीं किसी का भय ही नहीं रह सकता है । हम सभी बातों से निर्भय और चैनवाले रह सकते हैं ।

स्वयं का जीवन दृष्टांत

यह **जीव** संसार में रहा हुआ है, और उसकी बहुत ही गरीब अवस्था होने से उसे सुनने करने के मौके बहुत आये हैं । सिर पर अपार कठिनाइयाँ और दुःख आये हैं, परंतु श्रीप्रभुकृपा से और गुरुमहाराज के आशीर्वाद से साधना के भाव में ही रमे रहने का हुआ करता होने से और प्रसंगों में जीवनविकास की समझ और सद्‌गुरु की भावना का ज्ञान जीवित होता जाता प्रत्यक्ष अनुभव होने से, हृदय में उस समय जो सामर्थ्य आता था, वह उनकी ही कृपा थी ।

सद्‌गुरु की अपील

इसीलिए तुम्हें भी वैसी भावना विकसित करनी है । हम जागृत रह सकें तो कुछ भी बाधा नहीं आ सकती । कृपा करके श्रीप्रभु की कृपाबल मदद को हृदय में हृदय से प्रार्थना किया करके आवाहन करते रहना । **वह बहुत दूर नहीं है । अंतर में ही बिराजमान है । प्रसंगों में भी वही है । संसार के *जीव* के दिल में भी वही है । उस उसमें वहाँ वहाँ रहकर वह हमें उस तरह से गढ़ना चाहता होता है । तो हम उसे वहाँ-वहाँ वैसे प्रेमभक्तिज्ञानभाव से यदि हृदय में स्वागत**

करेंगे तो वह हमारे में उस भाव से जरूर प्रकट होगा । वह निश्चित समझना और मानना । ऐसा होने पर उसका अनुभव भी उस तरह और उस भाव से हुआ करेगा । साधक को हिंमत हारने का कोई कारण नहीं है । हम उनके कृपाबल से सब कुछ से पार होने के लिए शक्तिमान हैं । मन से गलत मान लेते हैं कि दावानल प्रकट हुआ है और उसमें अटक गये हैं । ऐसा मानना यह हमारा कोरा अज्ञान है । बारबार तुम्हें प्रार्थना है कि उनकी कृपा से मर्द होती रहना ।

● ● ●

क्या क्या करना है ?

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. १३-४-१९५२

साधना के मार्ग में सकल इन्द्रियों की, पाँच अंतर के करणों - मन, बृद्धि, चित्त, प्राण और अहम् - इन सब की शुद्धि होनी ही चाहिए, परंतु वह होते पहले साधना की शुरूआत ही नहीं हो सकती ऐसा कुछ नहीं है । साधना में नामस्मरण, प्रार्थना, ध्यानादि अवश्य हो सकते हैं । नामस्मरण हृदय की भावना धारणा के साथ सब कुछ करते-करते हुआ करना चाहिए । उस साधन से श्रीभगवान की स्मरणभावना रहा करती है । सकल कर्म में उसकी भावना रहा करे, और कर्ममात्र जीवनविकास के निर्माण के लिए हैं, ऐसी भावना भी प्रत्येक कर्म करते समय हमारे हृदय में उस प्रकार की चेतनयुक्त जागृति से प्रकट हो और उसके साथ साथ हृदय का प्रार्थनाभाव से उसमें प्रवेश होना चाहिए । वह भी जो तो सब श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ हुआ करे और अंत में उसे प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक समर्पण कर देना रहता है । इस प्रकार कोई भी विचार, वृत्ति आदि भी उसे ही समर्पण किया करना है । इन्द्रियों और मनादिकरणों की सकल प्रवृत्ति से हम अपने आपको संपूर्ण अलग समझ समझकर उन उनकी उस समय की प्रवृत्ति में हमें हमारे में समता प्रकट किया करनी है । **जो जो नकारात्मक उगे उसके साथ तो मानो कोई भी निसबत न हो, वैसे उसे नकारते रहना है । जो कुछ रचनात्मक हो वह भी उससे हम अलग**

हैं उसी भाव से बिलकुल निःस्पृहता से वह करना होता है । शुद्धि होती रहती है कि नहीं इसका मुख्य लक्षण तो यह है कि हमारी इन्द्रियों को आंतरिक करणों की सकल प्रवृत्ति के प्रति हमारे में स्थापित होती जाती शांति, समता, धीरज आदि गुणों को हम अनुभव कर सकते हैं ।

समता

प्रकृति की सकल प्रवृत्तिओं को, अनेक प्रकार के रागात्मक आंदोलनों को, अनेक प्रकार के जो द्वन्द्व के जोड़के हैं, उनके खेल और अनेक प्रकार की अविद्या हमारे में जो खेल रही हैं, तथा अभी जो अनेक प्रकार की सूक्ष्म अशुद्धियाँ पड़ी हुई हैं, उसकी क्रियाप्रतिक्रियाओं को हम मानों हमारे से अलग होकर देख सकते हों, ऐसी एक प्रकार की समता तब उद्‌भव होती है । वे वे क्रियाएँ भले ही उगें पर उसमें साथ देते और भाग लेते तब हम लगभग अटक जाते होते हैं । **जो जो कुछ *जीव*दशा का रुख उद्‌भव होता है, वह सब हमारे अपने असली स्वरूप का नहीं है ऐसा जीताजागता प्रत्यक्ष ज्ञानभान उस उस समय हमारे में जाग जाय तो समझना कि समता की प्राप्ति होने लगी है ।** ऐसी समता संपूर्ण जाग जाने पर **जीव**दशा के उगते रुख के प्रति संपूर्ण चेतनयुक्त जागृति रख सकते हैं । उस समय हमें उसका स्पर्श नहीं होता है । उससे एकदम अलग रह सकते हैं और वैसा सब तो निचली प्रकृति का खेल है, और उसमें हमें उलझना नहीं है, ऐसी चेतनयुक्त जागृति और उससे अलग होने की शक्ति तब हम में प्रकट हुई होती है, वही समता का व्यक्तव्य है । ऐसी समता पकते पकते बाद में तो हमारी अपनी प्रकृति में और प्रकृति पर भी उसका साम्राज्य जमने लगता है ।

शुद्धि

ऐसा जब हो सकता है और वह मात्र भावना से नहीं पर समझपूर्वक (और वह भी ज्ञानपूर्वक वैसे प्रकार के अनुभव से ठोस रूप से जागी हो) वैसा हृदय में हृदय से लगता हो, उसके बाद जो जो कुछ अशुद्धियाँ बाकी रही होती है, वे तो एकदम अदृश्य होती जाती है । ऊपर बतलायी

दशा होने पर **जीव**प्रकार की कोई भी अशुद्धि टिक नहीं सकती है। शुद्धि प्राप्त करने के लिए कहाँ से और किस तरह से शुरूआत करनी ऐसा कोई पूछे तो पहले उसे शुद्धि की अनिवार्यता अभी संपूर्ण लगी नहीं ऐसा भी गिनायेगा। यदि सचमुच शुद्धि के लिए उसका निश्चय पक्का हुआ हो, तो अशुद्धि के दर्शन होते ही उसमें से वह अपनी नजर तुरन्त फेर लेगा। इतना तो वह अवश्य करेगा। **जीवस्वभाव का किसी भी प्रकार का नकारात्मक रुख - उसका नाम भी अशुद्धि कह सकते हैं।**

शुद्धि अर्थात् मात्र नीतिमत्ता की गीनती की कक्षा इतना ही वह नहीं है। ऐसी कक्षा तो बहुत ही कम गिन सकते हैं। ऐसा तो बुद्धि से सोच-सोचकर प्राण के आवेगों को मनुष्य चाहे तो रोक सके, परंतु इतना होना साधना के लिए पर्याप्त नहीं है। नीतिमत्ता की कक्षा के एकमात्र वैसे विचार से और अमल से करणों की शुद्धि होती है, ऐसा मानने में कहीं अतिशयोक्ति लगती है। नीतिमत्ता की कक्षा यही जीवन की उच्च से उच्च आध्यात्मिक कक्षा है, ऐसी मान्यता का ख्याल साधना के जीवन के अनुभव से उद्‌भवित ख्याल नहीं है। ऐसे अनुभव से वह जन्मा नहीं है। शुद्धि होने पर तो शक्ति की प्रतिष्ठा होती है। प्रत्येक इन्द्रियों तथा करणों को अपनेआप के सामर्थ्य का ज्ञानभान जागता है। अपनेआप की यथार्थता में प्रकट होते और व्यवहार करते रहते हैं। नीतिमत्ता यह तो साधना के उत्कट प्राकट्यभाव के आगे बिलकुल कोरी कोरी लगे, पर उसका अर्थ ऐसा नहीं कि वह आवश्यक नहीं है। साधनाकार्य की शुद्धि का इतने में ही मात्र समावेश नहीं होता। यह तो इससे कहीं आगे जाती होती है। इससे मन, प्राण और बुद्धि के खेल से सावचेती रखकर, उसके खेलखेल से अलग रहा करने का जीताजागता ज्ञानपूर्वक अभ्यास विकसित किया करना है। ऐसा सब करने या किया करने पर भी महत्त्व तो श्रीप्रभुकृपा से साधना की भावना को ही हृदय से दिया करना है। इससे करके जो तो सब उसकी योग्यता में आ जाता होता है।

● ● ●

सर्वत्र प्रभुदर्शन के लिए तप

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. १७-४-१९५२

जिसे भगवान का होना है, उसे संसार और उसके इतर व्यवहारवर्तन में भी उसी की ही करामात और हाथ और उसकी ही चाल हमें हृदय से निरखते रहना है । वह हमें अनेक तरह से गढ़ता है और इससे प्रत्येक में हमें शिक्षा दे रहा होता है । इसलिए उस समय वह शिक्षा की भावना **जीव** को हृदय में उगा करें, तो कर्म, वर्तन, संबंध, व्यवहार आदि आदि में उसे जहाँ और वहाँ प्रभु का ही हाथ दिखा करे तो उस समय **जीव** को तो आनंद आनंद ही व्याप्त होता है न ? जो **जीव** संसार का ना रहे और भगवान का होने जाय तो संसार उसे पिघलाने मे बाकी नहीं रखेगा, यह भी निश्चित है । ऐसे समय हृदय में सबके प्रति एकमात्र सद्भाव जीवित रह सके, वैसा **जीव** ही श्रीभगवान का वरण कर सकता है । सकल कुछ तपरूप में इस जगत में जो तो सब है । तप के बिना शक्ति नहीं है और भाव भी नहीं है । इसलिए **संसार यह तो श्रीभगवान को अनुभव करने के लिए यज्ञ की वेदिका है ।**

● ● ●

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. १९-४-१९५२

समर्पण शुद्ध होना चाहिए

तप बिना कोई की भी सिद्धि होना असंभव हकीकत है, जीवन में इससे यह अत्यधिक आवश्यक है । संसार में आज **जीवों** को तप नहीं चाहिए । वैभवविलास आदि की जरूरत है । थोड़ा श्रम करने पर व्यक्ति का मन खिला हुआ नहीं रहता है, तप तो जिस **जीव** को जीवनविकास करना है, प्रभुमय जीवन जीना है उसके काम का है । तप के बिना शुद्धि नहीं हो सकती है । **इससे तो वैष्णवधर्म में जो भी हो, सभी श्रीभगवान को चढ़ाये बिना कुछ भी नहीं ले सकते हैं । उन्हें जो भी है सभी स्थूल, सूक्ष्म और कारण प्रेमभक्तिभाव से चढ़ाये करना होता है और ऐसे चढ़ाने में उसे हृदय का प्रेमभक्तिभाव से चढ़ाये हुए ज्ञान बिना का यदि दूसरा कोई विचार उपजा तो वह**

सब जूठा हुआ गिना जाता है । श्रीप्रभु को तो सर्वांगशुद्ध जो होता है, वह भी हृदय से हृदय की प्रेमभक्तिज्ञान से भरपूर हो, वैसा चढ़ाया हुआ उसे उपयोगी होता है। ऐसे शुद्ध समर्पण से जीवन का विकास होता रहता है । इसलिए जो जो कुछ मन में हुआ करे, वह वह उनके चरणकमल में प्रेमभक्तिभाव से रखा करें और ऐसा रखा करने में निर्मल शुद्धि बनाये रखे तो आंतरिक भावना अधिक से अधिक दैवी होती जाती है ।

कुरुक्षेत्र के बाद विराटदर्शन

भगवान का होने का काम सरल नहीं है । भगवान के अभी हम भक्त कहाँ हुए हैं ? उसके भक्त की कसौटी का तो पार नहीं होता । कृपा करके जो जो **जीव** उसमें ही मन रखने का हृदय में हृदय से यत्न करते हैं, उनका जीवनसंग्राम भी कोई जैसा-तैसा नहीं होता है। जीवनसंग्राम जीवन के खमीर को बढ़ाने और उसे अपनेआप में प्रकट करने बहुत जरूरी है । कीमत करने या हुए बिना का कोई कहीं कुछ नहीं ले सकता है । प्रत्येक का अपनाअपना मूल्य होता है । जगत समस्त और संसार प्रभु का है। जिसमें और उसमें प्रभु के हाथ को हृदय में निरखने, समझने, अनुभव करने की कला साधक को हृदय में उगानी रहती है । यह कला उगती है, तब उसे जगत का दृश्य वह वैसा ही होने पर उसमें कोई अनोखे प्रकार का अनुभव उसे होता रहता है । संसार का दृश्य संसार रूप में उसे लगता नहीं है, परंतु उसके द्वारा वह उसका शिक्षक, कारीगर, गुरु, माँ, ऐसे ऐसे स्वरूप से हृदय में बसा रहता है । पूज्य समरथबा को मेरे हृदय का सप्रेम प्रणाम । पत्र नोट में लिखना ।

● ● ●

सद्गुरु की अंतर्यामी शक्ति

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. १९-४-१९५२

तुमने......भाई को......बहन को मेरे पत्र का अमुक हिस्सा पढ़कर सुनाया था, उस पर से भाई ने एक लंबा पत्र मुझे लिखा था । पुरुषार्थ और शरणागति के बारे में तुम्हारी और उनकी कोई बातचीत हुई होगी,

जिसकी मुझे तो कोई जानकारी नहीं थी। तुमने तो मुझे आश्रम में क्या बात हुई थी उस बारे में कुछ भी लिखा नहीं था। किसी **जीव** को मानने में न आता हो तो तुम्हारे पत्र ......भाई बाहर आने पर फाईल करेंगे और वह वहाँ आ जाते देख सकती हो। मैंने तो प्रभुकृपा से अपनेआप ही तुम्हें सही मार्गदर्शन मिले उसके लिए वैसा लिखा था।

प्रसंगों को ही गुरु बनाओ

यदि हमारे प्रयत्न में सच्ची, सही, पूरी हृदय की नेक दानत प्रकट हुई होगी, तो संसार के कितने भी भयानक प्रसंग तो गुरुरूप हैं, ऐसी भावना साधना करनेवाले **जीव** में प्रकट हो जाय, वह उसके लिए अत्यधिक आवश्यक है। इसलिए प्रसंगों में गुरु की चेतनाशक्ति का भाव लाया करना है। सजग रहना, मर्द बनना और सद्गुरु को हृदय में जीवित प्रेमभक्ति से रखा करना। **कुछ होने पर उसे हृदय में प्रार्थनाभाव से प्रकटकर उनकी मदद प्राप्त करने की कला सीखना। यह पत्र..... भाई को पढ़वाना।**

● ● ●

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. १९-४-१९५२

जिस **जीव** को अपने असल स्वरूप में आकार प्राप्त करने का दिल है, उसे तो टीपाने की क्रिया होते पहले अत्यधिक तपना पड़ता है। ऐसे तपने में से जिसे उसमें से शुद्ध और नरम होता है, ऐसा ज्ञानभान हृदय में प्रकट होता रहता है, उसे बाद उस पर हथोड़े के घाव पड़ते हैं, वह भी एक तरफ नहीं पर—चारों तरफ—उसमें भी स्वयं आकार प्राप्त करने की क्रियाविधि में से गुजर रहा हुआ है, ऐसा ज्ञानभान जिस **जीव** को उस समय हृदय में हृदय की प्रेमभक्तिपूर्वक का प्रकट हुआ करता है, वैसा **जीव** ही अपनेआपके सही असल स्वरूप का आकार पा सकता है, बाकी के नहीं ही, यह निश्चित करके जान लेना।

साधना का ही लक्ष रखो

साधना करते करते तो बहुत बहुत मिलता है। तुच्छता, अपमान, अवहेलना, तिरस्कार, डाह, ईर्ष्या आदि नकारात्मक पक्ष और इसके

अलावा मान, अहंकार को पोषण मिले वैसा वैसा फूलने जैसा । स्वयं किसी में प्रकट हुए हैं ऐसे भान की अज्ञानता, न होने पर भी होनेपन का भान होना, अच्छा अच्छा लगने जैसा —— **जीव**प्रकार का मन को अच्छा अच्छा लगे वैसा वैसा आदि —— बहुत बहुत भी मिलेगा । उस प्रत्येक पहलू में **जीव** को स्वयं कुछ ही वैसा वैसा स्वीकार करना नहीं होता है । जो कुछ मन ने स्वीकार किया कि उसके आकारप्रकार में वह पड़ेगा ही, उस तरह ही वह हमें सोचने प्रेरित करेगा । इसलिए सब कुछ मिले उसमें से **जीव** को तो अपने हृदय की भावना और वह भी जीवननिर्माण की भावना किस तरह अधिक से अधिक मूर्तिमंत होकर आकार लेती जाय और जीवन को विकास के मार्ग पर ले जाये, वही जीताजागता लक्ष हृदय में प्रज्वलित रखा करना है । वह लक्ष यदि चूके तो चारों तरफ से डूबे समझो । जिसका लक्ष जीवित है, वह उसमें तैरेगा । बाकी के तो डूबकर मरेंगे ही । जिसका मन जिस विषय में एक-सा और सरल, केन्द्रित और एकाग्र रहा करता है, वही **जीव** उस विषय का ज्ञाता हो सकता है ।

तमन्ना ही मुख्य और वह कैसे जागे ?

पढ़ने का ज्ञान पाने के लिए भी मेहनत स्वयं करनी पड़ती है । शिक्षक तो सिखाये, पर वह मन में उतारने के लिए विद्यार्थी को एकध्यान होना पड़ता है । शिक्षक का यदि विद्यार्थी कुछ ध्यान पर ही न लेता हो, और वह कहे कुछ और वह करे कुछ, तो फिर वैसा विद्यार्थी पढ़ रहा समझो । शिक्षक के बताये अनुसार किया करने की उत्साहपूर्वक इच्छा रखनेवाला विद्यार्थी पढ़ सकता है । वैसा ही साधना के बारे में है और उससे सविशेषरूप से साधना के विद्यार्थी को अपने जीवन के शिक्षक में हृदय में हृदय से ध्यान रखना होता है । यदि वैसा करने में उसे आनंद न आता हो तो वैसे विद्यार्थी को वैसे शिक्षक को छोड़ देना चाहिए, यदि उसे साधना ही जीवन में करनी हो तो । जिससे उसे हृदय में आनंद आता हो, वहाँ उसके साथ जुड़ना चाहिए । फिर, शिक्षक में ध्यान देने के प्रयत्न में साधना के विद्यार्थी का यदि हृदय शामिल न होता हो तो उसके वैसे

प्रयत्न में कभी भावना उग सकेगी नहीं । तो प्रश्न यह होता है कि हृदय उसमें मिले किस तरह ? एक तो यदि गरज जागे या लगी हो तो वैसा हो अथवा गरज लगाने हृदय की शुद्ध दानत हो, तथापि हृदय उसमें मिलता अनुभव होता है, अथवा तो जीवन के शिक्षक के प्रति हृदय का प्रेमभाव जागा या लगा हो तो वैसा हो सकता है ।

अशुद्ध दानत साधक के लिए अड़चन

साधक की दानत शुद्ध और पारदर्शक होनी चाहिए । उसके बिना साधना होनी कभी संभव नहीं है । बाकी तो वह अपने को भी ठगता रहेगा और दूसरों को भी और उसमें से कुछ हासिल नहीं होगा । ऐसे लोगों के कर्म में तो कोरी निराशा ही मिलेगी । इतना ही नहीं, दूसरों को धोखा देने की प्रक्रिया जब फिर से उसमें (उस **जीव** में) वापिस आती है, उस समय उसके अपने आचरण का भी कोई ठिकाना नहीं रहता है ।

साफ दानतवाले अपने को परख सके

इसलिए हृदय से और हृदय की शुद्ध पारदर्शक दानत से जो **जीव** साधना में मुड़ता है, उसे तो उसका वैसा मुड़ना भी सार्थक होता जाता अनुभव कर सकता है । वह ऐसा करते मन में शांति, प्रसन्नता आदि अनुभव करता जाता है वैसे वैसे वह अपने आपको जीवन के प्रत्येक पहलू को स्वयं प्रत्यक्ष देखता जाता है, ऐसे ही स्वयं अपने **जीव**स्वभाव के प्रत्येक पहलू में अपने को अनुभव करता है, उस उस समय वैसा **जीव** उस उसके साथ अटूटता से जुड़ना छोड़ देता होता है । वैसे **जीव**प्रकार के क्षेत्र की हकीकत में साथ देने का बिलकुल सोचता नहीं होता । इसप्रकार, जो **जीव** अपनी सही दानत से साधना करता होता है, और अपने को परखता हो जाता है, वह स्वयं अमुक **जीव**प्रकार के रुख में है ऐसा भी जानता है ।

ऐसा *जीव* भी कब उठ सकता है ?

तो फिर उसमें से निकल नहीं सकता उसका क्या ? तो उसका उत्तर तो इतना ही है कि वैसे **जीव** ने उसमें से उठने जैसा कुछ भी बल प्राप्त

नहीं किया है । वैसे **जीव** को उसमें पड़े रहने के लिए सचमुच हृदय में कुछ दंश भी नहीं होता । उसके लिए उस **जीव** को कुछ वेदना भी नहीं होती । और हो नहीं तो साले तो कहाँ से ? ऐसा कोई साधना करता ही नहीं ऐसा मानें और जानें । जो **जीव** हृदय की गहराई से साधना करने लगता है, वैसा **जीव, जीव**प्रकार के भँवर में कभी खिंचता नहीं है, ऐसा तो कभी होता नहीं है । उसे ऐसे खिंचने का पता चल जाता है और वह उसे अत्यधिक दंश देता है । ऐसे दंश की जो वेदना है, वह उसे उसमें से ऊपर उठा लाती है ।

स्वयं ने क्या किया था ?

यह जीव तो उस उस समय श्रीप्रभुकृपा से अपने सद्‌गुरु की चेतना की भावनाशक्ति को हृदय में हृदय से प्रेमभक्ति द्वारा आवाहन किया करके उसे वह प्रार्थना किया करता । उस भाव में ही मन को एकाग्र केन्द्रितरूप से पिरोया करता । मैंने उसकी कृपा से अनुभव किया कि उसकी कृपामदद मिला ही करती । कितनों का ऐसा कहना होता है कि ऐसी जो मदद मिलती है, वह अपने में अपनी ही वैसी भावना जो उठती है, उनकी गूँजरूप वह होती है । यह तो जिसे जैसे अनुकूल हो वैसा भले करें, परंतु वैसी भावना होते **जीव**प्रकार के दलदल में से उठने जैसा हो जाता है, यह तो ठोस हकीकत है ।

कर्म करें ही, पर अलगता से

उसके साथ साथ जो जो कुछ मन में उगता, जागता, उठता है, उस उस पल ही उन सबके साथ मानों कोई कहीं निसबत न हो, वैसा बरतने का ज्ञानभान साधक को उगना चाहिए । सकल कुछ कर्म करते करते (कर्म की अवगणना नहीं करनी है । 'कर्म तो गढ़न के लिए है, और श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ है' ऐसी भावना-धारणा कर्म करते समय हृदय में हो तो वैसे कर्म का परिणाम हमें उस भाव से मिल सकता है ।) कर्म के परिणाम का विचार भी उगे तो वह भी श्रीभगवान के चरणकमल में प्रेमभक्तिभाव से समर्पित करते रहना है । अपने **जीव**स्वभाव के रुख,

वृत्तियाँ, भावनाएँ आदि जो सब मन में हो, उनके साथ कोई भी संपर्क न जोड़ें । कोई भी साथ न दे । सभी में साथ होने पर भी अंतर में तो हम स्वयं अकेले ही हैं, ऐसी रचनात्मक, भावात्मक अलगता साधक जब अपने होते रहते सकल कर्म के अंतर में ज्ञानपूर्वक अनुभव करता रहता है, उस समय के उसके लक्षण भी होते हैं । कुछ भी ऐसे ही नहीं हो जाता है ।

अलगता से सहज साधना

ऐसी दशा होते वैसे **जीव** के सकल कर्म हुआ करते रहते हैं । ऐसा अनुभव उसे हृदय में ऐसी ज्ञानपूर्वक की अंतिम प्रकार की अलगता विकसित होने पर होता है । हमारा समर्पण संपूर्ण स्वेच्छापूर्वक, हृदय की प्रेमभक्ति के भाव अनुसार हुआ करें तो वैसा समर्पणयज्ञ जीवन को फलित कर सकता है, बाकी तो नहीं ।

लाचारी की दर्दभरी प्रार्थना

तामसिक प्रकार की निष्क्रियता में से कोई भी वृत्ति जाग नहीं सकती है । ऐसा **जीव** संसार में कुछ दरिद्रता हटा नहीं सकता । तो साधना में तो कर ही क्या सकता है ? आलस को तो थोड़ा भी साथ न देना । आराम के निमित्त वह तो हमें सुला देगी । हमें पीछे करने, हराने अनेक प्रकार प्रकृति के पास पड़ें हुए हैं । इन सभी प्रकारों का ज्ञान साधक को उस समय जाग जाना चाहिए । साधना करने निकलनेवाला **जीव** प्रारंभ में अपनी प्रकृति के कितने दोषों को और कठिनाइयों को वे वे होते उस उस समय उनके सम्बन्ध में सभान होने पर भी और उसके लिए ज्ञानपूर्वक का प्रयत्न करने पर भी, स्वयं उससे मुक्त नहीं हो सकता है ऐसा भी होता है । **यह जीव** के बारे में ऐसा हुआ है, परंतु ऐसी उसकी अपार जो लाचारी उस समय जो हृदय में लगती है, ऐसी लाचारी की दशा का ज्ञानभान जो आता है, तब स्वयं कैसा निर्माल्य है, और स्वयं कुछ भी नहीं कर सकता, (इससे अब कुछ ही नहीं करना ऐसा करके हाथ जोड़कर बैठे रहना भी उस समय होता नहीं है ।) ऐसी हार अनुभव

होते हृदय में जो भयानक घाव लगता है, और उसे जो वेदना होती है, इससे अपनी लाचारी और अशक्ति दूर करने के लिए वह श्रीप्रभु के चरणकमल में अपने हृदय की गुहार लगाता है । उसकी उस समय की वैसी दशा का उसके वैसे प्रार्थनाभाव में कोई ओर प्रकार का भाव प्रकट होता है, क्योंकि उसमें हृदय मिश्रित हुआ होता है । ऐसी प्रार्थना से **जीव** को बल मिलता वह अनुभव करता है । ऐसी अपनी अज्ञानता हटाने में स्वयं अशक्त होने पर भी वह उसे जब अत्यंत सालने लगे उस समय वह श्रीभगवान की कृपामदद प्रार्थनाभाव से हृदय में माँगता रहता है, वह उसे मिलती रहती है ऐसे अनुभव भी अनेकों के हैं ।

दुर्वृत्ति का इनकार करो

जीवप्रकार का जो जो उगे, उस उसका हृदय की भावना से चेतनयुक्त जागृति के ज्ञानभान के साथ पूरी तरह इनकार किया ही करना रहता है । ऐसे इनकार किया करना है । ऐसे इनकार किया करने में हृदय की प्रमाणिकता में कहीं यदि कमी न रही हो तो इस प्रकार के साधक को श्रीभगवान की कृपामदद माँगने का अधिकार प्राप्त होता जाता है, जिस **जीव** को स्वयं ही उठने जैसा कहीं कुछ नहीं करना, उसका कहीं कुछ नहीं हो सकता, यह निश्चित मानना ।

समर्पण का रहस्य कब समझ में आएगा ?

जिस **जीव** को साधना का नाम लेकर अपना छिपा कहीं कुछ (साधना से अतिरिक्त) अंतर का रुख हो, उसे साध लेने का यदि मन होगा तो वैसा **जीव** भी आज नहीं तो कल पीछे रह जायेगा । **जीव** अंतर के समूचे सच्चेपन से लगे करने का किया करता है, उसे तो कोई धक्का नहीं लगता है । उसे तो जहाँ तहाँ से चिपके रहना है । जीवन के लिए और उसे स्वयं के लिए हृदय की ज्ञानभावना से जो चिपकने का करता है, उसे उसके चिपके रहने में किसी प्रकार के स्वार्थ और ऐसा दूसरा प्रकार का न रह गया होना चाहिए । इसलिए सर्वप्रथम तो साधक को यदि साधना के पंथ में मुड़ना हो तो उसमें पहले तो उस मार्ग में मुड़ने

के लिए हृदय की सचमुच की और संपूर्ण उत्कट सच्ची दानत हुई होनी चाहिए, ऐसी तमन्ना जागी होगी, तभी वैसा **जीव** जो जो **जीव**-प्रकार का उगेगा, उस उसका इनकार कर सकने की तैयारीवाला हो सकता है ।

अपने में से जो निकालने जैसा है, वह वह उसे हृदय के उत्साह से दिया ही करना है, वह दिया करने की प्रक्रिया में उस **जीव** से उस उस पल किसी प्रकार का **जीव** यदि भूल से भी उसमें रखा गया, तो उस प्रकार के देने में से उलटा वह स्वयं अधिक से अधिक बंध जाएगा । इसलिए उसमें से तो मुक्त होना । जैसे कर्ज हो और उसे देने का करें तो उसमें से उतना जरूर अलग होगें, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञानभान हृदय में वैसा देने से प्रकट होता है, उस तरह **जीव**प्रकार के रुख को दिये करने का (समर्पण किया करने का) प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक का अभ्यास **जीव** को किया करना है । अमुक **जीवों** को देखा है और जाना है कि वैसा वैसा देते रहने के समय वैसे वैसे **जीवों** को उस देते रहने में भी जीवनविकास की उपयोगी दृष्टि प्रत्यक्ष हृदय में जीवित होती नहीं है । वैसे **जीव** देते हैं सही, पर देने में पाने की आकांक्षा रखते हैं । वैसे **जीव** देने की साधना का सच्चा मर्म नहीं जानते । जो देना है, वह तो उसके उसपन से मुक्त होने के लिए । इस प्रकार के ज्ञानभाव से जब समर्पण का शुद्ध पवित्र यज्ञ श्रीभगवान के चरणकमल में प्रकट होता है, तभी समर्पण का सही रहस्य **जीव** समझता हो जाता है ।

फल की इच्छा के बिना पुरुषार्थ करो

कितने ही **जीव** तो ऐसा मानते हैं कि ऐसी हृदय की सच्ची दानत अथवा तो जीवनविकास के प्रति की ऐसी उत्कट जिज्ञासा भी श्रीभगवान ही कर देंगे, क्योंकि सभी कुछ सकल भगवान ही करते हैं । इसलिए हमारी साधना भी वही करवायेंगे । हमारी वैसी भावना भी वही जगायेंगे । यह बिलकुल कोरी अज्ञानभरी मान्यता है, यह साधना के पंथ में अवरोधकर्ता है । **श्रीभगवान स्वयं हमारे अंदर के जो जो रुख हैं, वह दूर कर देंगे, ऐसा मानकर बैठे रहने में तो कुछ भी सार नहीं**

है, क्योंकि ऐसे *जीव* को यदि अपने में दृढ़ आत्मविश्वास जागा नहीं है, तो वैसा जीव सद्‌गुरु या भगवान में क्या विश्वास रख सकता है ? मर्द मनुष्य हारता है सही, पर हार से वह उठने का प्रयत्न करता है, और ऐसे उसके हृदय के सच्चे प्रयत्न में से ही जीवन की शक्ति जन्म लेती होती है । इसलिए हम से होते रहते प्रयत्न में हमारा सचमुच का हृदय का सच्चा नेक लक्ष्य, प्रामाणिक और साफ दानत रखनी है । साधक **जीव** अपनी सच्ची और सचमुच के प्रयत्न से अपने में उच्च कक्षा पैदा करने के लिए अपने आपको तैयार कर सकता है । श्रीप्रभु की परम मंगलमय कृपा अपने हृदय में पैदा हो, वैसी भूमिका भी वह रच सकता है । ऐसा होने पर भी एक और एक दो की तरह उनकी कृपा प्रकट क्यों नहीं होती ऐसा अधिकार के साथ हम उस समय कह नहीं पाते । पार्थिव वस्तु की तरह एक और एक दो ऐसा जो सत्य है, वैसे **जीव** हृदय की सही सच्ची पूरी दानत की साधना की भावना के क्षेत्र में प्रयत्न से उच्च कक्षा में प्रकट हो सकने की दशा में आये, उसकी परम मंगलमयी कृपा को प्राकट्य होने के लिए हृदय में ऐसी भूमिका भी प्रकट हो सके, तथापि वह प्रत्यक्ष न भी हो तो उतने से हमें निराश होनापन नहीं रहता है ।

साधना में निश्चिंतता कैसे रहे ?

जिस **जीव** को हृदय में हृदय से सच्ची भावना प्रकट होती है, उसे कहीं निराशा नहीं मिलती । जिसे निराशा होती है, उसे अवश्य जानना चाहिए कि उसमें कहीं उसके वैसे प्रयत्न के पीछे कहीं कोई माँग, इच्छा या वासना रही होनी ही चाहिए । हम उस पर कहीं कोई हकदावा नहीं कर सकते, 'कि ऐसा किया तब भी क्यों ऐसा न हुआ ?' ऐसे भी आग्रह नहीं कर सकते हैं । स्वयं ही जो जो कुछ किया हो, वह शुद्ध भावना से और सच्ची, सही, दानत से किया होता है, उसे तो सब कहीं सरल सरल बहा करता है । उसे कहीं ऐसा या वैसे उलझने जैसा नहीं रहता । जो कोई स्वयं सर्वप्रकार और सर्वभाव से हृदय में हृदय से सीधा ही रहा करता है, वैसे **जीव** को दूसरे **जीवों** का घुमाव कुछ भी नहीं लगता है । हमें तो जहाँ तहाँ से करके उसके लायक और सच्चा बनना

है, और उसीके हो जाना है। उसके होकर ही रहना है और जीना है। यही हमारा सर्वश्रेष्ठ कर्म है। वे हमें कब ग्रहण करके स्वीकार कर ले वह काम उनका है। हमें तो वहाँ तक उसीके हुआ करना है और उस भाव में अटल रहना है। इससे हमारे से होते रहते सकल कर्म के स्थूल या सूक्ष्म कर्म में उसके लायक होने की क्रिया, विधि या भावना में ज्ञानभक्तिपूर्वक रमा करते रहते हैं कि नहीं यह हमें हृदय में जाँचना होता है। यदि इतना हो तो हमें सदा निश्चिंत रहा करना है। यह शब्दप्रयोग भी योग्य नहीं है। ऐसों को सदा निश्चिंतता और आराम हुआ करता है।

पुरुष पर ही दृष्टि रखो

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. २१-४-१९५२

संसारव्यवहार में जो जो **जीव** मिले हुए है, उनमें सद्भाव होना, उनके गुणों का स्पर्श हृदय से होना, उसके प्रति **जीव** का वैसा आकर्षण होना, यह कब हो सकता है कि जब **जीव** का अपना उस प्रकार का सरल, नैसर्गिक, आंतरिक रुख जागा हुआ होता है तो। हम साधना करते हैं तो उसका प्रत्यक्ष लक्षण कुछ तो होना चाहिए न ? हम अपने अंतर में और संसार में चेतन को प्रत्यक्ष करने को उद्यत यदि हुए हैं तो पहले तो उस चेतन को हमारे में जागृत हुआ **जीव** को अनुभव करना पड़ेगा। वैसा होते उसका प्रतिबिंब स्वयं ही संसार में पड़ेगा। प्रत्येक **जीवात्मा** में प्रकृति-पुरुष ऐसे दो तत्त्व हैं, परंतु पुरुष किसी **जीव** में जागा हुआ पड़ा नहीं है। प्रकृति ही जिसमें तिसमें काम कर रही है। प्रकृति का मूल बीज एक होने पर भी वह प्रत्येक में अलग अलग लगता है। हम प्रत्येक की प्रकृति को देखा करने के कारण भुलावे में पड़ जाते हैं। प्रत्येक **जीव** में जो सुषुप्त पुरुष है, वह तो जैसे उसमें जागृत नहीं, वैसे हमारे में भी नहीं है। इसीलिए वे सभी समान ही गिने जाय। उसमें कोई भी थोड़ाबहुत नहीं है, परंतु हमें तो प्रकृति को क्या करना है ? हमें तो प्रकृति को धकेलनेवाला, प्रकृति को चलानेवाला, उसे गति करवानेवाला जो मूल है, उसमें बरतना है और उसे अनुभव करना है। तो जिसका अनुभव करना है, उसका ही सतत एक-सा ध्यान हृदय

में, मन में, चित्त में, प्राण में, बुद्धि में और अहम् में किया करेंगे, वह जैसे जैसे अखंडित रहा करेगा, वैसे वैसे प्रकृति के साथ के खेल में हम मिश्रित होते बच सकते हैं, यह निश्चित जानना ।

'भीतर की' (आत्मा) जागने से क्या होगा ?

एक बार यदि 'भीतर की' (आत्मा) जाग जाती है, तो उसके बाद से प्रकृति का खेल कोई बंद नहीं हो जाता है । उसके बाद ही **जीव** को **जीव**पन का अभिगम जागता ही नहीं ऐसा कुछ नहीं होता । साधारण **जीव** को **जीव**दशा का अभिगम जागे उससे अधिक जोरदार अभिगम भी उसमें प्रकृति का कभी कभी तो जागता होता है । परंतु उसकी आत्मा जागी होने से वह उसे अनुमति-साथ-उसमें थोड़ा भी नहीं देता है । स्वयं एकदम अलग है ऐसे अलग रहता है । इससे प्रकृति का बंधन लगता या स्पर्श नहीं करता है । आत्मा जाग जाती है, उसके बाद ही चेतन के सही अस्तित्व का पता चल जाता है । ऐसे अनुभव के बाद ही **जीव** पूरा सज्ज हो जाता है, परंतु अभी जहाँ तक हम **जीव**दशा में हैं और प्रकृति के खेल में मिश्रित हो जाते हैं, वहाँ तक तो वह अव्यक्त रूप से जो चेतन हमारे अंतर में रहा हुआ है, उसे प्रत्यक्ष करने के साधनरूप हम प्रत्येक **जीव** में उसके आंतरिक स्वरूप में उसके प्रति का सद्भाव और गुण के रूप में हमें व्याप्त रहना है । यदि ऐसा किया करेंगे तो **जीव, जीव** के साथ का घर्षण कम से कम हुआ करेगा और होगा तो भी हमें नहीं होगा । **दूसरों को हम से घर्षण होगा, पर उसकी बिलकुल असर हम में जागी नहीं होगी । इससे वैसे अभिगम का कोई भी आघात-प्रत्याघात हम में उठनेवाले नहीं है, ऐसा होते अनुभव हो तो जानना कि हम में तटस्थता जागती जाती है ।** ऐसी कसौटी और परीक्षा में पार उतरे हुए और ठोस हकीकत से अनुभव हुए शांति, तटस्थता, समता आदि जो गुण हैं, उसकी सच्ची स्थापना होते ही अंतर्मुख विशेष से विशेष हुआ करते हैं, और ऐसे ही वे प्रत्यक्ष हकीकत में जीवित होते हैं । **वैसी दशा जब *जीव* में पकती है, तब ही आत्मा जाग जाती होती है । वह जागती है उसके बाद ही साधना का सही काम होने**

लगता है । इसलिए हमारा दृष्टिबिन्दु तो सतत वही हमारे सामने रहना चाहिए ।

जहाँ तहाँ से सीखा करो

जो **जीव** संसारव्यवहार से यदि खिसियाना हो जाय, तो वैसे **जीव** से साधना भी नहीं हो सकती । संसार में जहाँ तहाँ सभी जगह जहाँ देखो वहाँ मुठभेड़, घर्षण आदि है ही । उसका हेतु तो साधक के लिए ऊपर आने के लिए, अपनी आंतरिक शक्ति बढ़ाने के लिए है । उससे कहीं ऊँचे हैं और होना है, वह भान प्रेरित करने के लिए उन उन प्रसंगों का हेतु है, इसलिए प्रसंगों को अंतर में अंतर से गुरु समझना है । यह ज्ञान यदि हम में जीताजागता हो जाता है, तो फिर प्रसंगों का स्वीकार ह्रदय की उमंग से हो सकता है । ऐसी है उसकी खूबी और बाद में तो प्रसंग प्राप्त होते ही वह हमें क्या सिखाना चाहता है और किस लिए वह खड़ा हुआ है, वह समझ आते ही ह्रदय में उलटा आनंद आता है । जिस **जीव** का सीखने में ही यदि दिल न लगा हो, और सीखने के लिए उसमें अभी सूझ न आती हो, तो वैसे **जीव** से फिर साधना किस तरह से हो पाएगी ? इसलिए हमें तो जिसमें उसमें से सीखने की अंतरदृष्टि रखा करे, यही महत्त्व का ज्ञानभान रखना है, वह जानना । अनेक पत्र आश्रम में पढ़ाने जैसे हो, तो उसे पढ़वाना ।

● ● ●

सत्संग क्यों न फलेगा ?

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. २१-४-१९५२

‘किसी ऐसी आत्मा का हमें जीवन में संबंध हुआ हो कि जिस के अनुभवों से हमें भरोसा हुआ हो और जिसे बुद्धि से भी वैसे स्वीकार किया गया हो और वह भी भरोसापूर्वक, तब भी ऐसे अनुभवों से **जीव** क्यों ऐसा का ऐसा रहता होगा ?’ ऐसा किसी को हो तो उसकी समझ ऐसी है कि ऐसे हुए अनुभव से वे वे **जीव** अपनी मनोकामना, अपना अहम्, अपनी आशा-इच्छाएँ और स्वार्थ साधने में पड़ गये होते हैं ।

अपनी कामनाओं को संतोष करने में और अपनी माँगों को आगे रखने में पड़ गये होते हैं, वे वे **जीवों** को अपनी प्रकृति के झुकावों को तो देखना कुछ ही करना नहीं, उसे नकारने का तो उन्हें बिलकुल जाग ही नहीं सकता, स्वयं तो जैसे हैं वैसे का वैसा रहना है, और मात्र अपनी माँगों को रखा करना है, वैसे **जीवों** का तो क्या होगा ? वैसे जीवों के, अनेक वैसे प्रकार की माँगो को आगे रखने में पड़ गये होते हैं, उन उन **जीवों** को अपनी प्रकृति के झुकावों को तो देखने का कुछ ही करना नहीं, उसे नकारने का तो उन्हें बिलकुल जाग ही नहीं सकता, स्वयं तो जैसे हैं वैसे का वैसा रहना है, और मात्र अपनी माँगों को रखा करना है, वैसे **जीवों** का तो क्या होगा ? वैसे जीवों की, उनके वैसे प्रकार की माँगों को संतोष करने के कारण के हेतु के लिए भी, हृदय में जो प्रेमभक्ति उस आत्मा में जाग गई होनी चाहिए वह भी उन **जीवों** में नहीं होती है, ऐसे जीवित श्रद्धाविश्वास भी नहीं होते । ऐसे **जीव** स्वयं उस आत्मा को चिपके हुए मानते हैं और चिपके हुए हैं, ऐसी अज्ञानमूलक भ्रमणा में रहते हैं, यही उनकी सबसे बड़ी भूल है। ऐसे **जीव** किसी भी समय में या दिन के उनके दैनिक व्यवहारवर्तन में उस आत्मा की भावनाशक्ति हृदय में हृदय से कभी भी उतारना नहीं कर सकते । उस आत्मा का रचनात्मक रूप का विचार तो उनको जागता नहीं, जागता है तो उलटा लात मारने के लिए जागता है, तो फिर ऐसे **जीवों** का दूसरा होगा भी क्या ?

खाली खाली गुरु करने से कुछ भी नहीं मिल सकता । गुरु की भावना के अनुसार यदि मनहृदय से आचरण कर सकने के लिए हृदय की सचमुच उत्कट आतुरता और वह भी हृदय की सच्ची दानत से **जीव** में प्रकट न हुई हो, तो वैसे **जीव** का साधना में कभी प्रवेश हो सकनेवाला नहीं है वह निश्चित रूप से जानना ।

प्रेमभक्ति की अनिवार्यता

अनेक लोगों को ऐसा कहते सुना है कि 'अमुक महात्मा के पास अमुक **जीव** इतने सभी वर्ष रहा तब भी अभी उसमें तो कुछ ही फर्क पड़ा हुआ लगता ही नहीं है', पर फर्क पड़े किस तरह से ? **संतमहात्मा**

के पास मात्र रहने से कुछ मिलनेवाला नहीं है । उसके पास किस भाव से और किस तरह से रहना चाहिए, उसकी समझ दिल में पैदा हुई होनी चाहिए और पैदा हुई हो तो उस अनुसार वर्तन करने की दानत प्रत्यक्ष अमल में आती वह स्वयं अनुभव करे तो वैसे **जीव** को कुछ प्राप्त हो सकेगा । संसारव्यवहार में भी जिसकी मदद लेने की गरज जागती है, तब उसके साथ अत्यधिक हमारा **जीव** पहले भले ऊँचा हुआ हो, तब भी उसकी खुशामत हम करते हैं, उसके पास जाकर हम उसे अच्छा लगे वैसा व्यवहार करते हैं, तभी हमारा वह काम हो सकता है । तो यदि संसारव्यवहार में ऐसा होता है, तो साधना के क्षेत्र में तो इससे कितना अधिक उस बारे में हमारा प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक का व्याप्त होना चाहिए !

गुरु के प्रति राग तो करो

किसी संतमहात्मा के पास किसी **जीव** रहने का करने से उस **जीव** की प्रकृति पहले जो हो, उससे भी खराब हुई जरूर लगेगा, क्योंकि संतसमागम हृदय से करने का यदि **जीव** से हुआ करे, तो तो लाभ ही हो, क्योंकि हृदय में तो कभी अहम् होता नहीं, जब हम सभी को तो अपने अहम् को छोड़ना ही नहीं । गले गलाकर ऐसे अहम् द्वारा उस बेचारे संतमहात्मा को उलटा धक्का मारा करना है । हमारे **जीव**स्वभाव की प्रकृति के झुकावों को इनकार किया करना ही तो **जीव** को बिलकुल सूझता नहीं है । तो फिर वह संत बेचारा क्या करे ? हम **जीव**दशा में भले हों पर यदि ऐसे उच्च कोटि की आत्मा में हमारा सचमुच का राग हो जाये, तब भी वैसे **जीव** को उँचा आने जैसा हो सकता है, यह भी निश्चित बात है । पर किसी **जीव** को संत के हृदय के साथ ऐसे हृदय का एकराग भी करना हुआ न हो या बनता न हो तो फिर, बोलो ! क्या कहना, बोलना और लिखना ? जिसके पास से हमें सीखना है, उसके पास से सीखने के लिए हृदय का सत्कारभरा स्वीकार और ऐसी प्रेमभक्तिज्ञानयुक्त भूमिका **जीव** में प्रकट हुई होनी चाहिए, तभी सीखने का हो सकता है ।

गुरु को न धमकायें

जो **जीव** साधना करने के लिए आये हो और बाद में उस तरफ उनका लक्ष ही यदि न रहा करता हो और उस संत को ही उलटा टोका करें, उनका छिद्रान्वेषण मन से खोजा करे, और खोजा करे इतना ही नहीं, पर उसमें अमुक तो खुश होते हैं, तो उस समय में वैसे **जीवों** के साथ का अपने हृदय के सहकार को भी वह छोड़ देता है । उस समय हम जो सभी **जीव**दशावाले होते हैं, उसके कैसे हालहवाल हो जाते हैं ! अंततः अकेले, एकान्त और उसमें भी कहीं चैन ही न मिले, और अपार अशांति के दोज़ख में पड़े-पड़े इससे जलते रहते हैं, ऐसा अनुभव तब उन-उन **जीवों** को होता रहता है ।

सद्‌गुरु का अविचल प्रेम

यदि कोई प्रश्न करे कि 'हम तो बिलकुल पामर बेचारे **जीव** हैं, पर वह तो महान् आत्मा है, और उनका प्रेम तो अपार होता है, उसे कोई आघात-प्रत्याघात है ही नहीं, तो फिर वह ऐसा क्यों करे ?' प्रेम के, उसके असली स्वरूप के, हम **जीव** हैं, तब तक सही रूप में समझ सकनेवाले ही नहीं हैं । प्रेम तो परम उदात्त शिक्षक है । प्रेम तो जगाना चाहता है, प्रेम सिखाना चाहता है और प्रेम के वर्तन के अनेक पहलू होते हैं । एक पहलू से जो न हो सका तो वह दूसरी तरह बर्ताव करता है । और वह यदि हम से उसका सहकार खींच लेता है, तो वह भी हमें चेताने, जगाने और जगाकर ऊपर उठाने के लिए । यदि हम उस तरह उसे वैसे ज्ञानभान में हृदय में उतारकर समय पर उसमें हमारे हृदयमन को प्रेमभक्ति से पिरोकर हृदय की सच्ची दानत से प्रयत्न करना करेंगे, तो वह तो फिर वह का वही है । हम ही मात्र बदलते रहते हैं, और वह भी बदलाया करते हैं, वह हमारे **जीव**दशा के स्वरूपों में, जब कि उसे तो बदलने जैसा रहता या होता नहीं है ।

साधना की शर्तें

इसलिए यदि जीवन को साधना के लिए ले जाना हो तो साधना का ख्याल महत्त्वरूप से जीवन के सकल कुछ होते कर्म में रखा करने का प्राणवान प्रयत्न हृदय में हृदय से होता जाना चाहिए । कोई कहे कि यह तो हमारे से नहीं होगा । तो वैसे **जीव** को साधना का नाम छोड़ देना चाहिए । साधना करने के लिए श्रद्धा, आत्मसमर्पण, अपने मन के, स्वभाव के, प्राण के और बुद्धि के झुकावों को जोरदार और धक्के से ज्ञानपूर्वक इनकार करने के लिए की प्रेमपूर्वक की तैयारी और यदि सच्चे हृदय से गुरु किये हो तो उसमें वैसी श्रद्धा हो वैसे बरतने की कला – इतना उसे जीवित लक्ष रख रखकर करना होता है । **साधना करने के लिए गुरु करने ही चाहिए ऐसा कुछ नहीं है । स्वयं अपना ही गुरु बन सकते हैं । मन का गुरु मन भी हो सकता है । तो इस तरह स्वयं स्वयं को वफादार बने रहना है । साधना करनेवाले को जिसमें और उसमें अपने हृदय को सर्वभाव और सर्वरीति से आरपार पीरो देना रहता है ।**

प्रभुकृपा से साधना के लिए प्राप्त स्वजनों को भविष्य में वे मुझे दोष न दें उसके लिए इतना पत्र प्रार्थनाभाव से लिखा है । यह पत्र भविष्य में छपनेवाले पुस्तक में छाप देंगे ।

● ● ●

निराशा अर्थात् प्रेम का अभाव

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. २२-४-१९५२

अतिशय निराशा के वातावरण की पकड़ में तुम थीं, और उस बारे में तुम्हारा पत्र मिला । यह जानकर अभी तुम्हें सच्चे जीवन की या हृदय के प्रेम की सही सूझ या उस बारे में सूझबूझ पड़ी हुई नहीं है यह बात निश्चित है । जो **जीव** को हृदय की सच्ची भावना जागती है, उसे निराशा नहीं आ सकती । जिस **जीव** को अपने जीवन के आदर्श को जीवन में प्रत्यक्ष आकार लेता अनुभव करने का हृदय में ज्वालामुखी जैसी धधकती

तमन्ना जागी होती है, वैसे **जीव** के लक्षण अलग होते हैं । अभी हमें जीवन की कुछ ही पड़ी नहीं है । एवं हृदय के प्रेम की भावना की हकीकत का भी कुछ सच्चा भान प्रकट हुआ नहीं है, यह बात भी निश्चित है ।

नामर्द मनुष्य संसार में जीये तब भी बेकार है । नामर्द से कुछ भी नहीं हो सकता है । नामर्दाई जैसा दुर्गुण दूसरा कोई नहीं है । नामर्द मनुष्य कभी खड़ा ही नहीं हो सकता । उसका साथ भी बेकार का । वह तो सदा उत्साहहीन ही हो जाय । तो क्या हमें नामर्द बनना है ? या रहना है ?

साधक अर्थात् क्या ?

जब जब किसी भी प्रकार के भँवर में फँस जाएँ, उस समय यदि उसमें से उठने का दिल न हो, तो जानना कि उठने की जागृति अभी हम में प्रकट नहीं हुई है, उसका ऐसा भी अर्थ हो कि अभी **जीव** को **जीव**पन में ही राचने का दिल है । यदि **जीव** को **जीव**पन में राचने का दिल न रहता हो, और वैसे हमले आयें, तो उस समय अपनेआप **जीव** उसका विरोध करेगा ही । ऐसा **जीव** उस समय विरोध किये बिना रह नहीं सकता है । जो जो ऐसी नकारात्मक वृत्ति, भाव, विचार, मनोभाव, कामनाएँ, आशाएँ, इच्छाएँ आदि तथा पसंद-नापसंद अमुक-अमुक रीत की पड़ी हुई समझ के रूप में ही सोचना हो, अमुक अमुक पड़ी हुई गुत्थी, समझ, आदत यह सब जिस समय व्याप्त हो, उस उस समय उनका ज्ञानपूर्वक का इनकार और वह भी सतत करे ऐसी जागृति जिस **जीव** को प्रकट हुई है, वैसा **जीव** साधना करता है ऐसा मानें ।

साधना की तीन शर्तें

निर्देश अनुसार जिस **जीव** से नहीं हो पाता, उसे साधनामय जीवन का विचार ही छोड़ देना चाहिए, क्योंकि साधना करनेवाले के लिए जीवन-कार्य की धधकती प्रकट हुई तमन्ना यह पहली अनिवार्य शर्त है । मूल में यदि वही न हो तो कुछ भी नहीं हो सकता है । यह हो तो उसके बाद प्रकृति के अनेक प्रकार के भाव उगे, उठें, उस उस पल **जीव** को

उनका ज्ञानपूर्वक इनकार किया करना रहता है। और तीसरी हकीकत जो तो सब **जीव** को श्रीभगवान के चरणकमल में प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक समर्पण किया करना होता है। ये तीन शर्तें शुरू शुरू में तो साधक होने के इच्छुक **जीव** के लिए अत्यधिक आवश्यक हैं। **यह** हकीकत भारपूर्वक तुम्हें बतलाना चाहता हूँ कि जिससे बाद में तुम मुझे दोष न दे सको।

गुरु की मदद कब ?

गुरु यदि वह सच्चे अर्थ और भाव में वैसे हकीकत में प्रमाणित हुए लगे हो, तो फिर साधक को उसमें श्रद्धाभक्ति, विश्वास, भरोसा हमेशा जीवित दृढ़ कर-करके गुरु के हृदय के साथ प्रेमभक्तिभाव से हमारा हृदय, उसके हृदय का उत्कट से उत्कट ऐसी आतुरता से स्वीकार हो, उसका सत्कार करे ऐसे प्रकार की आतुरता से, भावना से उसके हृदय के साथ सद्‌भाव से एकभाव से मिल जाये, घुल जाय और ऐसे हृदय की प्रकृति के झुकावों के समय उससे प्रार्थना सचमुच भाव से यदि हृदय में हुआ करे, तो अवश्य मदद मिलती है ही। ऐसा प्रभुकृपा से **इस जीव** का अनुभव हुआ है। मनुष्य की कसौटी-परीक्षा भी प्रसंग आने पर ही पता चलती है। 'प्रसंग में जो खड़ा रहे वही स्वजन' ऐसी कहावत भी है, पर उसे सूक्ष्मता से सोचें तो बिलकुल अलग ही अर्थ निकल सके। यदि साधना ही करनी हो तो **जीव** को मामूली रूप से बरतने का छोड़ ही देना पड़ेगा। साधना करनेवाले के दिल की सच्चाई, उनकी नेक दानत और उसका शौर्य, धीरज, हिंमत, साहस आदि उसके आचरण में वैसे वैसे प्रसंग आने पर बर्ताव होता जाएगा।

रण तो शूरा का

यदि जीवन की खेवना ही जिसे जागी नहीं, वैसे **जीव** से मात्र कहने से साधना नहीं हो सकती है, यह भी ठोस हकीकत है। इससे स्वयं अपने को पहले पूरी तरह से जाँचते रहना है। नहीं तो फिर हमें साधना की बात छोड़ देनी रहती है और हम जीवन में प्रभुकृपा से मिले हुए हैं तो हम एकदूसरे के परस्पर हृदय से योग्य भाव से समझने के लिए यत्न

करें । यों जीवन में परस्पर हृदय का सद्भाव प्रकट करते हुए जीयेंगे तो भी पर्याप्त है । साधना पराक्रमी के लिए है । जो **जीव** को यज्ञभाव से अपने सिर काट काटकर श्रीभगवान के चरणकमल में रखा करने में हृदय का आनंद सहस्रगुना प्रकट होता है, वैसे **जीव** का साधना करने का काम है, बाकी का नहीं । जिस **जीव** को यज्ञवेदी में स्वाहा होकर उसका नैवेद्य श्रीगुरुचरणकमल में चढ़ाने का हृदय का उत्साह है, ऐसे **जीव** में गुरु का **जीव** रम सकता है । इससे अभी कहीं कुछ बह नहीं गया है । प्रारंभ से सोचें कि जिससे भविष्य में कोई इस **जीव** को दोष न दें । यह पत्र आश्रम में भी सभी को पढ़ाना कि जिससे वे भी साधना का नाम छोड़ दें ।

● ● ●

माँ का दृष्टांत

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. २२-४-१९५२

मुझे किसी भी **जीव** के बारे में कोई निराशा नहीं होती है । आशा रहती है, क्योंकि जो **जीव** हृदय की भावना से संबंध में आया होगा, उसका संबंध तो टिकेगा ही । हृदय का जो प्रेमभाव है, वैसे प्रेमभाव में आशा केवल मात्र होती है वैसा भी नहीं है । हृदय का प्रेमभाव जब शिक्षक के क्षेत्र में उतरता है, तब वैसे भाव में भी उसे उतरना ही पड़ता है । माँ जैसे बालक के प्रति अमुक बार नाराज भी होती है, उसका कारण उसका बालक के प्रति का प्रेम ही होता है । बालक को हठीला, जिद्दी और अशोभनीय आचरण करते देख, वह किसी तरह भी नहीं मानता ऐसी उसकी वृत्ति को देखकर माँ के दिल में उसके लिए वैसा होता है । वह कभी बालक पर गुस्सा भी होती है, यद्यपि यह सब **जीव**दशा में हुआ करता है, पर तब भी अंतर्गतरूप से माँ का बालक पर का प्रेमभाव इससे कम नहीं होता है ।

सद्गुरु का सदा सहकार

परंतु आध्यात्मिक क्षेत्र में गुरु की चेतना-भावना उसके प्रति आकर्षित हुए साधक के साथ सहकार करने को हाथ लंबे रखे ही होती

है, परंतु उसका अर्थ और हेतु सार्थक होता यदि न अनुभव हो, तो वैसा सहकार (प्रत्यक्ष रूप से) खींच भी लेता है । इससे उसका प्रेमभाव कम हुआ है, ऐसा कुछ भी नहीं होता । जो कोई **जीव** उसके सहकार का सत्कार और सद्‌भाव से हृदयपूर्वक स्वीकार नहीं करता, वहाँ वह बेकार में ही नहीं पड़ा रहता है, यह बात ठोस हकीकतरूप से है । यह सब **जीव** से मानने में आये या न आये वह फिर अलग बात है, परंतु इससे करके जो हकीकत होती है, वह हकीकत मिट नहीं जाती । इसलिए मेरी तो सभी से बिनती है कि जो करने को निकले हों, उसमें यदि हमारे मन, चित्त, प्राण, बुद्धि और अहम् आदि करणों को मोड़ा देने हृदय की नेक दानत जीवित न रह सकती हो और ऐसा जिस **जीव** को अनुभव से लगता हो वैसे **जीव** को साधना का नाम छोड़ देना ही योग्य है, कि जिससे उसे भविष्य में उस विषय में निराशा न हो । दूसरे किसी के सिर पर दोष का टोकरा उड़ेलना न बने ।

सच्चा साधक

जो **जीव** सचमुच का साधक है, वह तो कठिनाइयों, विघ्नों आदि जीवन में प्रकट होते अधिक सज्ज रहता है । **इस जीव** की जीवनकथनी लिखूँ उसमें सार भी न हो, पर महात्मा गांधीजी के जीवन को देखो और सोचो । उन्होंने स्वयं अकेले हाथों, कितनी सारी कठिनाइयाँ तथा बाधाएँ आने पर, कितना अधिक पुरुषार्थ किया है ! निराशा की पलों जैसा बहुतों को लगता, तथापि वे तो सतत अपने ध्येय के पथ पर लगे रहे थे । ऐसा जहाँ प्रत्यक्ष लगे, वहाँ वैसा **जीव** सच्चा आरपार पारदर्शक है ऐसा गिन सकते हैं । ऐसे **जीव** को हम जैसे पामर **जीवों** को पाने या मापने का करे वही हमारा अज्ञान और मूर्खता है । ऐसों को यदि सचमुच हृदय से समझना चाहते हैं, तो उस तरह जी करके वैसा हो सकता है ।

साधक तो उसीका नाम कि जो अपने जीवनआदर्श के सामने उसकी नज़र सदा ही ज्वलंत रखा करें । उसके आदर्श के विरुद्ध की क्षणों में वह कोई आँख नहीं बंद कर सकता है । वैसी उगती नकारात्मक दशा को हृदय से कभी भी संमति वह नहीं दे सकता । वह अवश्य समाधान

करता होता है, वह तो उसकी दृष्टि, आदर्श को पा सकने की दशा की भूमिका उत्पन्न करने या करने के लिए उसका वैसा जागृत लक्ष हृदय में होता है। साधक के दिल की भावना नरम भात जैसी ढीली गुदगुदी कभी नहीं हो सकती है। वह तो सदा ही प्रज्वलित रहा करती है। ज्ञान पाने के लिए वह सदा उद्यत और उत्सुक रहा करती होती है। साधक कैसे भी तूफान के सामने पर्वत की तरह टिककर खड़े रहने की हृदय की सारी शक्ति को और प्रभुकृपाबल को प्रार्थनाभाव से निमंत्रित करके जीया करता रहता है। साधक निराशा को कभी वश नहीं होता है। ऐसी पल उसके जीवन में आती हैं सही, पर वे पल यानी कि उसके आदर्श को भी धूल में मिला दे ऐसी दशा, संयोग या परिस्थिति आये तथापि वहाँ भी वह प्रभुकृपाबल से स्थिर खड़ा रहता है।

साधक कभी अपने को अकेला, तनहा और एकाकी मान ही नहीं सकता। अपने साथ उसके जीवन के आदर्श का हृदयबल इतना तो जीताजागता उसमें होता है, कि उसके प्रभु की कृपा के साथ को पलभर भी हृदय में हृदय से भूलता नहीं है। इससे वैसा साधक किसी भी विपरीत परिस्थिति में भी अपने आदर्श से हट नहीं सकता। साधक का कभी गिरने का होने पर भी, उसमें ही वह पड़ा नहीं रह सकता। गिरने में भी उसका एकाग्र और केन्द्रित ज्ञानभान तो उठने में ही रहा हुआ प्रचंडरूप से व्याप्त होता है। ऐसे लक्षणोंवाला साधक वही सच्चा साधक है। उसके जीवन की भावना की तेजस्विता की मात्रा किसी के साथ तुलना की जाय वैसा नहीं है।

चक्रवात और प्रचंड तूफानों के सामने होने का बल साधक को आपने अंतर से पाया करता होता है, क्योंकि उसके आदर्श की उत्कट आतुरता उसके हृदय में कभी भी धुँधली नहीं होती है। वह तो जिसमें उसमें से अपने मार्ग का हल निकालने की दशा में ही जीने को हृदय से यत्न करता रहता है। जीवनआदर्श की विरोधी ऐसी सभी कोई परिस्थिति को स्वयं अधिक शक्तिमत्ता पाने की स्थिति समझता है, तब वह प्रभुकृपाबल को हृदय से निमंत्रित करके अधिक सतेज बनता है।

ऐसी है जीतीजागती साधक की भावना । ऐसी भावना का प्रचंडरूप जो **जीव** को रह सकता है वैसा **जीव** ही साधना कर सकता है, बाकी का तो सामर्थ्य नहीं । यह सभी हकीकत किसी को भी निराश करने के लिए नहीं है, पर सच्ची वस्तुस्थिति का ज्ञानभान करवाने के लिए है, यह सभी जाननाजी ।

● ● ●

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. २३-४-१९५२

आनंद से रहना । तुम्हें निराश करने या दिलगीर करने के लिए कुछ नहीं लिखा है । पर तुम्हें भान प्रकट करने के लिए लिखा है, इसकी हृदय से कदर करना । यों निराश होने से नहीं चलेगा । हमें तो मर्द की सोबत उपयोगी है । इसलिए पागलपन छोड़ देना और बुद्धिमान बनना । उस समय सद्गुरु मानो हैं ही नहीं ऐसा तू मानती है न ? खाली खाली 'मोटा' कहने का कोई अर्थ नहीं है ।

● ● ●

गुरुस्मरण सब बोझ हलका करे

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. २३-४-१९५२

हमें अत्यधिक काम करना आये और शरीर को उसकी आदत न हो, तब भी वह करना आये तो उससे शरीर को थकान होती है, तब भी काम करने का दिल करके जैसे जैसे काम करते जाते हैं, वैसे वैसे काम अधिक से अधिक मिलता है, पर काम मिला करे वही दशा उत्तम । महात्मा गांधीजी कितना अधिक काम करते थे ! कृपा करके निराश मत होना । मर्द बनकर ही जो भी हो करना । पर काम मिलता है, उसमें यदि मन को स्मरणभावना में पिरो रखकर यदि हो सका तो भगवान उसमें मदद करता होता है । 'धी सोंग ऑफ बर्नाडेट' नामक चलचित्र मैंने देखा था । वह बहन फ्रांस में संत हो गई । उसे कितना अधिक काम मिलता ! तथापि वह थकती नहीं थी । उसे जो पैर में दर्द था, वह तो ऐसे प्रकार का था कि जिसकी वेदना सहन ही न हो सके । ऐसा जब डॉक्टर ने उसे जाँचा तब उस मठ की मुख्य जो बहन थी, उन्हें वह हकीकत कही । वह बहन संतकोटि में आ जाने के बाद उसे स्त्रियों के

मठ में रखा गया था । उसकी जो अवहेलना और तिरस्कार होता, वहाँ जो उसकी क्रूर मज़ाक की जाती, जिस तरह वह तिरस्कार पाती थी, तथापि वह सब प्रभु का प्रसाद है, ऐसा वह हृदय में स्वीकार करती । उसकी एक अंग्रेजी पुस्तक भी है, और यह सत्य हकीकत है ।

हमें तो ऐसे ऐसे दृष्टांतों को अपनी नजर के सामने रखने होते हैं । **काम से डरे वह साधना क्या कर सकेगा ?** थोड़े से रिझाना नहीं होता । यह तो जैसे जैसे कुछ ठीक होता जाय, वैसे वैसे आगे की मात्रा भी बढ़ती ही जायेगी । यहाँ तो जहाँ तहाँ से मरने जैसा है । जो मर्दानगी से मरता है वही जीता है । काम तो ढेर सारा करते हों, पर उसमें यदि हृदय की उमंग और कर्म का हेतु – यह सब कर्म करते समय यदि हृदय में प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक जीतेजागते न रह सके, और जो तो सब उस उस पल में उसके चरणकमल में समर्पण किया करने की जागृति न रह सकी, तो किसी भी प्रकार का **जीव** काम के बोझ से लदकर टूट ही पड़े । इसलिए काम और मन को स्मरणभावना में पिरोकर ही उपयोग करना है । इसलिए मेरी तुझसे प्रार्थना है कि हमारे जीवन में आते विपरीत संयोगों भी हृदय को सद्‌गुरु के हृदय के साथ प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक मिलाकर यदि प्रार्थना करती रहोगी तो तुम्हें ऊष्मा, सहानुभूति, प्रेरणा, ताकत मिलती प्रभुकृपा से अनुभव कर सकोगी, पर यह सब मुझसे होता है, वैसा कहने का उद्देश तो बिलकुल नहीं है । **इस जीव** में तो कुछ भी जला नहीं है, पर जो **जीव** जिसके प्रति भावना से हृदय में हृदय से प्रेरित होता है, उसे वैसी वैसी भावना का महत्त्व अत्यधिक है । फिर, जिस **जीव** को प्रभुकृपा से साधना करनी है, वैसे **जीव** को उसका ज्ञानभान यदि न रह सकता हो तो वैसे **जीव** से कभी साधना नहीं हो सकेगी, यदि साधना करनी ही है तो वैसे **जीव** को वैसा ज्ञानभान प्रकट किये बिना भी चलनेवाला नहीं है ।

अतिशय काम से लाभ

मुझे मिले हुए स्वजनों के जीवनविकास के लिए प्रभुकृपा से काम तो ढेर सारा मिला और बस मिले ही करे ऐसा मैं तो सदा

चाहता रहता हूँ... भाई आदि वह हकीकत जानते हैं, वे पूछकर देखना। काम में से सिर उठाने का भी समय नहीं है, और एक काम पूरा होते ही दूसरा काम सवार होकर खड़ा ही होता है, ऐसा हुआ करे तो वह मुझे अधिक पसंद है। बिना काम का मन शैतान का घर होता है, इससे अच्छा तो काम करते करते शरीर टूटे उसकी कोई बाधा नहीं। **कर्म तो प्रत्यक्ष यज्ञनारायण है। कर्म में यदि प्रभुप्रीत्यर्थ की भावना रहे तो कर्म करते करते कभी थकान नहीं होती है ऐसा अनुभव है।**

हिंमते मर्दा तो मददे खुदा

प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक के हृदय और सद्‌भाव से हृदय को मिश्रितकर उसमें मिलकर वहाँ गल जाकर उसकी प्रार्थना किया करने के प्रयोग करने का यदि शहूर न जाग सकता हो, तो फिर 'मोटा' क्या मरे ? उलटा मुझे तो ऐसी कथनी सुनकर अधिक त्रास होता है। मुझे तो ऐसे स्वजनों की आवश्यकता है कि जो पलपल जीवन को प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक न्योछावर किया करे और ऐसे न्योछावर होने में तो हृदय का निरा भक्तिभाव हो। जिसके वर्तन में निरा भक्तिभाव होता है, ऐसा भक्तिभाव थोड़े ही छिपा रह सकता है ? हृदय की उमंग तो व्यक्त हुआ बिना रह नहीं सकती है। निराशा, उद्वेग, संताप, त्रास, ऊब, कठिनाई आदि छिपाने पर भी छिप नहीं सकते, समझपूर्वक कोई **जीव** वैसा करे तब भी उसकी निर्बलता के क्षणों में उसने जोर देकर दबा रखा जो होगा, वह बाहर निकले बिना रहेगा नहीं।

इससे तुम्हें निराशा हो तो मुझे न लिखना ऐसा उसका हेतु नहीं है, पर निराशा होने पर उसके साथ किस तरह ज्ञानपूर्वक का संग्राम किया, ऐसा शूरवीर पराक्रम से भरपूर, जीवन के न्योछावरी के बलिदान की कथा मेरे तो काम की है। मुझे किसी के दुःख नहीं सुनना है। ऐसा रोना तो **जीव** को नामर्द बनाता है। किसी भी विकट संजोगो में जो **जीव** जवांमर्द बनने का कर सकता होता है, वह भले ही कदाचित् हारे पर वह हार में से विजय पाने की ही भावना में और उस प्रकार के प्रयत्न में मन में मग्न रहा करता होता है। कुछ भी होने पर जो **जीव** प्रभुकृपा

से टट्टार खड़ा रहना सीखता है, और उसमें प्रभु की सहायमदद का हाथ को प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक हृदय में हृदय से अनुभव करता है, वैसे **जीव** को कहीं अकेलापन नहीं है । वह तो शत्रुओं के घमासान के बीच और बोम्बमारे के बीच भी आरामवाला रह सकता है । **इस जीव** को ऐसे स्थूल अनुभव तो हुए नहीं है, पर आंतरिक हमलों के भयानक अनुभव हैं । इससे साधना के लिए सतत एक-सी उस प्रकार की जागृति की अनिवार्य आवश्यकता रहती है, वह जानना । जो हिंमतपूर्वक हृदय में भगवान की धारणा करता है, वैसा **जीव** ही टिक सकता है । इसलिए मर्द बनकर जीने का करना ।

● ● ●

प्रसंग से प्रसन्नता पाओ

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. २५-४-१९५२

साथ के कल के पत्र से नाराज़ होने की जरूरत नहीं है । साधना के पथ पर जाना हो तो अत्यधिक कठिनाई, उपाधि आदि से होकर जाना पड़ता है । यह सब जीवननिर्माण के लिए है, वैसा ज्ञानभान साधक को उसमें रखना होगा, वह भान तुम्हारे हृदय से अधिक उत्कट हो, उस हेतु को प्रेरित करने के लिए जो तो लिखने का होता है ।

मुझे किसी के लिए निराशा नहीं होती । आशा रहा करती है, क्योंकि मनुष्य में चेतन तो पड़ा ही है । मात्र उसकी दिशा-मुँह बदलने का रहता है । मुँह बदल जाता है, तब सब बदल गया लगता है । किसी से न ऊबे । अकुलाहट हो तब संताप न करे । शांत मन से उसका इनकार करो । मन को समझाओ कि ऐसा करने से तो उलटे अशांति, उद्वेग, क्लेश आदि बढ़ेंगे और इससे दृष्टि निर्मल नहीं ही रह सकेगी । उलटा औंधा ही लगा करेगा, इससे वैसा लगने से तो मन को त्रास, संताप अधिक हुआ करेगा । तो हमें करना क्या है ? शांति, प्रसन्नता आदि प्रकट हुआ करे वैसा झुकाव रखना है या फिर जैसे तैसे बहा करना है ? ऐसा बारबार मन को हृदय से समझाया करना है । ऐसा प्रसंग पड़ने पर मन ऊँचे से ऊँचा हमें उनकी कृपा से रखा करना है । बाकी तो संसार के किचड़

में ऐसे रगड़ेगे कि न पूछो बात। तो फिर मन को उसमें से बाहर खींचे, वह **जीव** के लिए महा भारी प्रयत्न से भी होनेवाला नहीं है। मन को — हमारे निम्न मन को — तो उसमें ही राचने का बहुत काल से ऐसी लीक पड़ी है, उसीमें ही तो वह रहा करेगा, परंतु हमारा वह मार्ग नहीं है। इससे प्रत्येक प्रसंग में से जो **जीव** जीवनविकास के लिए बहुत कुछ प्रत्यक्ष अनुभव पर से सीखने का करता है, उसे प्रसंग में से प्रसन्नता, शांति मिला करती है, ऐसा प्रभुकृपा से **इस जीव** का अनुभव है। इससे प्रसंग यह गुरु है। ऐसा सूत्र यह जीवन के साररूप से जिस तिस को कहा करने का हुआ करता है।

पुनरावर्तन द्वारा जागृति

जिसे जिस बात में जितना लगा, उसे उस बात में उतना समझ आया। फिर वह संसार के क्षेत्र का हो या फिर दूसरा कोई क्षेत्र का हो। यह भी अनुभव की हकीकत है। इससे ऐसा ख्याल में रखा करना है। जिसमें और उसमें प्रभु की भावना हृदय में हृदय से विकसित किया करने का प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक का अभ्यास किया करना है। इससे उस प्रकार की हृदय की जागृति अखंड एकाकाररूप से रहा करे वह साधक के जीवन के लिए अति आवश्यक है। एक की एक बात अनेकबार लिखना मुझे होता है। इससे वह हकीकत अधिक गहराई में उतरे और उसका महत्त्व **जीव** से समझा जाय ऐसा हेतु उसमें होता है।

साधक पत्र में क्या लिखे ?

तुम मुझे तुम्हारी हकीकत विस्तार से लिखो वह तो अवश्य चाहता हूँ, पर क्या लिखना और मन पर किस तरह लेना और क्या लिखने से मन पर अच्छी असर होती है वह भी सीखना है। इससे प्रसंग, वृत्ति, विचार, भाव आदि जो जो हुआ करे उसमें **जीव** को किस भाव से कैसा-कैसा सामना किस तरह किया, कब किस तरह प्रभु की कृपामदद माँगने के लिए प्रार्थना हुई, उसके सामने किस तरह टिक सके, ऐसे संग्राम की हकीकत स्वयं लिखने से हमारी जागृति को पोषण मिलता है, और मन

अपने बारे में अधिक सावधान रह सकता है । कहाँ निर्बलता से लड़ाई छोड़ दी, उसका भी उसे भान आता है, उस समय कैसे टट्टार रहना चाहिए था, वह भी उसे अंतर में अंतर से समझ आती है । मन को निराशा से अधिक आशा के विचार में रखने की जरूरत रहती है । उसने कितना सारा प्रभु का कर्म प्रेमभक्ति से किया, कितना स्मरण किया और कितना **जीव**दशा में जाते जाते मन को सभानपन से रोकने का जीताजागता प्रयत्न हुआ, ऐसी कथनी साधक को मनोमंथन से लिखनी होती है । जीत मिलने से साधक में आत्मविश्वास की मात्रा बढ़ती होती है । मन को मात्र जीतना है, इतना ही कार्य साधक का कुछ नहीं है । मन को प्रभु की भावना में रंग देना है, इतना ही मात्र पर्याप्त नहीं होता, पर जीवन में प्राप्त होते सभी प्रसंग, व्यवहार, वर्तन, संबंध और जिस तिस के साथ के संपर्क में उसकी वैसी प्रभुमय दृष्टि, वृत्ति और भाव उस प्रकार के रखवाने के लिए मन को उसने कैसे कैसे भाव धराने का करवाया, यह सब रमणीय इतिहास साधक के जीवनारंभ के लिए रचने की जरूरत रहती है ।

श्रद्धा

आत्मविश्वास प्रकट होने पर उसमें धीरज, साहस, हिंमत, बल, सहानुभूति, सहनशीलता, विवेक आदि गुण उसमें प्रकट होते हुए वह अनुभव कर सकता है । **जीव** में श्रद्धा यदि हो तो श्रद्धा से तो पराक्रम प्रकट होना चाहिए । जिस विषय में जिसे श्रद्धा प्रकट हुई होती है, उस विषय में श्रद्धा उस **जीव** को लगाये रखती है, ऐसा है श्रद्धा का लक्षण ।

तप से शुद्धि

घबरा जाने से साधक का काम उलटा बिगड़ता है । जो तो कोई सहन करने का आये वह तप की भावना रख रखके प्रसन्नता से जीवन के लिए सहना होता है । ऐसे सहनेपन में से कभी भी त्रास, ऊब जन्म नहीं ले सकते हैं । उलटा **जीव** अधिक उदात्त, अधिक चेतनावान होकर प्रकट होता है ।

अस्तुरा पत्थर पर घिसे बिना नुकीला नहीं होता। वैसे ही जीवन को तपाये बिना उसकी शुद्धि भी नहीं होती है। शुद्धि पाने के लिए तपना अत्यधिक महत्त्व का है। इससे प्रसंगों में शुद्ध होने के लिए हृदय में हृदय से जीताजागता ज्ञानभान प्रभुकृपा से साधक को रखना है। यदि वैसा कर सकेगा तो सब कुछ में उसे कभी निराशा प्राप्त नहीं होगी यह अनुभव से कहता हूँ। भले मानों की हम **जीव** हों और प्रवाह में बह रहे हों तो आवाज़ देने का तो भाव आयेगा न? बहता हुआ मनुष्य कैसी आवाज़ देता है, और कैसा मरजिया प्रयत्न बचने के लिए करता है! वैसा बहने पर साधक के हृदय में भावना प्रकट होनी चाहिए, उस समय आर्त और आर्द्र आवाज़ से प्रभु की कृपामदद के लिए यदि हृदय में हृदय से प्रार्थना करने का बनता है, तो मदद मिलती ही है, यह निश्चित मानना। मात्र तुम्हें इतनी प्रार्थना है कि हृदय से प्रयोग करती रहना।

● ● ●

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. २६-४-१९५२

निखालिसता तो अत्यधिक आवश्यक है। तुम अपने पर आये पत्र को वहाँ आश्रम में पढ़ाओं उसमें मुझे बाधा न हो, पर उनको उनके पर लिखे हुए पत्र यदि तुम्हें पढ़वाने का दिल हो तो मुझे कोई भी बाधा न हो, पर किसी का कुछ पढ़कर मन में कुछ लाना नहीं। मन में कोई विचार, मत या भावना होने न देना। इतना हो सकता हो तो वह योग्य है। तुम्हें लिखे पत्र तो सर्वसामान्य हैं। वे तुम्हें भले लिखे हों पर वह सभी साधक-स्वजन को उद्देश करके लिखे हुए हैं, कि जिससे सभी के उपयोग में आ सके।

● ● ●

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. २६-४-१९५२

इस जीव में किसी का कुछ जान लेने की शक्ति नहीं है, किसी के विचार भी जान लेने की कला भी उसमें नहीं है। वैसा तुम्हें तथा परिचय में आये अन्य **जीवों** को यदि वैसा लगा हो तो उनका **इस जीव** प्रति का सद्भाव है।

कभी कभी कोई **जीव** अमुक प्रकार का हमला करे, उस समय मेरा प्रिय भगवान उसे मठारने को वैसे वैसे उपाय करवाता हो तो उसकी लीला वह जानें ।

'अनुभव' सच्चा कब ?

'जीवनारंभ' में लेखक के निवेदन में लिखा है, कि **'यह जीव** तो गधे जैसा है । बोझा भी उठाये है और ऊपर से डंडे भी खाने मिले । भार वह भी जैसा तैसा नहीं, उठाया जायेगा कि नहीं उसका भार लादनेवाला कहाँ सोचता है ! थोड़ा खड़ा रहा (श्वास खाने) कि डंडा पड़ा ही समझो ।' ऐसे डंडे तो हम खाते हैं । कोई मुँह पर मारे, कोई मन में मारे, कोई मौन मारता है, कोई गुस्सा करे, कोई चिढ़ चढ़ाये और कोई कलंक भी लगाये । कोई फिर अलग अलग इलकाब भी दे । इससे हमें किसी का कहीं मानना करना नहीं है । हमें अनुभव से जो जो हो उसे सच्चा जानें । जो ऐसा अनुभव से लगा हो, यदि वह सचमुच वैसा हो तो फिर उसमें से वापिस पड़ने जैसा नहीं होता, उसीका नाम सच्चा अनुभव है ।

प्रसंग किसे सिखाते हैं ?

जहाँ तक हम सर्व साधारण संसारव्यवहार की लीक में चला करते हैं, उसमें होती घटना, प्रसंगों, कठिनाइयों, उपाधि आदि से सूखकर काँटा हो जाते हैं, वहाँ तक हम साधना करते रहते हैं ऐसा भी नहीं गिन सकते हैं । साधना करनेवाले **जीव** में एक प्रकार का निश्चयात्मक बल और दृढ़ता बनी होती है । वह किसी से डिगता नहीं है, वह किसी से नहीं सूखता है, ऐसे वह किसी से घिरता नहीं है और शायद अभी खुद पका नहीं है और वैसी किसी निर्बलता के क्षणों में आ जाये या घिर जाने का उससे हो जाय तो वह तत्काल भौचक्का चेत जाता है, और उसमें से मुक्ति पा लेता है । प्रसंग-प्रसंग पर उसकी आँख वह खुली रखता है, उसमें वह जीवन का क्या सीखने के लिए वे सभी मिले हैं, उसका हृदय में हृदय से हल खोज़ लेकर उसका मर्म स्वयं स्वीकार करके, उस अनुसार

उस उस प्रसंग में स्वयं ज्ञानपूर्वक की (जिस तरह का सीखना है उस तरह का) जागृति वह रखकर स्वयं प्रसंग के पार निकल जाता है। ऐसे **जीव** को प्रसंग भी फलित होते रहते हैं।

जैसे-जैसे अंतर्मुखता बढ़ती है, वैसे-वैसे उसकी दृष्टि, वृत्ति और भाव भी सभी किसी के प्रति बदलते रहते हैं। उसकी कोई खबर पड़े बिना थोड़ी ही रहती है ?

प्रभुकृपा

पुरुषार्थ और कृपा के झगड़े या चर्चा बेकार हैं। जिसको जाना है, वह तो जाने का ही किया करेगा। जिसे खाना होगा, खाने की भूख लगी होगी, वह तो खाना ढूँढकर, खोजकर, नहीं होगा तो माँगकर और वह भी न मिले तो अंत में छीनकर भी खाएगा। पुरुषार्थ भी है और कृपा भी है। केवल कृपा पर झुकाव रखनेवालों के भी लक्षण होते हैं। कृपा पर जिसके हृदय का झुकाव होता है, उसमें प्रखर प्रेमभक्ति प्रकट हुई हो, अपार श्रद्धा हो। प्रेमभक्ति और अपार श्रद्धा हो उसके जीवन कैसे हो ? ऐसे का जीवन तो निरा पराक्रम से भरपूर हो। ऐसे को कुछ भी प्रभुकृपा से न हो सकेगा ऐसा लगता नहीं है। वह तो प्रयत्न करते रहते हैं, भले ही कृपा के बल पर, वह झूमता तो होता है ही। केवल कृपा में ही जो **जीव** मानता हो, उसकी अहंता प्रत्येक दिन निर्मूल होती जाती है। अपने किये करवाने में कभी प्रसन्न नहीं होता। कृपा पर आधार रखनेवाला तो जिसमें और उसमें श्रीप्रभु को ही देखनेवाला, सोचनेवाला बन जाता है। ऐसे **जीव** में कहीं क्षुद्रपन नहीं हो सकता है। कृपा को माननेवाले **जीव** में दूसरे अनेक मानवता के गुण अपनेआप खिल उठते हैं। ऐसे भी **जीवात्मा** पड़े होंगे कि जो मात्र कृपा को अवलंबन गिनकर श्रीहरि को जीवन में अवतरित करने बैठे होंगे। जिसे मानने जैसा किया उसमें भी यदि, मन, मति, प्राण, चित्त, अहम् आदि हमारे घुलते जाते अनुभव न कर पा रहे हों तो फिर कृपा की बात ही क्या करें ?

पुरुषार्थ

पुरुषार्थ करनेवाला **जीव** यदि हृदय की सच्ची नेक दानत से प्रेमभक्तिज्ञानभाव से साधना करता होगा, तो उसका अभिमान, अहंता अवश्य पिघलती रहेगी। सभी कुछ तो वह पिघलाने बैठा हो न ? पुरुषार्थ भी किसलिए है ? मनादिकरण हरि की भावना में मिलकर उसमें घुल जाएँ और वह उनका यंत्र बन जाय उस हेतु से तो वह साधना मे प्रेरित हुआ है। साधक अपना पृथक्करण तो नित्य-नित्य करता ही रहता है। तो जो सच्चा साधक है, उसे उसका अभिमान बढ़ता जाता होगा, तो क्या उसे उसका पता नहीं चलेगा ? पता चलेगा तो क्या वह उसके अभिमान को पोषण किया करता है ? अहम् के प्रकार इतने तो सूक्ष्म होते हैं कि उन्हें परखना भी कठिन है ऐसा कितनों का कहना बनता है। पर जैसे-जैसे साधक साधना में आगे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे सच है कि निम्न प्राण के हमले, निम्न मन के हमले, अहम् के हमले, बुद्धि-तर्क की शक्ति आदि अति सूक्ष्म होते जाते हैं, उस प्रकार के हमले हुआ करते हैं, यह बिलकुल सत्य है, पर उसके साथ साधक जैसे-जैसे् साधना में आगे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसकी विवेक की आकलनशक्ति में भी सूक्ष्मता आ जाती है। साधना में आगे जाने पर यदि सूक्ष्मता निम्न प्रकृति में आती है, तो सूक्ष्मता उसके ऊर्ध्वरूप में भी आती है, इससे प्रारंभ का साधक जैसे अपने अभिमान को कभी पोषा नहीं करता है, वैसे आगे जाने पर वही साधक ऐसे सूक्ष्मतम हमले होने पर उसके विवेक में सूक्ष्मता आयी होने से उसकी (विवेक की) मदद द्वारा उनके निवारण के लिए वह प्रभुकृपा से यत्न करता है, यह भी अनुभव की हकीकत है।

कृपा

कृपा को अवलंबन रूप में जो **जीव** हृदय में हृदय से माना करता हो, वैसा **जीव** खाली क्या पड़े ही रहता होता है ? श्रीभगवान की कृपा का जिस **जीव** को लगता है, वह तो कैसा महासमर्थरूप से गर्जता होता है ! केवल मुँह से बोलना वह अलग बात है, और मानना अलग बात

है। फिर, मानना और उस अनुसार अमल में रखकर उस अनुसार अनुभव में रखना वह तो फिर अलग ही बात है।

• • •

जिसमें उसमें हम ही

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. २८-४-१९५२

अपने हिस्से में आया हुआ कर्म श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ ज्ञानपूर्वक के समर्पणयज्ञ की भावना हृदय में जीवित रख-रखके किया करने का जो आनंद हृदय में होता है, वह किसी में से भी प्रकट नहीं होता। कर्म करते-करते यदि द्वन्द्व की वृत्ति रही, तो तो वह तो कर्म दूसरे अनेक कर्म जन्माएगा, पर यदि कर्म करते-करते वह श्रीप्रभुपीत्यर्थ किया करना है, और उसमें समर्पणयज्ञ की भावना जीवित रह सकी तो वैसे कर्म साधक को, उसकी साधना की भावना को, अधिक तेजस्वी किया करता है। इससे यदि ऐसा भाव हृदय में साधक को प्रभुकृपा से रह सकता हो अथवा वैसा रखने का सच्चा नेक प्रयत्न किया करता हो तो फिर वैसा साधक दूसरों के कर्म, दूसरों के विचार, दूसरों की वृत्तियाँ आदि की ओर लक्ष करने का कैसे कर सकता है ? वैसा होने पर तो **जीव**स्वभाव का ही झुकाव जागेगा, यह भी निश्चित जानें। **दूसरों के कर्म का हम क्यों जागरण रखें ? अथवा दूसरे *जीवों* का हमारी तरफ अच्छा या बुरे प्रकार के भावों से हम क्यों सूख जाये, घिरे या संकुचित हो जाएँ ?** यदि ऐसा होता है, तो उसका कारण दूसरे नहीं, पर उसका मूल हमारे अपने में रहा है।

हम अपने जीवनध्येय में एकता और केन्द्रितता नहीं रख पाये, ऐसा उस पर से समूचा समझ सकते हैं। जो अपने ही कर्म में संपूर्ण तल्लीन होता जाता है, उसे अपने आगेपीछे क्या चलता है, उसकी कोई सूझबूझ नहीं होती है। इससे उस तरह साधक **जीव** को तो अपने जीवन की साधना के कर्म में भावना से बस एकाग्ररूप से मस्त रहा करना। यदि कोई भी सीधी-उलटी वृत्ति, विचार, भावना आदि जगी तो तुरंत समझ लेना कि हम गुमराह हो रहे हैं, ऐसा समझकर जो **जीव** अचानक तुरंत जाग

जाता है, वह वैसे भँवरों में से बच जाने में समर्थ होता है । इसलिए तो **'जागता नर सदा सुखी'** । यहाँ इस कहावत में 'नर' शब्द रखा है, ***जीव*** नहीं रखा है । **जिस *जीव* में मर्दानगी बनी रहती है, उसे नर कहने में आता है । जो ऐसा नर होता है, वही जागता रहा सकता है ।**

स्मरण की अनिवार्यता

नामस्मरण जब ज्ञानभक्तिपूर्वक की जागृति से हुआ करता है, तभी उसमें से हृदय में सच्ची जागृति आ सकती है। नामस्मरण में ज्ञानभक्तिपूर्वक की भावना प्रकट हुई होती है, तभी हृदय में एकाग्रता और एकरतता की भावना बनती है। हृदय का जीवित संबंध तभी श्रीप्रभु के साथ बंध सकता होता है । यदि वैसा नहीं हो सकता है तो उसका कारण भी हमारे अपने **जीव**स्वभाव का और **जीव** की प्रकृति के मूल में रहा हुआ है । जीवन के प्राकृतिक झुकाव, वृत्तियाँ, विचार, भावनाएँ, कामनाएँ, इच्छाएँ, आशाएँ, माँगे, पसंद-नापसंद, अमुक प्रकार की समझ की गुत्थी और उस अनुसार के ढाँचे में ही समझने के वृत्तों की परंपरा और ऐसी दूसरी अनेक प्रकार की आदतें आदि, जैसे जैसे वे हमारे में प्रकट होती हैं, उस समय उसमें हम लपेटे में आ जाते हैं । उसमें शांति, प्रसन्नता, तटस्थता, विवेक आदि गुणों को विकसित करने का ज्ञानभान तो रख नहीं पाते, तो फिर नामस्मरण में ज्ञानभक्तिपूर्वक की भावना प्रकट किस तरह से हो ? हमें तो जिस प्रकार का खेल खेलना है, उसका सचमुच सही आरंभ करने का तो करते ही नहीं हैं । नामस्मरण, प्रभुभावना आदि होते रहते सकल कर्म में जीवित रखने का कहीं कोई सरल प्रयत्न ही हम से नहीं हो सकता हो अथवा वैसा करने को मनहृदय से लगे रहने का भी न हो सकता हो, तो जिसने जिस **जीव** को गुरु किया, तो उसकी भावना हृदय में जीवित करके उसे सकल कुछ करते-करते हृदय में प्रकट करने का और उनकी कृपामदद पाने का भी यदि ज्ञानभान न प्रकट हो सकता हो, तो फिर हम किसकी और कैसी साधना कर रहे हैं, वह **जीव** को स्वयं सोचना रहा ।

साधना हँसीखेल नहीं है

साधना करनेवाले **जीव** को गंभीरतापूर्वक सोचना होता है कि उसे जीवन की साधना करनी है या खाली खेल खेलना है ? साधना यदि करनी हो तो जीवन के साथ खाली खेल खेलने में तो सार भी नहीं है । जो **जीव** साधना करने के लिए प्रेरित होता है, उसका प्राण यदि साधना के कारणभाव में न लग सकता हो, तो अभी उसे साधना करने का दिल जागा नहीं है, ऐसा समझें । तो फिर ऐसे **जीव** को श्रीप्रभुकृपा मदद से स्वयं अधिक जाग-जागकर स्वयं से जितना भी हो पाये वैसी जागृति से उस प्रकार के प्रयत्न में लगातार लगे रहना पड़ता है । ऐसा प्रयत्न करते-करते ही भावना का एक-सा बहना हो सकता है । जो यत्न करेगा और वह भी ज्ञानभक्तिपूर्वक यत्न करेगा, वही जाग सकता है ।

कृपा क्यों न मिले ?

कृपा या शरणागति का साधन लेनेवाले जो **जीव** होते हैं, वे जिसकी कृपा या जिसमें शरणागति चाहते हैं, उसके प्रति उसका प्राणवान भाव किस प्रकार का रहता है, वह उसे स्वयं सोचना रहता है । संसारव्यवहार में हमें किसी के पास कोई काम करवाना होता है, तो उसकी गरज रखनी पड़ती है, हम उसे उचित खुश रखने का भी प्रयत्न करते हैं । तो यदि संसारव्यवहार के क्षेत्र में वैसा है, तो साधना के क्षेत्र में वह कितना अधिक महत्त्व का और आवश्यक होना चाहिए ! हमें जिसकी कृपा प्राप्त करनी है, उसे आघात दे देकर, दुःख देकर, लात मारकर, उसका पलपल इनकार कर करके, क्या उसकी कृपा प्राप्त कर सकते हैं ? इससे भगवान ने कृपा करके बुद्धि दी है, उसका योग्य रूप से उपयोग करते रहना है ।

● ● ●

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. २८-४-१९५२

कल वहाँ के श्रीसांईसत्संगवाले श्री रतिभाई सेठ और उनका कुटुंब मद्रास (चेन्नाई) से कार लेकर यहाँ आश्रम में आया था । उन्होंने तुम्हारा

नाम दिया था, 'हम **मोटा** को मिलने के लिए आश्रम में आनेवाले थे, उतने में उन्होंने कहा कि **मोटा** तो अब वहाँ नहीं हैं । वे तो दक्षिण की ओर जाने के लिए निकल चुके ।' उनके साथ एक गौरवर्ण बहन भी तुम्हारे जैसी थी, इससे भी तुम्हारी याद आती थी ।

सद्‌गुरु किससे रीझेंगे ?

हमें संकोच को तो ज्ञानभाव से ओलटी पर ही रखना है यानी कि किनारे पर रखना है । हिमालय में कान्तु द्वारा कैसा-कैसा मँगाने का किया था, वह तुम्हें फुरसत हो और गांधी आश्रम जाओ तब पूछना । हमें तो सभी प्रकार की चर्चाविचारणा को छोड़ना है । साधक के जीवन की समर्पण की कथनी में जब मुझे उत्क्रांति के दर्शन होते है, (यद्यपि साधक को उसमें ज्ञानभक्तिपूर्वक तपना तो अवश्य होगा) तब **इस जीव** को तो उस **जीव** के लिए अत्यधिक आनंद होता है । साधक को जब कुछ भी सहना आये, भले ही दुःखों के पहाड़ और कठिनाइयों के प्रचंड प्रत्याघात व्याप्त हों, तब भी वह सब हृदय की उमंग से तप-यज्ञ के भाव से स्वीकार कर-करके उसे प्रेम से सहन करके स्वयं **जीव**स्वभाव से खिंचता जाता नहीं, इस प्रकार के उसके आंतरिक मानसिक युद्ध में एक छोटे-से कदम जितनी जगह पर ऊपर की तरफ चढ़ते स्वयं अपने को अनुभव करता है, तब उसमें आत्मश्रद्धा और आत्मविश्वास का बल आ जाता है, कि जिससे साधक हमेशा निश्चिंतता, निश्चितता, हिंमत, प्रेरणात्मक बल आदि अनुभव करते सीखता है ।

उस **जीव** की वैसी कथनी में उस समय उसके गुरु को अत्यधिक खुशी होती रहती है । सद्‌गुरु को इस तरह जीवन की यज्ञभावना की अनेक बिरदावलिओं से नवाजना रहता है । उनके चरणकमलों में ऐसे प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक के स्वार्पण के पुष्प दिनप्रतिदिन चढ़ाया ही करना हैं । ऐसे एक स्वार्पणयज्ञ की छोटी-सी कथा तुमने जो श्रीगुरचरणों में रखी है, उससे तुम्हारे गुरु अवश्य खुश हुए होंगे । स्वभाव पर कुछ कुछ काबू पाकर उसमें से आत्मविश्वास और आत्मश्रद्धा प्राप्त करते हुए स्वयं

गहराई से निरख-निरख करके जब सच्चा पृथक्करण कर-करके तटस्थतापूर्वक निरख करके, अपने में हुए आघात-प्रत्याघात के मूल को जो **जीव** पकड़ लेता है, ऐसा साधक फिर से ऐसे उसके शिकंजे में फँसनेवाला नहीं है ।

गुरु किसी **जीव** को खाली-खाली आश्वासन देने में तो मानता नहीं है । साधक तो भले न टुकड़े हो-होकर समूचा स्वाहा हो जाय या कायर होकर टूटकर चकनाचूर हो जाय, पर वैसा साधक स्वयं स्वाहा हो करके जिस तरह अधिक शुद्ध और पवित्र होता जाता है, उसमें साधक की भले ही कठिन से कठिन कसौटी और परीक्षा हुआ करती हो, परंतु उसमें जो मरजिया होकर सिर को दूर रखकर झूम-झूमकर, श्रीप्रभु की कृपामदद को हृदय से याच याचकर, प्रार्थना करके, उसे निमंत्रण दे करके, जो साधक ऐसे जीवन अधिक उज्जवल बनाया करे, ऐसे जीवन का घिसघिसकर हुआ चंदन श्रीगुरुचरणकमलों में जो **जीव** रखा करता है, ऐसे **जीव** पर तो सद्‌गुरु न्योछावर हो जाते हैं । ऐसे साधक **जीव** को वह अपनी कृपा की सोटी बतलाते हैं । गुरु कहीं सभी किसी **जीव** पर कृपा करता है, ऐसा नहीं होता है ।

सद्‌गुरु तो जो **जीव** स्वयं मर-मर करके फिर पुनर्जीवन प्राप्त करता रहता है, ऐसे **जीवों** पर वह न्योछावर हो जाता है । इससे हमें तो संसार में मरना है, पर मरने का अर्थ और हेतु का तुम्हें पता है ? या फिर 'गले फांसी लगानी' उसका नाम मरना ?

संसारव्यवहार के प्रसंगों में जो **जीव** भावना से तैरता रहता है, भले मानो कि अपनी निर्बलता के क्षणो में वैसे प्रसंगों में डूबता हो, परंतु उस पल जो **जीव** जागकर उसके हृदय की शक्तिभावना से, प्रभु की कृपा से, महा मथन कर-करके उठने का यत्न किया करता है, ऐसे प्रसंगों में यानी शायद हार के प्रसंगों में उसे कितना अधिक और कैसा-कैसा मरजिया बनकर युद्ध दिया किया है, वैसे ठोसरूपी बुनियाद पर जीवन का आरंभ किया करना है । साधक के इस प्रकार के यज्ञजीवन से गुरु

को खुश होने जैसा होता है । जो साधक शहादत भरे जीवन की कुरबानी से अपने गुरु की भक्ति करता है, जीवन को न्योछावर कर-करके श्रीगुरु के चरणकमल में आहुतियाँ प्रेम से दिया करता है, ऐसा साधक सद्‌गुरु की कृपा प्राप्त करने का पात्र बनता है ।

रणवीर पर सद्‌गुरु की कृपा

जीवन को सँभालना है वह सही, पर वह उसके ऊर्ध्वरूप के पहलू में । जो **जीव** अपने **जीव**पन में मर-मरकर अपने चेतनरूप में जीना किया करता है, उसे कोई कम युद्ध आते हैं ? ऐसे अनेक युद्धों की परंपरा में जो **जीव** अमुक बार हारता होने पर भी उसमें पूरा टेकी और अडिग रहता है (साधक के इस प्रकार के टेकीपन में और अडिगरूप में **जीव**प्रकार का अहंभाव नहीं होता) और ऊर्ध्व जीवन की भावना में तिलभर भी गर्म आँच नहीं आने देता, उसे जीवित कर-करके स्वयं खप्पर में खपकर, अपने में नया चेतनप्राण प्रकट करते हुए पुनः स्वयं जो **जीव** खड़ा हुआ करता है, ऐसे युद्धों के अंतर में जो **जीव** हृदय में हृदय से श्रीभगवान की प्रार्थना कर-करके अपने हृदय की प्रेमभक्ति से सराबोर होकर, उसके हृदय के साथ अपने हृदय को मिला-मिलाके, उनकी कृपामदद प्राप्त करने का अनुभव पाता होता है; वैसे **जीव** को सद्‌गुरु कोई मिट्टी का पुतला नहीं होता । वह तो जीवन की भावना की बेल चढ़ाने का आधारूप दिव्य, रम्य कारणरूप से है, ऐसा उसे अनुभव अवश्य होता है । इसलिए जीवनविकास के यज्ञ की कुरबानिओं से सद्‌गुरु को खुश रखने जैसा करना । मरने का आये तो भले पर जो **जीव** पीछे हटनें में कभी पैर उठाने का नहीं करता और कभी ऐसा होना हो तो वैसा होते-होते उसके कंठ में प्राण आ जाते हैं, और उसमें से उठने को हृदय से वह भारी जहमत उठाता है, ऐसा जब स्वयं दुबारा ऊपर तैर आने का करता है, तभी वह दिल में शांत होता है । ऐसे साधक पर सद्‌गुरु दिल में खुश रहते हैं, और उसे कृपा करते हैं यह जानना ।

● ● ●

कुंभकोणम्		॥ हरिःॐ ॥		ता. २८-४-१९५२

अनुभविओं के ज्ञान की समानता

जीवन की साधना के मार्ग पर यदि **जीव** को चलना हो और वह निश्चित हुआ हो, उसके लिए यदि **जीव** ने किसी सद्‌गुरु को माना है, तो उसकी आज्ञा का पालन हृदय की भावना से संपूर्णरूप से करते रहना है। उसमें शर्तचूक हो गई यह कहने से नहीं चलेगा। उसके ऐसे भंग होने का योग्य कारण तो मन अवश्य दे सकेगा। स्वयं किया है वह ठीक ही उचित है, ऐसा सिद्ध करने में निम्न मनबुद्धि हमें अवश्य ठसायेगा ही, परंतु यह सभी सूक्ष्म चालबाजी है। साधक को उसमें कभी धोखा नहीं खाना है। इस मतलब का लेख आज ..... भाई के आत्मनिवेदन में था। उनको मैंने जान-बूझकर श्रीअरविंद के पत्र भाग चार यह पुस्तक पढ़ने दी है, कि जिससे वे साधना का योग्य मर्म पा सके। अभी तक इस **जीव** ने जो कुछ कहा हो, कथित हो और चेतनाशक्ति की मदद किस तरह पा सकते हैं, आदि आदि विषय में कितनी अधिक समानता है, वह उनको समझ में आये और **इस जीव** को श्रीप्रभुकृपा से अभी अधिक योग्य ढंग से हृदय में हृदय से समझ में आये, ऐसा हेतु उस पुस्तक पढ़ने को देने में रहा है। यद्यपि अन्य के आधार पर अपने मूल सद्‌गुरु को समझना यह योग्य प्रकार तो नहीं है, पर हमें तो जिससे सच्ची दिशा में काम हो वही योग्य है। व्यक्ति में हमें तो चेतन को अनुभव करना है।

सद्‌गुरु स्मरण करे वह सफल हो

अपने जीवन के व्यवहारवर्तन में प्रत्यक्ष उस-उस पल में उसे सद्‌गुरु को जीवित किया करना है। सकल काम करते-करते हृदय से वे किस तरह से अत्यधिक खुश होंगे, उस अनुसार जो **जीव** ज्ञानभक्ति से वर्तन-अमल किया करता है, वैसा करते समय जो कुछ उलटा-सीधा पैदा हो, उससे मुक्त रहने के लिए, वह स्वयं हृदय की नेक दानत से सच्चा प्रयत्न करने में लगा रहता है, उसमें वह स्वयं टेकवाला और अडिग रहा

करता है । उस समय प्रभुकृपा को प्रार्थना कर-करके निमंत्रित करता रहता है । ऐसे **जीव** को अवश्य मदद मिला करती है । सद्‌गुरु हमारे **जीव**स्व-भाववाले व्यवहारवर्तन से अवश्य नाराज़ होते हैं यह निश्चित जानें ।

जिस **जीव** के व्यवहारवर्तन में जीवन को उँचा ले जाने के लिए ज्ञानभान नहीं होता, उसमें जो **जीव** मात्र रोड़े की तरह लुढ़कता चला जाता है, उस समय जिस **जीव** को अपने सद्‌गुरु का जीताजागता तो क्या, पर अकारण ख्याल भी नहीं जागता है, ऐसा **जीव** फिर सद्‌गुरु की कृपा पर जीना चाहता हो, तो वैसा चाहना बाँझ है । जो व्यवहारवर्तन के उस समय के जीवन में हृदय में अपने जीवन के आदर्श का जीवित ज्ञानभान उनकी कृपा से रखकर के उसमें न डूबकर, डूबना होते जो **जीव** ऊपर आने को सचमुच यत्न किया करे, ऐसा यत्न करने पर कभी हारते-हारते भी उस समय प्रभु को पुकारने का करता है, ऊपर रहने के लिए हृदय से वह खूब आतुर रहता है, ऐसी आतुरता कोई छिपी थोड़े ही रह सकती होती है, उच्च जीवन के लिए हृदय में आतुरता प्रकट हुए बिना साधकनाम को वह **जीव** योग्य नहीं है ऐसा निश्चित जानें । ऐसी आतुरता जीवन को उच्च ले जाने में मदद और प्रेरणारूप होती है । आतुरता भी गुरु प्रकटायेंगे ऐसा जो **जीव** मानता है, वैसे **जीव** का गुरु को वैसा मानने में भी क्या दम होगा ?

कृपा और पुरुषार्थ

कृपा में माननेवाला **जीव** तो संपूर्णरूप से उस पर आधार रखता होता है । कृपा कोई ऐसे के ऐसे नहीं मिलती है । कृपा को जो **जीव** जीवन में महत्त्व दिया करता हो, तो उसका कोई प्रत्यक्ष लक्षण वैसे **जीव** में लगना चाहिए न ? कृपा का आश्रय तो **इस जीव** ने साधना में अत्यधिक लिया है । वह तो कृपा ही एकमात्र माँगा करता था । सद्‌गुरु के कृपाबल पर तो वह झूमता था । उसके पुरुषार्थ में कृपा का बल था । सद्‌गुरु को जीवनविकास के योग्य संतोष दिया करना उसमें ही उसका हृदय लगा रहता था । कृपा पर जो **जीव** का अवलंबन होता है, उसका जीवन तेजस्वी और खमीरयुक्त होता है ।

महात्मा गांधीजी भगवान की कृपा पर ही आधार रखा करते थे । जो तो कुछ उसकी कृपा से होता है, ऐसा उन्होंने लिखा है । कृपा तो सर्वप्रथम है, पर कृपा को माननेवाले **जीव** में पुरुषार्थ करने जैसा नहीं होता ऐसा नहीं है । पुरुषार्थ करने में वह कृपा का सतत आश्रय लिया करता है । कुछ भी अकेला नहीं है । पुरुषार्थ भी अकेला नहीं है और कृपा भी अकेली नहीं है । अभी कृपा अकेली हो सकती है, परंतु कृपा बिना का पुरुषार्थ तो बाँझ भी निकले, जब जो **जीव** कृपा का अवलंबन लिया करता है, उसे कृपा योग्य पुरुषार्थ में प्रेरित भी करती है । हृदय से कृपा में माननेवाला **जीव** कभी केंचुआ की तरह जीवन में रेंगना नहीं करेगा । कोल्हू के बैल की तरह डंडे की चोट हो और पीठ पर मार पड़ा करती हो, तब भी उससे उठा नहीं जाने पर भी व्यवहार-वर्तन में और खास करके मानसिक भावों में उसके तनाव और बहाव में खिंचा तो नहीं करता होगा ।

कृपा का जो **जीव** सच्ची तरह हृदय में अवलंबन लेता है, वह **जीव** तो जिसमें और तिसमें कृपा को पुकारता है, कृपा का ज्ञानभान रखता है । छोटा बच्चा होता है, वहाँ तक माँ का हृदय बालक में अपने आप बिना प्रयत्न के रहा करता है वैसे ही जो **जीव** कृपा का अवलंबन हृदय से लिया करता हो उसका हो जाना चाहिए । कृपा के अवलंबन में माननेवाला **जीव** यदि ऐसा ही मानता हो कि उसे कहीं कुछ नहीं करना है, कृपा के योग्य भी नहीं रहना है और जिसकी कृपा लेनी है, उसकी आतुरता-भावना-धारणा हमारे में प्रत्येक पल में जीवित रखा करनी भी नहीं है, तो वैसे **जीव** का माना हुआ अवलंबन सही नहीं है, यह निश्चित जानें ।

● ● ●

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. २९-४-१९५२
रात्रि को दो बजे

पुरुषार्थ और कृपा

जो **जीव** कृपा का अवलंबन जीवन के विकास के लिए लेता है, अथवा भगवान उसे वैसा वह अवलंबन लेने देते हैं, तो वैसे अवलंबन

के योग्य यदि वैसा **जीव** न रह सका और उससे उलटा-सीधा वर्तन किया, तो क्या कृपा ऐसी भटकती पड़ी है, कि हम उसे लात मारे और वह वैसा करे ? **बालक माँ को कैसा भी करता है, तथापि माँ जैसे बालक में रहती है, वैसे कृपा तो *जीव* कैसा भी वर्तन करे तब भी वह रहती ही है, ऐसा कितने ही *जीव* मानते हैं, यह यथार्थ नहीं ।** कारण कि प्रथम तो हम स्वयं बालक जैसे भावना में संपूर्ण हो गये नहीं होते । कृपा का अवलंबन माने, परंतु उसके वैसे मानने में कहीं कोई भरोसा न हो, तो इससे **जीव** में स्वच्छंदता ही व्याप्त रहती है । अपने जीवनविकास के लिए कैसे बर्ताव करना उसका कभी ज्ञानभान नहीं होता है ।

इस पृथ्वी पर तो अनंत प्रकार के अत्यधिक **जीव** हैं । उन सभी का कोई उद्धार नहीं हो सकता है । जो **जीव** जीवनविकास के लिए हृदय में इस प्रकार की उत्कट आतुरता रखता है, वैसा **जीव** श्रीसद्‌गुरु का आश्रय ले-लेकर, अथवा श्रीप्रभु के भाव में शरणागति विकसित कर-करके, उसकी कृपामदद को हृदय से प्रार्थना कर-करके निमंत्रित करता रहता है, ऐसे ज्ञानपूर्वक के अभ्यास के अनुशीलन, परिशीलन से उसकी कृपा से वैसे **जीव** को कुछ सूझबूझ आती है । कृपा का अवलंबन जिस **जीव** ने लिया हो, उसके अपने में कोई लक्षण तो प्रकट होने चाहिए न ? इस मार्ग में बुद्धि का संपूर्ण रचनात्मक रूप से उपयोग किया करना रहता है ।

इस संसारव्यवहार में भी जिसकी कृपा की हमें आवश्यकता होती है, तो उनके कहने में रहना पड़ता है । वह राजी रहे वैसे वर्तन की गरज़ जगानी होती है । जिसकी कृपा हमें लेनी है, उस बारे में पहले तो स्वार्थ जागता है । जहाँ ऐसे स्वार्थ की पक्की गरज़ जागती है, तो कैसी कृपा पाने के लिए किस तरह के बर्ताव की आवश्यकता होती है, इसकी अपनेआप ऐसे **जीव** को समझ आती जाती है । शुरूआत के साधक का धर्म कृपा की मदद माँगने से है यह सही, परंतु इसके साथ ही वह कभी भी केवल मात्र कृपा के अवलंबन पर नहीं रह सकता है । उसके मन के भावों, विचारों, मनोभावों, वृत्तिओं में ही वह तो बहता जाता होता

है । उसमें से जो **जीव** जीताजागता युद्ध करने में समझता है और उस उस समय युद्ध करना आवश्यक है, उसी तरह युद्ध किया करने से ही जीवन का खमीर बढ़ा करता है, ऐसा जिसे ज्ञानभान हृदय में होता है, उस समय स्वयं भले ही वह खप जाये, पर मन के क्षुद्र झुकावों को वह कभी अधीन नहीं ही होता है । उसका वह किसी भी भोग पर अवश्य सामना करता है । ऐसा ऐसा जो करता रहता है, उसका कृपा का अवलंबन योग्य प्रकार का गिन सकते हैं ।

कृपा के अवलंबनवाले **जीव** को ऐसा कुछ करना नहीं होता ऐसी मान्यता बिलकुल गलत है, वैसी मान्यता वह उसका निरा अज्ञान है, वह मैं तुझे अपने अनुभव से कहता हूँ । 'कृपा और पुरुषार्थ' पर स्नेही भाई कांतिलाल ने दो लेख लिखे हैं । उस पर से भविष्य में यह सब उनके भी पढ़नें में आए और वे समझे तो उत्तम (और यह लिखते समय भी उनमें **इस** हृदय की वैसी भावना व्याप्त है ।) ऐसी भावना भी है । कृपा के अवलंबनवाले **जीव** को अपने तरफ से कुछ भी पुरुषार्थ करना नहीं रहता है और यदि करना हो तो कृपा स्वयं करवायेगी, ऐसी जो भ्रमात्मक समझ है, यह योग्य प्रकार की नहीं है, वह जीवनविकास को मदद करनेवाली नहीं है । प्रांरभ के साधक में ऐसी कृपा के लिए योग्य अवलंबन रह सकना कभी भी उस यथार्थता में संभवित नहीं हो सकता है । कृपा के लिए तो जिनकी कृपा प्राप्त करनी है, उसके लिए प्रेमभक्तिज्ञानयुक्त भावना, वह भी उत्कट प्रकार की भावना, उसके लिए हृदय में प्रार्थना हुआ करते रहनी चाहिए ।

जिसकी कृपा लेनी है, उसमें हमारा मन, प्राण, बुद्धि और हृदय प्रेमभक्तिभाव से लगा रहना चाहिए । जिस **जीव** के करणों की शरणागति कृपा में हुई है, वैसे **जीव** को कृपा तो सभी कुछ करवायेंगी । यह ठोस अनुभव के प्रदेश की हकीकत है । ऐसा न हो पाये वहाँ तक तो **जीव** को कृपा को हृदय के प्रार्थनाभाव से आमंत्रित कर-करके जीवनविकास के योग्य ऐसे पुरुषार्थ में सतत प्रेरित करते रहना है । कृपा के आधार पर जो **जीव** पुरुषार्थ करता है, उसे अभिमान जागने का कोई डर नहीं

होता है । 'पुरुषार्थ' और 'कृपा' ऐसा एकदूसरे का कुछ भी अलगरूप से स्वतंत्र नहीं होता है । एकदूसरे के साथ वे संलग्न होते हैं, वैसी कृपा में पुरुषार्थ है, और पुरुषार्थ में वैसी कृपा है ।

● ● ●

गुरुकृपा का अवलंबन

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. २९-४-१९५२

जिस **जीव** को जीवनविकास की उत्कट से उत्कट आतुरता जागी हुई है, जिसने श्रीप्रभु के शरण का अवलंबन हृदय में हृदय से स्वीकार किया है, वैसे **जीव** को कृपा की कुछ सूझबूझ होती है सही । बाकी के **जीव** को तो कृपा अर्थात् क्या उसका कोई ज्ञानभान नहीं होता है । जिस वस्तु का परिचय नहीं है, जिसका अनुभव नहीं है, उसके बारे में क्या सूझ हो सकेगी ? उसके लिए तो पहले हृदय में वैसा अभ्यास विकसित करते रहना है । आरंभ के साधक के लिए प्रथम प्रचंड पुरुषार्थ आवश्यक है । वह पुरुषार्थ होता रहे और वह कृपा की प्रार्थना करता रहे । कृपा की मदद हृदय से याचा करे यह भी महत्त्व का है, परंतु ऐसे आरंभ का साधक मात्र कृपा के अवलंबन पर ही रह सके ऐसा उसमें बल जागा होता नहीं है । इसलिए वह स्वयं कृपा के बल को अपने में निमंत्रित कर-करके, प्रकट करते हुए अपने से होता सकल पुरुषार्थ करने में सयानापन और विवेक रहा है ।

शरणागति की दशा और वह भी उसके योग्य अर्थ और भाव में **जीव** को जब प्राप्त होती रहती है, वैसी दशा में कृपा का अवलंबन **जीव** को रह सकता होता है, उसके बिना तो कभी भी नहीं । कृपा का अवलंबन भी जिस **जीव** को शुरू शुरू में भी लेना हो, वैसे **जीव** को तो स्वयं को तो वह प्राप्त करने के लिए प्रेमभक्तियुक्त प्रचंड भावना हृदय में अपरंपार सतत जागती रहा करे, तो ऐसा हो सकता है । इसके लिए उसके हृदय का प्रार्थनाभाव सकल कुछ करते-करते अंतर में जागा हुआ रहा करे वह जरूरी है । कृपा के अवलंबन में माननेवाले **जीव** को थोड़ी

भी अहंता रखा करने पर, उसे कितनी अधिक वेदना होती है, वह तो उसका जो अनुभवी होता है, उसे ही पता चलता है। कृपा के अवलंबन में माननेवाले **जीव** को मन के अन्यथा तरंगों, विचारों, भावों, वृत्ति आदि आदि होते स्वयं कृपा को अवलंबन मानने का जो करता है, वह मिथ्या ठहरता है। उसे स्वयं को उस तरह होना बनते वह स्वयं भी जूठा ठहरता है, ऐसे उसे तीव्र ज्ञानभाव जागता है, उस समय उसके वैसे वैसे **जीव**स्वभाव और प्रकृति के भाव से शीघ्र ही वह वापिस फिरना करता है और कृपा को आवाज देता होता है कि 'तेरा अवलंबन लिया है, तो अब कृपा करके ऐसा सब हुआ करता है तो तेरे आश्रय में ही संपूर्ण जीवित रह सकूँ वैसा रहने में प्रेरणात्मक बल, हिंमत, वैसा मन, बुद्धि, प्राण और अहं की दशा तेरी कृपा के योग्य रखवाया कर। तेरी कृपा के योग्य मनन, चिंतन **इस जीव** में रहा करे ऐसी सँभाल और चेतनयुक्त जागृति प्रेरित कर।'

फिर, कृपा के योग्य दशा न रहते फिर वापिस वह जागृत होता है, और स्वयं को ठीक करने कृपा को मदद में प्रार्थना कर-करके बुलाता होता है। **जीव** को जैसे जिस तरह मन, बुद्धि, प्राण और अहम् खींच ले जाय, वैसे घिसटते जाने का हुआ करता है, उस समय हृदय में प्रार्थना कर-करके मदद के लिए कृपा का अवलंबन ले सकते हैं। कृपा का अवलंबन जो लेता है, वह तो कृपा के भाव में ही जीवित रहने के लिए आतुर रहता है। यदि वैसा न हो सकता हो और स्वयं अपने **जीव**स्वभाव और प्रकृति के झुकावों में ही यहाँ-वहाँ टकराता रहता हो, तो उसे ज्ञानभक्तिपूर्वक का कृपा का अवलंबन लिया नहीं है ऐसा समझना और मानना।

● ● ●

सद्गुरु का छिपा हाथ पहचानो

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. २९-४-१९५२

तुम्हारा ता. २६-४- का लिखा हुआ पत्र मिला है। वह पढ़कर हृदय गद्गद हो गया और आँखों में से अश्रुधारा चली। तुम्हें जितना

समझ प्रकट करने हृदय से लिखा है, ऐसा समझाने को किसी को भी अभी लिखा नहीं है । तुम्हारे जैसों में मेरा **जीव** प्रभुकृपा से रहता है, परंतु जब अपने जीवन में भावना से करके सूक्ष्मरूप से रहे हुए, किन्तु प्रत्यक्ष काम करते, ऐसे उसके श्रीसद्‌गुरु के हाथ को **जीव** पहचान लेता है, और वैसे ज्ञान के अनुभव से जिसके हृदय में उत्साह आता है, हिंमत, साहस आदि प्रकट होते हैं, सिर पर समर्थ शरण है, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभवज्ञान वह प्राप्त करता है, तब वैसे **जीव** पर सद्‌गुरु अत्यधिक राजी होते रहते हैं । जिसे जो जैसे पहचानता है, वह उसे वैसे पहचानता है, समझता है और अनुभव करता है ।

अधिक दुःख सद्‌गुरु को होता है

इसलिए तुम्हें निराशा की क्षणों में अन्याय होते या ऐसा दूसरा कुछ भी होने पर उसके प्रति कैसी दृष्टि, वृत्ति और भाव रखने से शांति, समता, तटस्थता, धीरज, विवेक आदि में दोष न आये, उसे सोच-सोचकर वैसी क्षण में सद्‌गुरु की चेतना-भावना को हृदय में प्रार्थनाभाव से पुकार-पुकारकर, कृपामदद हृदय में निमंत्रित कर-करके, हमें सदा ही जागृत रहना है । साधक को निर्बल क्षण आये ही नहीं ऐसा नहीं है । आये तब वह हताश हो जाये, स्वयं सावधान न रहे, तो वैसा जीव घिसटता चला जायेगा । **उस पल तुम अपने सद्‌गुरु को हृदय में जीवित क्यों नहीं करती हो ? ऐसा न करें तो सद्‌गुरु को भी कितना दुःख होता होगा ! निकट ही मदद हो और वह यदि *जीव* न लेता हो और दुःख, क्लेश, संताप, अन्यथाभाव आदि के बारे में मनादिकरणों में बह जाने दें तब क्या सद्‌गुरु को कुछ नहीं होगा ? तब सद्‌गुरु क्या करने के लिए किये हैं । झख मारने ? सद्‌गुरु यह केवल शोभा का पुतला नहीं है । उसका यदि ज्ञानभक्तिपूर्वक उपयोग लेना न करना हो, वैसा न ही सूझता हो, तो उसे व्यर्थ अकारण चिपके रहना यह तो मिथ्या है ।**

साधक को सद्‌गुरु की प्रत्यक्ष मदद लेने की कला जीवन में अनुभव कर-करके वैसा अनुभवज्ञान प्राप्त करके जीवित करनी रहती है । यदि तुम वैसा करो, करती रहो तो हमारे हृदय में उसकी चेतना -

भावना जागृत हो । यदि उसमें चेतन जगा होगा तो और यदि उसका तुम ज्ञानभक्तिपूर्वक का उपयोग के भाव से हृदय में अनुभव करती रहो, तभी तुम्हें उपयोगी होगा न ? 'अकेली हूँ । अकेली हूँ' ऐसा कहा करने से तो, या किसी तरह व्यक्त होने से तुम्हें दुःख नहीं है, पर दुःख तो सद्गुरु को होता है कि 'अरे रे ! वह **जीव** अपने हृदय के भाव को सद्गुरु में तो संपूर्ण ठहराता नहीं है और उसके साथ उसके करणों से करके वह हिलमिल नहीं जाता, उसके जीवन की मूल भावना के साथ हृदय को वह मिश्रित करने का करता नहीं, और फिर चीखता है कि वह अकेला है, अकेला है, तो वैसे साधक के लिए वैसे सद्गुरु को उसके लिए खराब लगे उसमें कोई आश्चर्य सही ?

इसीलिए कृपा करके सद्गुरु को हमें हृदय में जीवित करना है । सद्गुरु अर्थात् उसकी प्रत्यक्ष आकृति नहीं पर उसके हृदय में रही चेतनाभावना कि जिसकी मदद लेकर ऊपर आ सकते हैं । उस शक्ति को आवाहन कर-करके (अलबत्ता, हृदय के प्रार्थना भाव से) हमें जीवप्रकृति के सामने टिके रहना है । तुम निर्बलता छिपाती हो, ऐसा मुझे नहीं कहना है, परंतु वैसी निर्बलता की क्षणों में कितना और कैसी जागृति, सावचेती, सावधानी रख-रखके, युद्ध किया है, ऐसी हकीकत मैं तो चाहता हूँ । 'हृदयपुकार' में क्या निर्बलताएँ नहीं बतलायी है ? यह वह भगवान को हृदय में जगाने के लिए, जगाकर उसके भाव से युद्ध दे देकर मुक्त होने के लिए, वैसी भावना से हृदय में हृदय से प्रार्थना की वैसी पुकार की है ।

• • •

सद्गुरु का साथ चला भी जाये

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. २९-४-१९५२

'बालक माँ ! माँ करता हुआ जाय, तो क्या माँ गुस्सा करके बालक को धकेल देगी ?' ऐसी समझ आध्यात्मिक क्षेत्र में लागू नहीं होती है । पहले तो हम में बालक जैसी सहज निर्दोषता, सरलता होती

नहीं है। बालक में जहाँ तक निर्दोषता है, विवेक की कोई समझ नहीं आयी है, वहाँ तक उसका तोड़फोड़ करना भी माँ को अच्छा लगता है, यद्यपि अनेक माँ तो उसके लिए बालक को डाँटती और मारती भी है, चूंकी यह अघटित है। पर बालक बड़ा होने पर उचित वर्तन नहीं करता है, तो माँ उस पर गुस्सा भी करती है, परंतु आध्यात्मिक बात में यदि साधक अपने को जाने-अनजाने छला करता रहे और सद्गुरु को गुरु करने पर भी उनके बारे में हृदय में कुछ भी न रखता हो, सद्गुरु की भावना जीवन में तानेबाने का ज्ञानभक्तिपूर्वक का जिसका अभ्यास नहींवत् है, और जिसे कहीं कुछ साधना के भावार्थ से और उसके हेतु को फलित करने के लिए पर्याप्त प्रमाण में कहीं कुछ नहीं करना है, हृदय में हृदय से साधना हो सके वैसी जागृति, सावचेती रखनी नहीं है, रह नहीं पाती, तो सद्गुरु तो कह-कहकर, बता-बताकर, लिख-लिखकर, पोथे के पोथे भरे, पर इससे क्या होगा ? क्योंकि हृदय में हृदय से सूक्ष्मभाव का स्वीकार करने की कला अभी तो उसे हाथ ही लगी नहीं है, इसलिए जो स्थूलरूप से बताने में आया हो या बताने में आता हो, यदि वह ठीक सावधानी से, तनदिही से, उत्साह से और अपने जीवनविकास के लिए उसकी इच्छा को बढ़ा-बढ़ाकर ज्ञानभक्तिपूर्वक आचरण न करता हो, और साधक के प्रति गुरु की भावना का हृदय से स्वीकार न होता हो, साधक का दिल सद्गुरु के हृदय में रहा ही न करता हो, स्वयं साधना करने का झंडा लेकर बैठा है, साधना को और साधना के भाव को तो स्वयं ओलती पर रख दिया होता है यानी किनारे कर दिया है, तो उस समय दो हाथ फैलाकर क्या सद्गुरु उसे भेंटने जायेंगे ?

सद्गुरु का प्रेमभाव मिथ्या नहीं है, पर साधक के दिल में सद्गुरु के प्रति हृदय का प्रकट सद्भाव और ऐसा उत्कट प्रेमभाव हो कि जिससे दोनों के हृदय परस्पर हिलमिल सके, ऐसी भूमिकावाला हृदय से हुआ नहीं है, वहाँ तक कुछ भी नहीं हो सकता है। साधक यदि मात्र खाली खाली वैसे का वैसा रहा करता है, तो गुरु भी साधक में से अपने हृदय का सहकार खींच लेता होता है, और ऐसे उसे पीछे से सालने देता

है, कि जिससे वह दुबारा अपने सद्गुरु की तरफ हृदय में हृदय से जुड़ सके ।

प्रकृति के हमले का उपाय

अब भी कहता हूँ कि साधना वह पराक्रमी **जीव** से हो सके ऐसा है । साधना करनेवाला **जीव** किसी से सूख जाये, घिर जाये या दब नहीं जाता । शुरू शुरू में तो वह वैसा हो जाता है, तब भी वह उसमें बहते-बहते, डूबते-डूबते, घसीटते जाने पर हो सके उतना अवश्य सामना करता है । ऐसे ही वह कभी नहीं झुकता है । **साधक के लिए अपनी प्रकृति और जीवस्वभाव के भावों को इनकार किया करना अत्यधिक आवश्यक है । जब जब वह उठता है, तब तब उसे किसी भी प्रकार का साथ न मिले वैसी तटस्थता, समता आदि उसे अभ्यास से रखा करने हैं, और वैसा करते-करते वह हृदय में हृदय से प्रार्थना कर-करके प्रभुकृपामदद को याचा करता है ।**

दुःखादि के प्रति साधक की दृष्टि

जगत में, संसारव्यवहार में पाप-पुण्य, सुख-दुःख, नीति-अनीति, न्याय-अन्याय ऐसे द्वन्द्व आदि तो रहनेवाले हैं । हम उससे खिसियाने होकर उस तरह बर्ताव करने जायें तो उलटा **जीव** को अधिक त्रास, संताप, दुःख, कठिनाई, उपाधि आदि होंगे, इसमें से कहीं कोई भी शांति, प्रसन्नता आदि **जीव** को नहीं मिल सकेंगे । इन सभी के साथ **जीव** की तरह सामना करने से क्या मिलनेवाला है ? हम अधिक गहरे **जीव**रूप में प्रवेश करेंगे, अधिक रागद्वेष के द्वन्द्व की चपेट में आयेंगे, इससे उसमें से मुक्त होने का उपाय उस समय **जीव**रूप में वर्तन नहीं करना है, पर **जीव**रूप से दूसरी तरह वर्तन करने से उसका योग्य सामना हो सकता है । **अन्याय के सामने उदारता से वर्तन करना होता है । अन्याय, दुःख, त्रास, आदि प्रसंगों में वह वह प्रसंग जीवननिर्माण के लिए परम कृपा से प्राप्त हुए हैं, अमुक-अमुक गुणों, धीरज, सहनशीलता, उदारता, सहिष्णुता ऐसे ऐसे अनेक गुणों को विकसित करने के लिए वैसे वैसे प्रसंग प्राप्त हुए**

हैं। ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञानभान *जीव* रख सके, तो वैसे प्रसंग में उसे बहुत मिल सकता है, उसमें से उसे तो आनंद-आनंद हुआ करता है।

मुश्किल के उपाय

पर **जीव** वैसा करने का छोड़कर वैसा होने पर मन से टूट जाता है या नामर्द होकर ढेर हो जाये और वैसा सोचे तब क्या बैठे रहे ? उस समय तो गुस्सा करके भी साधक को चेताना ही रहा। भले उसे लगे, पर सही स्थिति तो समझानी ही रही। **जीव**प्रकृति के भावों को तो साधक को ज्ञानपूर्वक की जागृति से इनकार और वह भी कठोर रूप से इनकार किया करना रहता है। संसारव्यवहार के वर्तन के प्रसंगों में **जीव**पन के रूप में कभी साधक को आचरण नहीं करना है, पर उस उसमें जीवनविकास की साधना की भावना किस तरह से अधिक जीवित हुआ करे और किस तरह से शांति, समता, प्रसन्नता आदि में खंडितता न हो, पर उलटा उसकी मात्रा में बढ़ोतरी हुआ करे उस तरह साधक को वर्तन ज्ञानपूर्वक का अभ्यास विकसित किया करना रहता है।

सद्गुरु की मदद की शर्त

यदि साधक सद्गुरु की मदद चाहता हो, तो उसे सद्गुरु को अपने में जीवित करके काम करते बनाना रहता है। इसके बिना यह कभी नहीं हो सकता है, यह भी ठोस हकीकत है। फिर भले न हम कितनी भी आवाज लगाये या रोये ! इसलिए जैसे सद्गुरु कहे, बतलाये, लिखे, वैसा करके दिखाने की हृदय की जीतीजागती चाहना रखा करे और उसमें कहीं थोड़ी-सी भी न्यूनता नहीं दिखाये तभी साधना का काम होता है। बाकी, संसारव्यवहारवर्तन आदि तो द्वन्द्व से बना है। उसका इतिहास जानने की हमें परवाह भी नहीं है। हमें तो तुम भले मृत्यु पाओ, पर उसे कहीं भी नीचे की ओर झुकने न दो और बस सद्भाव से खूब झूमते, टुकड़े भले हो जाय, पर टूटना नहीं है। हारने पर भी वह युद्ध तो करता ही रहता है। वह टूट जाने पर भी टूटता नहीं जाता। उस समय हृदय में हृदय से प्रार्थना कर-करके प्रभु को पुकार-पुकार कर उनकी कृपामदद निमंत्रित

करता है । ऐसा **जीव** साधक बन सकता है । साधक यह तो पराक्रम, शौर्य, न्योछावरी की कथा है । उसमें कायरता कहीं भी नहीं चल सकती है ।

• • •

दोष का टोकरा गुरु पर न रखो

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. २९-४-१९५२

साधना में श्रद्धा रखकर जीवट से कूद पड़ता है और जीवट से कूद पड़ना कहीं ऐसे का ऐसे नहीं हो सकता । जीवट से कूदने के लिए के मनोबल भी पक्के होने चाहिए । इसके बिना जीवट से कूद भी नहीं सकते हैं । उसमें बस कूद ही पड़ना है । डूबकी पर डूबकी लगाते ही जाना है । प्रत्येक डूबकी में नयी नयी भावना व्याप्त होती है । एक की दूसरे में समानता भी नहीं होती और एक को दूसरी तरह अथवा अधिक सच्चे ढंग से तो एक से दूसरे की तुलना भी नहीं कर सकते हैं । साधना में आगे जाने पर तो नयी नयी दुनिया साधक में प्रकट होती है । उस समय यहाँ संसारव्यवहारवर्तन में जितने ज्ञानपूर्वक का उत्साहभरा प्रतिकार किया करना होता है, उससे तो कहीं अधिक गुना उस समय प्रतिकार साधक को करना रहता है । नहीं तो वह कहीं उसमें अलोप हो जाएगा ।

शुरू शुरू के साधना के जीवन में हमले मात्र अपनी ही प्रकृति के अत्यधिक आया करते हैं । फिर, आगे जाने पर तो बाहर से भी हमले होते हैं । वैसे हमले के प्रकार भी साधना में आगे जाने पर तो सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम होते जाते हैं । उस पर काबू पाने के लिए तो भारी में भारी ज्ञानपूर्वक की चेतनयुक्त जागृति की आवश्यकता रहती है । ऐसी जागृति यदि अभी से ही साधक विकसित न करने लगे तो उसका क्या होगा ? इसलिए साधक हृदयपूर्वक और ज्ञानपूर्वक की सच्ची संपूर्ण जागृति रखा करने का ज्ञानभान तथा प्रसंग का हेतु और प्रसंग तो साधनाजीवन के गुण प्रकट करने के लिए विकसित करने के लिए प्रकट होते हैं, ऐसा ज्ञानभान यदि हृदय में न रखता रहे, तो क्या गुरु को कहीं भी कुछ न होगा ? वह तो कह-कहकर गरजकर-बजाकर हमें कहता है कि 'भाई,

इस मार्ग में जागृति तो अनिवार्य है । प्रसंग तो गुरु हैं !' तथापि यदि हम वैसा वर्तन करने का ज्ञानभान न रख सकें, और प्रसंगों का हेतु खो दे, तो गुरु ऐसी सही हकीकत उस समय हमें लग जाने के लिए जोरदार ढंग से वैसी हकीकत वे हमारे आगे रखे, तो वे चिढ़े हुए हैं, ऐसा हमें लगा करता है, ऐसी हमारी तो खूबी है !

मुझे तो लगता है कि उस प्रकार की वृत्ति वह हमारा भ्रम है । अभी उसे समझने के लिए की समता, शांति, तटस्थता, धीरज, विवेक, वस्तु से पर होकर देखने की शक्ति-कला ही जहाँ साधक के जीवन में खिले नहीं है, वहाँ वैसा **जीव** उस बेचारे को खिताबों दे देते हैं, यह उसका सयानापन नहीं है और बुद्धिचातुर्य भी नहीं है । उलटा इससे तो उसका अज्ञान और उसकी मूर्खता ऊपर नजर आने लगती है । इसलिए जो तो गुरु के सिर पर उड़ेलने को कृपा करके न करना बने उतना हमारे लिए उत्तम है ।

'प्रणामप्रलाप' में पेज नंबर ९६ और ९८ पर का भजन पढ़ जाने की बिनती है ।

खुदाई नूर के चश्मे, पहनाये जीवन जिसे,
चढ़ाने को जीवनरंग, पीसाना बने कुचलाना बने
खुदा की वह प्रसादी है, खुदा का प्रेम उसमें है,
मसलाना खुदा के लिए जीवन का हार्द माना है ।
('प्रणामप्रलाप', पृ. १७)

भावना का ही महत्त्व

साधक हो सके उतनी शांति, समता, तटस्थता, प्रसन्नता यह सभी को अत्यधिक सँभालना है, जीवनविकास की भूमिका रचाने के लिए वे बहुत बहुत आवश्यक हैं, परंतु उसे ही यदि महत्त्व दे-देकर ऐसे गुणों को ही प्राप्त करने के लिए मथा करें, तो उसका तो अंत नहीं आयेगा । इससे तो हृदय में एकनिष्ठा से चेतनस्मरण की भावना यदि हम विकसित कर सकें, तो वैसे गुण अपने में प्रकट होते हम अनुभव कर

सकेंगे । ऐसे गुण यदि स्थापित हुए हों या स्थापित होते जाते हों और उनकी पूर्ण, सही, प्रतिष्ठा यदि हृदय में हो गई होती है, तो साधना में अति वेग प्रकट होता है । उसके लिए संसारव्यवहारवर्तन में और साधक के मन में जो जो कुछ उठे, हो, जागे उसे कुछ भी महत्त्व नहीं देना है । उसमें अपनेआप करके कभी भी उसे आनुषांगिक श्रृंखला से न जोड़े । साधक की भूमिका को उलटी-सीधी करने या करवाने प्रकृति अत्यधिक और भिन्न-भिन्न निमित्त अंदर और बाहर से जगाये बिना रहनेवाली नहीं है ।

हम यदि उसके ही साधन बन गये, तो तो पूरा खेल बिगड़ा समझो । यह तो हमें खींचकर कहाँ ले जाएगा । कुछ न कुछ विचार करायेगा । दूसरे **जीव** के बारे में भी कुछ कुछ मन में जगायेगा और गुरु को भी वह नहीं छोड़ेगा । उसे भी वह तो पत्थर पर पछाड़ेगा । उसके भी कुछ न कुछ बहाने बनाया करेगा । यह तो पतन का ही मार्ग है । इसलिए जब जब ऐसा हो, उस समय शांति, समता, प्रसन्नता, विवेक आदि से जागृति रखकर विचार, विनय और विवेक को हृदय में धारण करें । प्रभु की प्रार्थना में मन को लगा देना । समझ-समझकर यदि ऐसा करते रहें तो जो ऐसा उगा, जागा या बना या बनता हो, वह तो अपनेआप बह जायेगा और उसे कभी भी सत्कार नहीं दे सकते । उसे साथ भी न मिले तो महत्त्व तो मिलेगा कहाँ से ? उसीका नाम उसका इनकार किया ऐसा कहलायेगा । उस समय कभी भी अकुला न जाये । आकुल-व्याकुल न हो जाना । ऐसे घबरा जाने से ही शांति आदि गुणों का शीघ्र भंग हो जाता है । इससे करके उलटा साधक को अधिक सहन करना पड़ता है ।

हमेशा साधक को हृदय में ज्ञानपूर्वक की भावना अधिक से अधिक कैसे जीवित (सकल कुछ जो किया करते हों उसमें, जो कुछ सुनते हों, बना करता हो अथवा तो संसारव्यवहारवर्तन में से खड़े होते प्रश्नों में, उलझनों में, घटनाओं में, प्रसंगों में आदि आदि में) रहा करे उसमें ही

साधक को अधिक महत्त्व खास करके तो दिया करना रहता है । हृदय में सतत भावना को जो सतेज किया करने का करेगा, वह अधिक से अधिक निश्चिंत और आराम से रह सकेगा । साधना की, भावना की एकाग्रता, केन्द्रितता आदि को तोड़ाने, कहीं कुछ न हो ऐसा तो कुछ नहीं । वह तो जरूर आयेगा ही । वह भी अनेक स्थूल और सूक्ष्मरूप में । उस समय पर चेतनपूर्वक की जागृति ही हमें बचाती है । ऐसा ऐसा प्रकटे उसे ऊपर से जाने दिया करना है, जो जागता है, वह जीता है । साधना में दो घोड़ों पर कभी नहीं बैठ सकेंगे । इससे संसार में रहना है सही पर जागकर, चेतते रह कर, हृदय की साधना को ही महत्त्व देकर । वही लक्ष्य है, और जो सही करना है, उसमें ही मनादिकरणों को पिरोने का किया करके रहना है । प्रभु की प्रार्थना में अधिक से अधिक हृदयस्थ भाव प्रेरित करना रहता है । अधिक तो क्या लिखुँ ? इसप्रकार कहे अनुसार यदि ठीक से करती रहो, तो समझ आयेगा । उस अनुसार अनुभव हो तभी कुछ तुम्हें समझ आया है लगेगा । इसलिए उसी अनुसार ही किया करना है ।

● ● ●

उत्कट इच्छा का महत्त्व

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. ३०-४-१९५२

जिस बाबत में हृदय में उत्कट इच्छा जागती है, तब उस इच्छा के विषय में अपनेआप एकाग्रता आया करती हैं । वही आतुरता के विषय के मननचिंतवन में, मनादि करण रहा करते हैं । साधना की भावना में हृदय की उस प्रकार की आतुरता बहुत बड़ा भाग निभाती है । हृदय में सचमुच, पूरीपूरी ऐसी उत्कट आतुरता प्रकट हुए बिना पुरुषार्थ में सच्चे प्राण प्रकट नहीं हो सकते हैं । इससे आतुरता को बहुत बहुत आवश्यक हकीकत, साधना के क्षेत्र में गिना है । जिस **जीव** को मनुष्यजीवन का महत्त्व जागा है, उसे ही आतुरता जाग जाती है । इससे प्राप्त जीवन के महत्त्व को पहचानने की अत्यधिक आवश्यकता रहती है ।

गुरु के साथ हृदयसंबंध करें

जीवन को जैसेतैसे मन की तरंगों, विचारों, वृत्तिओं, बुद्धि की गुत्थियाँ, पसंद-नापसंद आदि तथा प्राण के क्षेत्र की अनेक प्रकार की भावनाएँ, कामनाएँ, आशा-इच्छाएँ आदि आदि से फेंकने से जीवन **जीव**दशा में ही अधिक जकड़ायेगा, यह निश्चित समझें । ऐसा होने पर तो रागद्वेष आदि के द्वन्द्व में ही अधिक से अधिक फँसा करेंगे, तो ऐसे जीवन में तो दुःख, संताप, क्लेश, अन्याय, कठिनाइयाँ, त्रास, ऊब, अनिश्चितता, अनिश्चितता ऐसा ऐसा अनेक प्रकार का मन में बारबार उभरा करता है । एक की एक बात हजार बार कहनी पड़ती है, क्योंकि लाख बार जब हम ऐसा कहें अनुसार किया करेंगे, तब कुछ ठीक होगा, यह निश्चित हकीकत है । इससे साधक के दिल में कहा का महत्त्व जागे, उसके लिए वैसे कहे हुए वचनों को बारबार हृदय समक्ष लाया करना चाहिए । जिस पर संपूर्ण प्रेमभाव, आदरभाव, श्रद्धाविश्वास हृदय में जगे हुए होते हैं, तो उनके वचन का हार्द, हृदय एकदम स्वीकार कर लेता होता है ।

प्रतिदिन के व्यवहार में भी हमने वैसा अनुभव किया हुआ है । इसी कारण से साधक को उसे स्वयं अपनी स्वतंत्र मरजी से स्वीकार किये हुए गुरु के साथ का संबंध हृदय में हृदय से ज्ञानभक्तिपूर्वक का विकसित हो गया हुआ हो, तो गुरु को बारबार टोका करने की भी आवश्यकता नहीं रहती है । जब परस्पर हृदय सद्‌भाव और सत्कारयुक्त स्वीकार की भावना से एकमेल हो गये होते हैं, तब साधक **जीव** सैन में समझ जाता होता है । जो कहा हुआ हो, उसका आचरण करने में शूर हो जाता है । कहे हुए का आचरण करने में मृत्यु की भी वह परवाह नहीं करता है । हृदय का प्रेमभाव, सद्‌भाव, आदरभाव, भक्तिभाव जिसमें प्रकट होता है — और वह भी ज्ञानपूर्वक के पूरे उत्कट प्रमाण में — तब गुरु के हृदय के साथ सहकारभरा तादाम्यता के भाव में वह प्रकट होता है, और परिणाम पाता है । ऐसा होते गुरु के वचन का पालन करने में जीवन की इति-कर्तव्यता हृदय से वह समझता है और अनुभव करता है ।

साधक के हृदय का ऊपर अनुसार का जीवित संबंध तब प्रकट हो जाता है। तब साधक से गुरु के कहे अनुसार, उसके दर्शाये हुए भाव के अनुसार, साधना होती चलती जाती है। उसके पश्चात् तो साधक अपने सद्‌गुरु के हृदय के भाव को सूक्ष्मरूप से हृदय में हृदय से पकड़ सकता हो जाता है । जिनकी कृपामदद लेनी है, उसके साथ हृदय का प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक का सुमेल उसकी आत्यंतिक दशा में प्रकट करने की अत्यधिक आवश्यकता रहती है । यदि संसारव्यवहारवर्तन की दशा में सुमेल अति आवश्यक है, तो साधना के क्षेत्र में उसके आत्यंतिक रूप में विशेषरूप से अत्यंत आवश्यक है। जो साधक अपने सद्‌गुरु का हार्द और उसके जीवन के मर्मभाव को समझता है, वह तो उसकी भावना अनुसार जीवन को गढ़ने में मशगूल बना करता है । जो साधक ऐसा एकाग्ररूप से और केन्द्रितरूप से अपनी साधना के भाव में मस्त हो जाता है। उसके आगे-पीछे जो बनता होता है, उसमें वह होने पर भी उसमें उस तरह का महत्त्व बाद में तो होता नहीं है। उससे जरा भी वह घायल नहीं होता है ।

ऐसे हृदय-हृदय के संबंध की खूबी, रहस्य और महत्त्व हृदय का प्रेमभक्तिभाव जहाँ प्रकट होता है, वहाँ जो तो सब एक करनेपन में ही व्याप्त है । हृदय की पकड़ जिसमें होती है, उसमें मन सहजता से रहा करता है । वहाँ प्रयत्न की भी जरूरत नहीं रहती है । हृदय की पकड़ जिस विषय में होती है, उसमें कहीं दखलगीरी होती नहीं या रहती नहीं है। वहाँ आशंका भी नहीं होती है, अरे ! उद्‌भव ही नहीं होती । उसी तरह साधना का भाव जब हृदय में पूरा प्रवेश पाकर वहाँ प्रत्यक्ष होता है, उस समय साधना अपनेआप चला करती है । उस समय पर करणों की अशुद्धि सभी एकदम शुद्ध होकर साधना के भाव के योग्य साधनरूप वे वे करण हो जाते हैं। किसी भी तरह के प्रखर पुरुषार्थ करने से जो होना संभव नहीं होता है, वह साधक की ऊपर बताई हुई हृदय की दशा होने पर संभव हो जाता है । इसलिए साधक को साधना का भाव हृदय में हृदय से प्रवेश पा कर-करके वहाँ एकाग्र और केन्द्रित हो प्रत्यक्ष

जीताजागता हो जाय, उसके प्रति अपना सकल लक्ष रखना होता है । उसे ही यानी साधना के भाव को सर्वप्रकार का सर्व में महत्त्व हृदय से जागृतिपूर्वक यदि वह दिया करे तो साधना की भावना का वेग बढ़ता हुआ वह जरूर अनुभव कर सके । तब स्वप्रयत्न हृदय की जाग्रत धारणा में वह समा जाता होता है । भावना की अखंडता में कहीं अंतराय अनुभव होते हृदय की जागृति सहजता से पुकार उठती है, और वह टूटती अखंडता को फिर से सँभाल करके टूटता तार एकदम सांध लेती है ।

ऐसी शरणागति की भावना हृदय में प्रेमभक्तिपूर्वक की जब सिद्ध होती है, तभी साधना का सचमुच काम तो शुरू हो जाता है, यह अनुभव की ठोस हकीकत है । यह देखने पर तो हम अभी एक चींटी के पैर जितना भी नहीं चले हैं । इससे साधक को धीरज खोनी नहीं है, परंतु ऐसी समझ से यानी ऊपर कहा वैसी समझ से, उसे कहाँ और कैसा हृदय में हृदय से महत्त्व दिया करना है, उसका संपूर्ण स्पष्ट ज्ञानभान उसे यदि प्रकट हो सके तो उसका काम भी पक जाएगा । उस हेतु से और समझ से जो स्पष्ट हकीकत है, वह लिखकर बतलायी है । जैसा स्वार्थ और गरज पकी होगी वैसा उसका काम होनेवाला है, यह तो जाहिर हकीकत है । तथापि हमें तो जिस किसी **जीव** को सत्य हकीकत — और वह भी अनुभव की हो वह — बतलाते रहना और उसके बाद यदि उसके हृदय में राम जागे होंगे, तो उसे जैसा करना हो वैसा भले करे । **इस जीव** ने इस तरह जो तो सब लिखा हुआ है, तभी आज.... भाई दूसरे महान आत्मा के साधना के विषय का लेख उनके पढ़ने में आने से, वे उसके साथ तुलना कर सकते हैं और कहते हैं कि 'ऐसा पूज्य मोटा ने तो बारबार लिखा हुआ है, मात्र हम में ही दोष है ।'

● ● ●

अपना दृष्टांत

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. ३०-४-१९५२

प्रभुकृपा से हम सदा ही परम सद्‌गुरु के चरणकमल की प्रेमभक्ति-ज्ञानभाव से उत्कट आतुरता हृदय में किया ही करते थे । उनके सूक्ष्म

बोध का सद्भाव और सत्कारभाव से हृदय में हृदय से स्वीकार हुआ करे, ऐसे उत्कट भाव को भी भजा करते थे । ऐसी साधनादशा में दूसरे **जीवों** के गुणों को पहचान-पहचान करके उसकी कदर करते । सभी स्वजनों की प्रकृति में दृष्टि पड़ते उसमें से पराङ्मुख होने पर्याप्त चेतनयुक्त जागृति रखा करते थे । प्रभु की भावना को सदा ही ज्वलंत किस तरह रख सके, उसके ही मननचिंतवन में रहा करते थे । जहाँ जहाँ और जब-जब अपने **जीव** की प्रकृति का **जीव**भाव से व्याप्त होना बनता, वहाँ-वहाँ एकदम भौचक्का भड़ककर उत्कट जागृति से उसमें मन को जाने से रोक देने का प्रभुकृपा से हुआ करता था । उस समय हार पाने का होते उसमें दुगुने जोश से संघर्ष करने का हुआ करता था । ऐसे टूट पड़ने को तैयार हुए हृदय में प्रभुप्रार्थना उसकी कृपामदद याचने के लिए हुआ करती थी । प्रभु के स्मरण को एक क्षणमात्र भी भूलने में दिल में अत्यधिक लगता था, तब भी उसकी अखंडता प्रकट नहीं होती थी, वह तो अत्यधिक सालता दर्द था, और उसके लिए प्रभु को बारबार प्रार्थना हुआ करती थी ।

सर्प के विष में से अमृत

जब प्रभुकृपा से बोदाल आश्रम में **इस जीव** को जो साप काटा था, उस समय मृत्यु का पल आया, मृत्यु का अनुभव होता था । प्रभु ने कृपा करके वह प्रसंग जाप को अखंड करने को दिया । खूब जोर जोर से जाप हुआ करता था । अजपाजाप का प्रत्यक्ष अनुभव होते जा रहा था । एक तरफ से विष की असर से अंदर में बेहोशी हो जाने जैसा हुआ करे और बेहोश हुए तो मृत्यु का भयानक पंजा पड़ेगा ही, तो वैसा न होने देने के लिए अंतर से चेतनयुक्त जागृति ला ला करके नामस्मरण जोरशोर से हुआ करे, ऐसे प्रचंड भयानक युद्ध में कूदने से और नामस्मरण सतत एक-सा उस पल जारी रख सकने का बनने से, सर्पदंश और उसके विष की असर से बेहोश हो जाने जैसा होने की पल जागने पर उसका संपूर्ण उपयोग ज्ञानभक्तिभाव से हृदय की चेतनयुक्त जागृति से सामना करने में हुआ था, यही उनकी परमकृपा थी । उसमें से जाप

की अखंडता प्रकट हुई, वह प्रकट होने पर उसके पश्चात् तो प्रत्येक प्रसंग में प्रभुकृपा से उपयोग से बरतने का हृदय में ज्ञानभान प्रकट होता जाता और तब **इस जीव** को एकांत शांति अत्यधिक पसंद थे, उस समय ज्ञान भी प्रकट होने पर भी कभी दिखलाया नहीं है । हमेशा नम्र से नम्र रहने का प्रभुकृपा से हुआ जाता था । प्रत्येक वर्ष एकाद महीना एकांत में जंगल में चला जाता था ।

● ● ●

काम तो साधना का अंग है

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. १-५-१९५२

जब जब मन का बड़बड़ाना और चटपटी कहीं किसी में रहा करे, तो उसका हल निकालना चाहिए । कोई पूछे तो नम्रता से कहें । हो सके वहाँ तक आखिर की आखिर हद तक काम किया करने में ही जीवन की शोभा है । हो या न हो वह भी देख सकते हैं । उस समय हमें भगवान पर भरोसा रखकर प्रार्थनाभाव से उसे ही कहा करना । शरीर उत्तम साधन है । उसे सँभालने की भी अति जरूरत है । उसकी खुशामद करने की जरूरत नहीं है । रोज हर्र लेती हो सही ? नमक के पानी के कुल्ले तीन बार करती हो ?

संशय यानी अश्रद्धा

भगवान ही जिसमें और उसमें सबसे सर्वश्रेष्ठ है । उसका ही सच्चा भरोसा गिनना होता है । उसके भरोसे जो हृदय से रहता है, उसमें हृदय की नेक दानत सच्ची पूरी उत्कट तमन्नापूर्वक की भक्ति प्रकट होती है, तो भगवान की जैसी मदद मिलती है, वह अनुभव करके हमें सब प्रकार से आराम मिलता रहता है । यदि हमें भगवान का भरोसा हृदय में लगा हो, तो किसी प्रकार की गुनगुनाहट और संशय न रह सके यह बात निश्चित है ।

घरनौकर की नौकरी भी की है

शरीर से भी मैंने प्रभुकृपा से काम करके बतलाया है। दूसरों को तो काम की भी आदत। इस *जीव* के शरीर को ऐसी आदत नहीं थी। नौकर के रूप में काम किया है। कितना अधिक काम ! ढेरसारा काम ! उसका वर्णन करने से क्या लाभ ! शरीर भले ही टूट पड़े ! परंतु मन यदि प्यारे प्रभु में हो तो वहाँ हिम्मत मिला ही करती है। स्थूल मदद भी मिला करती है। अंत में दो-तीन दिन बाकी रहे, तब तो सेठानी भी मेरे साथ मदद करने लगे। मुझमें और उनमें खूब प्रतिस्पर्धा होती। भगवान का भरोसा अभी हमें सच्चा और पूरा हुआ नहीं है, उसीकी ही सारी रामायण है। इसलिए मेरी तो प्रार्थना है कि तुम में केवल एक श्रीभगवान का ही पूरा सच्चा भरोसा हृदय में जाग जाय, ऐसी भक्ति तुम में प्रकट हो जाय, ऐसी उस प्रिय को अंत:करणपूर्वक प्रार्थना करता हूँ।

संसार का हेतु

बहुत ही थक जाएँ तब भी कृपा करके हताश तो कैसे हो सकते हैं ? जो जब हार जाय, थक जाय या सूखकर काँटा हो जाय, वह भगवान को क्या याद कर सकता है। इसलिए हमें तो जिसमें और उसमें उस उस समय उनकी कृपामदद प्रार्थनाभाव से माँगा करने का चेतनयुक्त ज्ञानभान हृदय में जगाना वही एक उत्तम हल है। संसार में मिले हुए **जीव** हमें ज्ञानभाव में प्रेरित करने के लिए साधनरूप हैं, उस भाव से उनका हृदय से स्वीकार होता रहे, तभी सुमेलभावना समभाव से सभी में सद्भाव से व्याप्त रहेगी।

● ● ●

कुंभकोणम् ॥ हरि:ॐ ॥ ता. १-५-१९५२

इसके साथ का पत्र हमारे प्रिय हरि:ॐ के पराक्रम का नमूना है। उसने पिंड बनाकर कहीं इधर-उधर कर दिया था, वह मुझे प्राप्त नहीं हुआ था। उसमें आँसू पड़े हुए हैं और आँसू से अक्षर मिट गये

हैं । उस समय वह कहे कि, '**मोटा** ! क्यों रोते हो ? कौन रो रहा है ?' ऐसा कहकर वह पत्र ले लिया था, वह आज हाथ में आया, वह भेजा है, तो जैसे तैसे करके उसे पढ़ना । कविता है उसका गद्य करके लिखना । लिखना यानी नकल करना । गद्य किस तरह लिखना ऐसा तुम्हें लगे तो पहली पंक्ति का गद्य करके तुम्हें समझाया है **:**

'जहाँ जीवन है, वह जीवन स्वयं छिपकर पड़ा नहीं रहता । वह तो बहते झरने की तरह वहाँ कैसा व्यक्त हुआ है !'

इस तरह कविता की नकल कर लेना और तारीख पुरानी ही डालना और हरि के पराक्रम की ही निशानी है ऐसा लिखना, इससे मुझे भी नकल कराते समय पर हरि बहुत याद आये ।

पहले तो कहा हुआ करके बतलाओ

जहाँ तक सद्‌गुरु के हृदय के साथ हृदय सद्‌भाव से सत्कार करने योग्य ऐसी स्वीकार करने की भूमिका से मिल कर घुल नहीं जाता, वहाँ तक साधक को तो सद्‌गुरु के बतलाये उपाय किये करने में ही मशगूल रहना चाहिए । उपाय यदि न किया करें तो कुछ भी नहीं होगा । गुरु का कुछ नहीं मानना होता हो, गुरु कहे उस अनुसार किया करने में हृदय की सच्ची दानत और भावना प्रकट करने का न होता हो तो फिर क्या करना ? उसका उत्तर तो साधक **जीव** को देना रहता है । गुरु ने जो मार्ग बताया, उस मार्ग में साधक सचमुच तनदिही और उत्साह से वैसा करके बतलाने के बाद साधक को गुरु से पूछना रहता है, वह जानना ।

● ● ●

कुंभकोणम्　　　　॥ हरिः ॐ ॥　　　　ता. २१-४-१९५२

हरि के पराक्रम का पत्र –

जहाँ जीवन है, वह जीवन स्वयं छिपा पड़ा नहीं रहता । वह तो बहते झरने की तरह वहाँ कैसा व्यक्त हुआ करता है !

कौन सफल होगा ?

जो हृदय जीवन को समझकर जीवन को उच्च ध्येय की ओर ले जाना चाहता है, उसकी अपनी दृष्टि उसे प्राप्त होते सभी कर्म में उसे (प्रभु को) देखने के लिए यत्न करता है और जीवन का जो तत्त्व है, वह मेहनत करके खोजे बिना और संघर्ष किये बिना ऐसे ही कहीं नहीं मिलता है। जीवन के लिए जो पूरी तनदिही से प्रयत्न करता है और कर्म करते समय प्रभुभाव ख्याल में रखता है, उसीके जीवन में खमीर आता है। जो **जीव** प्रकृति के भाव के सामने हारते हारते भी अडिग रहता है और उस समय प्रभु को याद करता है, वही जीवन को पा सकता है। नकारात्मक विचारों और वृत्तियों के साथ जो **जीव** मिश्रित नहीं होता और उससे अलग रहने के लिए मथता है, वह प्रभु में घुल सकता है। **प्रत्येक होते रहते कर्म-प्रसंग में जो *जीव* प्रभु की धारणा हृदय में जागृत रख सकता है, वही प्रभु की कृपा पा सकता है।**

प्रभु ही मेरा केवल सच्चा जीवनसाथी है, और एक प्रभु का ही भरोसा सत्य है, ऐसा जो हृदय में दृढ़ करता है, उसे प्रभु मदद देता रहता है। किसी भी कार्य में स्वयं अकेला नहीं है, प्रभु अपने साथ ही है, ऐसा जो मानता है, उसे प्रभु कहीं अकेला नहीं छोड़ते हैं। जिसे प्रभु के बिना जीवन कठिन और नीरस लगता है, उसके जीवन में प्रभु स्वयं हृदयरस और शक्ति प्रेरित करते रहते हैं। जो **जीव** हृदय के भाव से प्रभु का मधुर स्मरण किया करता है, और प्रभु को सभी समर्पित करता है, उसके हृदय में भक्ति के पूर चढ़ते रहते हैं। प्रभु का साथ विकसित करने के लिए जो जो कुछ होता है, उसमें उसका ही भाव जो हृदय पहचानता है, उसे प्रभु की मदद मिलती रहती है। सर्वश्रेष्ठ प्रभु ही है। प्रत्येक बात में प्रभु ही समर्थ है, ऐसा जो हृदय से मानकर प्रभु को हृदय से भजता रहता है, वहाँ प्रभु उसमें जीवित होता है। प्रभु की भावना की गति जब इधर-उधर हो जाय, तब और भावना की अखंडता टूटे, तब जो **जीव** तुरंत चेत चेतकर उस वृत्तिओं के सामने संघर्ष करता है, वही जीवन में कुछ पा सकता है। जगत के व्यवहारवर्तन में भी जब दृष्टि

नकारात्मक हो जाय, तब प्रभु को जो **जीव** आर्द्र और आर्तभाव से प्रार्थना करता रहता है, वही इस जगत में जीवित रह सकेगा ।

यदि संसार में डूब गये तो अवश्य संसारी हो जाओगे । संसार से ऊपर उठने का जो प्रयत्न करता है, वह कभी डूबता है सही, पर दुबारा ऊपर उठ आता है । दूसरे **जीव** के भाव में जिनकी दृष्टि और वृत्ति संसारी की रहती है, वह तो बह जाता है, और पूरा जीवन खो देता है । **जीव**स्वभाव के जो विचार और वृत्तियाँ उठती हैं, उसका हृदय में स्वस्थता के साथ सामना करना है । यदि जगत में द्वन्द्व के जुड़वें मिले, उस समय पर अकुला गये, तो वह तो उलटा घटने के बदले बढ़नेवाले हैं, वह निश्चित जानाना और वैसा समझना ।

'विपरीत' प्रसंगों के समय वर्तन

दु:ख, अन्याय आदि होते मनोभाव को बिलकुल भी उत्तेजित न होकर जाने देना । उस समय पर दृढ़ता से अधिक स्वस्थ, शांत रहने का हृदय से ख्याल रख-रखकर वैसे प्रसंगों में भी मन की समतुला रखकर, बनाकर, हृदयबल बढ़ाने, दूसरे **जीव** के प्रति जीवित सद्भाव रखने की प्रत्यक्ष शिक्षा देने आदि आदि हेतु के लिए वे प्रसंग मिले हैं, ऐसी प्रत्यक्ष धारणा हृदय से जीवित दृढ़ करने के लिए प्रभु की कृपा से प्रार्थना कर-करके शांति से प्रयत्न किया करें । तो तुम देखना कि इससे हम कुछ भी खोयेंगे नहीं, परंतु उलटा हृदय में प्रेरणाबल पायेंगे । हमारा मन अधिक विशाल, उदार हुआ करेगा । वैसे वैसे प्रसंगों में जीवनविकास की भावना द्वारा साधना की दृष्टि, वृत्ति और भाव रखा करने से जीवन को उत्तम ढंग से गढ़ने जो मौके प्रभुकृपा से प्राप्त होते हैं, उसका उस तरह और उस भाव से जो साधक**जीव** जागृतिपूर्वक लाभ लेता होता है, और उस समय पर हृदय में प्रभु की कृपामदद के लिए हृदय में प्रार्थना करता रहता है, वैसा **जीव** वैसे प्रसंगों में जीवित रह सकता है, यह निश्चित जानना ।

इससे उस उस समय पर अधिक सावधान बनना । भाव से, अंतर में गहरे उत्तेजित होने से काम बिगड़ता है । उत्तेजित होने से शांति, तटस्थता, समता, प्रसन्नता आदि से प्राप्त हुई भूमिका का भी भंग होता

जाता है, वस्तुस्थिति का सही दर्शन उस समय नहीं हो पाता है । उत्तेजित होने से मन, प्राण, बुद्धि की निम्न भूमिका में हम सरकते चले जायेंगे । प्राण के क्षेत्र का आवेग, आवेश, उद्वेग आदि हमें घेरकर हमें उसी का ही विचार करवायेंगे । उसके उलटे चश्मे पहनाकर हमें अंधा बना देंगे । मुझे तो सभी स्वजनों का ऐसी **जीव**दशा का जो जो सभी ऐसा सही-गलत हुआ करता है, वैसा वैसा देखकर कितना और कैसा होता होगा वह तो कौन जाने ?

• • •

निराशा में जो टिके वह साधक

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. २-५-१९५२

तुम मुझे निराशा की बात लिखो उसमें मुझे कोई बाधा न हो, परंतु निराशा के समय कितना और किस तरह सामना किया, कैसे युद्ध किया, स्वयं कितने दृढ़ रह सके, और जीवन की खुमारी उस समय कितनी और कैसे रख सके, ऐसी सभी जीवन की हकीकत तुम लिखो, तो उसमें मुझे अधिक रुचि होगी । मेरे लिखने के मुद्दे की हकीकत कृपा करके ध्यान में रखना । यदि जीवन में साधना ही करनी है, तो निराशा तो पार बिना की आयेगी । एक-एक से पूरी, बढ़कर और एक-एक के आकार-प्रकार भी अलग-अलग । निराशा तो ऐसी आयेगी कि जो अभी से लिखने में सार नहीं हो । शुरू शुरू में यदि साधक इस प्रकार संसारव्यवहार की जो क्षुल्लक हकीकतें हैं, उसमें शहद में जैसे मक्खी डूब जाय वैसे यदि वह वहाँ डूब जाता हो और वह ज्ञानपूर्वक जागृति न रख सकता हो, तो उसका आगे होगा क्या ? साधक निराशा से कभी सूख जाये, घिर जाये, प्रवाहित हो जाये या डूब भी जाय, उसकी भी ना नहीं है, परंतु वैसे समय में वह कितनी जागृति रख-रखके प्रवाहित होते होते भी कितना सामना करता है, और भगवान को प्रार्थनाभाव से कितनी और किस तरह पुकारता है, यह सब अति महत्त्वपूर्ण है ।

साधक कभी हारे, पर हार में से तो वह एकमात्र उठने का ही जानता होता है । वह हारता होने पर भी उन्नत मस्तक से खड़े रहने का

प्रभुकृपा से सीखता होता है । वह सिर भले देगा पर टेक या नाक तो नहीं ही जाने देगा । ऐसे वह निराशा से भले ही घिर जाये, पर वहाँ भी वह जीवित तो रहा करने का ज्ञानभान हृदय में रखेगा । उसमें भी उस पर तैरने के लिए अपने से हो सके उतनी बेकार की कोशिश तो करेगा । उस समय कृपामदद के लिए श्रीप्रभु को आर्द्र और आर्तभाव से पुकारा करेगा । ऐसे के ऐसे ही सामना किये बिना वह कभी हार को तो स्वीकार कर लेगा ही नहीं ! हार के अधीन तो नहीं ही होगा । प्रत्येक निराशा, हार या **जीव**स्वभाव के भाव, विचार, वृत्ति के प्रसंग में साधक कैसी कैसी जागृति रखकर हृदय में वर्तन करता है, वह सब साधना की भावना की शिक्षा के लिए और वृद्धि के लिए है, ऐसा हृदय में उस उस समय ज्ञानभान प्रकट होना और प्रकट होकर उस अनुसार वर्तन करना हो पाये यह अत्यधिक आवश्यक है ।

साधक के जीवन का स्थूल मृत्यु

साधक कभी सिर पर हाथ रखकर बैठा तो नहीं ही रहे । वह तो जिस तिस का उचित हल निकालने को यत्न करेगा कि जिससे उसकी शांति, समता, तटस्थता, प्रसन्नता आदि का भंग न हो । जब जब साधक को निराशा, हार, **जीव**स्वभाव और प्रकृति के भाव और अनेक प्रकार के द्वन्द्व की पकड़ में पड़ जाने का हो, तब तब हृदय में अधिक से अधिक शांत बनें । दृढ़ता से हृदय में स्वस्थता को धारण करें । कृपा करके धीरज रखे । प्रभु को प्रार्थना किया करे । ऐसे समय में अकुला जाने से उलटा मन अधिक खराब बनता है । अशांत हो जाने से, अकुला जाने से, तंग हो जाने से, उसमें खिंचाव अनुभव होने से जो परिस्थिति खड़ी हुई होती है, उसे वह लंबा करती है और व्यथा को भी लम्बा देती है । ऐसा होने से साधना की भावना की एकतारता जो कुछ जमी हो, वह तो टूट ही जाती है । साधक बेचारा कड़ककर टूट जाता है । बस, वही साधक के जीवन का स्थूल मृत्यु है ऐसा समझें ।

उससे कैसे बच सके

इसलिए मेरी तो तुम्हें प्रार्थना है कि ऐसे प्रसंगों में अधिक दृढ़तापूर्वक सावधान बनना, जागृत बनना और मन में कुछ भी न लेना । उपरोक्त बतलायी वैसी स्थिति में हृदय से प्रार्थना किया करना । ऐसा करने से मन में विह्वलता जागेगी, बेचैन हो जायेंगे, तो जोर से हरि:ॐ का उच्चारण करना । वैसा करने से संकोच हो तो प्रभुप्रार्थना मन ही मन में किया करना, परंतु साधना के भाव का विरोधी हो ऐसे प्रसंग पैदा हो तो उसमें एकदम एकाकार तो न हो जाये । सिर पर बड़ा बादल डाँवाडोल टूट पड़ा है, मानो महा आफत बरस रही हो और भयंकर आग लग गयी हो, ऐसे ऐसे खाली आवेश की भावना में मन को बहने न देना । बिलकुल स्वस्थ बनना । यह तो उपाय बतलाये हैं । इसलिए मर्द बनना । तुम्हारा ता. २९-४-१९५२ के पत्र से **इस जीव** के हृदय को शांति मिली है । मैं तो तुम्हारा जैसे ही पत्र मिलता है, वैसे ही तुम्हें पत्र का उत्तर भी लिखता जाता हूँ, इससे बिनसंगत भी कितना लगेगा, पर उसमें कोई बाधा नहीं है । **हृदय में हिम्मत रखना । हृदय में पूरी भावना ला लाकर जीना । प्रभु को पुकारती रहना । वही हमारा सहारा है । वही हमें देखनेवाला है और मददगार है ।**

और तुम पत्र संक्षिप्त क्यों लिखती हो ? पत्र संक्षेप में लिखना उसका अर्थ है कि हृदय को बंद कर देना है, ऐसा ही न ? जो भी कहना हो, उसे तुम लिख ही देना है । तुम्हारा रोता हुआ दिल और वह भी नामर्दाई भरा हुआ देखकर, पढ़ते हुए हृदय में मुझे दहशत होती है और अनेक धक्के अनुभव करता हूँ । इसलिए ही तुम्हें कहता हूँ कि कृपा करके मर्द बनना, मर्द बनना ।

हरि:ॐ, हरि:ॐ, हरि:ॐ ।

● ● ●

आपना असंतोष और लक्ष्य

कुंभकोणम् ॥ हरि:ॐ ॥ ता. १९-३-१९४९

पूज्य... में मेरी दृष्टि से तो अभी बहुत सी कमियाँ हैं । उनकी संसारव्यवहारिकता पहले से अधिक यद्यपि मात्रा में भले थोड़ाबहुत कम

हो, परंतु उसका **जीव** संसारव्यवहार में से निकल गया है, ऐसा तो नहीं है । नामस्मरण में अभी उनका मन लगा हुआ नहीं है । फिर, वह स्वयं जो आत्मनिवेदनरूप में मुझे कहते हैं, उस पर से उनका मूल्यांकन अलग ही ढंग से करता हूँ । उसमें फर्क पड़ता हुआ भी लग रहा है, पर **इस जीव** के मन तो अत्यधिक अधूरा है । उसमें आसमान-जमीन का अंतर किसी को लगता हो, तो उसका प्रताप **इस जीव** का है ऐसा बतला रहे हो, वह उचित नहीं है । **यह जीव** तो मात्र **उसका** मतलबी नौकर है । उसका काम, उसके कृपाबल आधार से वह करवाये वैसा करने का लक्ष्य तो है ।

किसी भी तरह जगाने की ही प्रवृत्ति

प्रभुकृपा से जो स्वजन प्राप्त हुए हैं और जो प्रभु की भावना को जगाने के लिए मिले हैं, उन्हें उन्हें जगाना, चेताना, प्रेरित करने के लिए ही इस *जीव* की प्रभुकृपा से प्रवृत्ति है । कोई कोई **जीव** को *येनकेन प्रकारेण* मंथन में रखा करने को प्रभु कृपा करे और वे जीवन के विषय में सोचे यही प्रभु से प्रार्थना है । सभी प्राप्त स्वजनों के हृदय का प्रेमभरा सहकार ज्ञान का अनुभव होने के लिए यदि मिला करे, तो उसमें तो परस्पर विकास ही हुआ करे । आप सभी प्रभुकृपा से मिले, इसीलिए तो पूज्य बा मिली है न ? वह मानती है उसका कारण आप सभी हो, परंतु प्रभुकृपा से मेरी समझ और पद्धति तो अलग-अलग है । मात्र यदि पूजा जाना होता, नामना, प्रसिद्धि, महत्ता बढ़ाने का चाहा होता, तो वह बिलकुल सरल था और है । यह दुनिया तो दोरंगी है, गतानुगतिक है । अभी उसे उचित उत्तम परीक्षा की सच्ची कक्षा हाथ में लगी नहीं है । अनेक उसे धोखा देकर ठग भी गये हैं और ठग रहे हैं, पर इससे क्या लाभ ! मुझे तो **इस** हेतु के लिए मिले स्वजनों को श्रीप्रभु कृपा करे और बल दे, तो भान उगाकर, उनको चिढ़ाकर, उनको उत्तेजित करके, उन्हें रिझाकर, उन्हें गुस्से करके-करवा करके, उन्हें गड्ढा में डालकर

या ऊपर चढ़ाकर, धक्का मार करके या घसीटकर, गालियाँ देकर तथा दूसरी ऐसी अनेक स्थूल और सूक्ष्म द्वन्द्व के खेल से उस उस **जीव** को प्रभुकृपाबल से सात्त्विक प्रकार की भावना से **इस जीव** में सोचते और रागवाले होते करवाना है। वैसा करवाने का असली कारण तो श्रीभगवान के प्रति का प्रेमभाव प्रकट कराने के लिए है। आप सभी के हृदय का प्रेमभाव मिलता रहे यही प्रार्थना है।

तीन ही रास्ते

सभी स्वजनों को उनका उनका साफ-साफ बतलाने का होते कोई कोई तो उसे उस तरह स्वीकार करने का भी नहीं कर पाते हैं। इस मार्ग के बारे में सोचना-अमुक अमुक तरह के निश्चित हुए माप, कक्षा, रीतरसम, समझ, आदत, पसंद-नापसंद, कल्पना आदि से नहीं हो सकता है। इसमें तो कोई कक्षा नहीं है, कोई आधार नहीं है। यह मार्ग समझने के लिए या तो प्रचंड तपस्या या तो प्रेमभक्तिभरा संतसमागम और तीसरा हृदय में हृदय से जीतीजागती त्वरित वेग से आगे बढ़ती जिज्ञासा और तमन्ना, यह तीन के बिना उस मार्ग को समझने का दूसरा कोई उत्तम साधन नहीं है। प्रयोग किये बिना उस मार्ग के सत्य का अन्वेषण करना, पाना और अनुभव करना असंभव है। जीवन की प्रत्येक प्रकार की प्रथा में से मुक्त होते होते कंठ में प्राण आ जाते हैं, वे कोई ऐसे ही नहीं छूट सकती है। ऐसी प्रथाएँ और ऐसी समझ, और ऐसी कक्षाएँ **जीव** को **जीव**पन में ही जकड़ रखती हैं। हम समझ, प्रथाएँ, आदतें, मत, अभिप्राय, कल्पनाएँ आदि आदि की कक्षा से जो तो सभी समझने का रखते होते हैं, इससे वह मार्ग अथवा उस मार्ग के हार्द का उचित ढंग से मूल्यांकन हम से हो नहीं सकेगा यह जान लेना।

स्वजनों को प्रार्थना

इसीलिए ही माँगता हूँ कि आप सभी के परिचय में प्रभुकृपा से दस वर्ष से थोड़ा थोड़ा करके यदि आना हुआ है, तो मेरे जैसे टूटेफूटे की प्रेमसँभाल लेना जी। उसका कोई कुछ क्रोध करके, राग से, मोह

से, प्रेम से या किसी दूसरी तरह से कुछ लगे, तो उसके लिए कोई उलझन न होने दें, प्रार्थना है । मेरी जात को किसी को कभी संपूर्ण मानने नहीं दी है । प्रभुकृपा से इतना तो प्रभु को हृदय में रखकर कह सकता हूँ कि श्रीगुरुमहाराज के कृपाबल से जो **कुछ यत्किंचित्** श्रीप्रभु की कृपाचेतना के आधार से प्रकट हुआ है, वह मेरे मन में ठोस हकीकतरूप है । उसके अनुभव भी किसी किसी **जीवों** को प्रभुकृपा ने करवाये हैं । **इस पत्र के द्वारा प्रार्थना करता हूँ कि *इस जीव* के बारे में कुछ भी अन्यथारूप न सोचने का हो तो वह प्रभु की परम कृपा है ।**

अपने जीवन में नजर

मुझे किसी के धन की भी नहीं पड़ी है । किसी के पास धन माँगा भी नहीं है, धन की ऐसी लोलुपता भी नहीं है और सत्ता का तो शौक कभी नहीं हुआ है और व्यक्त भी नहीं हुआ है । धन, सत्ता, मद, अहंकार आदि वृत्तियाँ जिस **जीव** में हो और काम कर रही हो, तो उसके लक्षण व्यक्त हुए बिना नहीं रह सकते हैं । जब सेवा के क्षेत्र में **यह जीव** था, उस समय उसकी दशा कैसी थी और रहती थी, उसके तो उस काल के साक्षी **जीव** अभी हैं । सत्ता में, धन में, मद में,, काम में, अभिमान में, आदि में राचनेवाले **जीवों** की कक्षा अलग तरह की होती है ।

अपना अनोखा 'हुंकार'

हाँ, इस **जीव** में एक प्रकार का 'हुंकार' है । परंतु उस हुंकार का प्रकार और **जीव**रूप के 'हुंकार' का प्रकार - इन दोनों प्रकार में अंतर है । ऊपर बतलाया हुआ हुंकार, यह **जीव**प्रकार के अभिमान की भूमिका पर का नहीं हुआ होता है । वैसे सात्त्विक हुंकार में मद भी नहीं, वैसा सात्त्विक हुंकार तो ज्ञान के व्यक्त होनेपन से आता है, जैसे फूल खिलने पर सुवास अपनेआप ही जन्म लेती है वैसे । उसमें सहजता है । फिर, वैसे हुंकार को **जीव**प्रकार के अहंकार के साथ भी समझना नहीं होता है । यह सब मात्र समझरूप लिखा है ।

दिव्य अनुभव क्यों सरक जाते हैं ?

Wealth, Power and Sex (धन, सत्ता और जीवप्रकार की अनेक वासना को संतोष करने की वृत्ति) ये तीन *जीव* को *जीव*रूप में रखनेवाले महा बलवान साधन हैं । धन या सत्ता की लोलुपता **इस जीव** में नहीं है, यह तो अनेकबार प्रभुकृपा से स्वजनों को बतलाया है । फिर, **जीव**प्रकार की कामनाओं की लोलुपता की बाबत में भी प्रभुकृपा से जिस तिस को उसकी चेतना के कई कई अनुभव हुए हैं । जहाँ तक **जीव** में सचमुच प्रेमभक्ति प्रकट न हुई हो, वहाँ तक ऐसे अनुभव होने पर भी सिर पर से सरक जाते होते हैं । उसकी असर टिकती नहीं है ।

मात्र हृदय के प्रेम की माँग

यह **जीव** उसकी जात को आप सभी पर ठोक के बिठाना नहीं चाहता है । ऐसी इच्छा भी नहीं है । किन्तु इस प्रश्न या हकीकत को एक अध्यात्मिक मार्ग के प्रयोग के रूप में यदि **इस जीव** को कुछ महत्त्व रखनेवाला देख सकते हो, तो जैसे युरोपादि देशों में कोई वैज्ञानिक आविष्कार के प्रयोग करनेवाले को, जैसे वहाँ का समाज उत्तेजन, मदद, सहानुभूति, प्रेरणा, ऊष्मा, सहारा, सुविधा के साधन प्रेम से कर देते हैं, उस तरह भी **इस जीव** को देखने की विनती है । प्राचीन समय में कविओं, चारणों आदि को बड़े-बड़े धनसंपत्तिवान अच्छी तरह पोषते,, पालते और उनकी उनकी प्रवृत्ति को अनुमोदन देते । **इस जीव** का भी जीवनविकास के प्रयोग का यज्ञ उसकी प्रत्येक भूमिकाओं में से गुजरते हुए अखंडरूप से श्रीप्रभुकृपा से चला ही करता है । वह किसी के पास कुछ चाहता नहीं । नहीं माँगता धनदौलत, सत्ता या ऐसा दूसरा कुछ भी । माँगता है आप सभी के हृदय का निःस्वार्थ प्रेमभाव, आप सभी के हृदय का उमंगभरा सत्कार, स्वीकार और सहकार । इतना यदि हो सके तो आपके जीवन में भाग ले सकने की **इस जीव** में श्रीप्रभुकृपा से जो कोई शक्ति हो, वह कामयाब (उपयोगी) हो सके ।

नम्रता से शक्ति प्रकट होती है

श्रीप्रभुकृपा से गरीबी के जीवन में भी लाचारी तो भोगी नहीं है। इससे कहीं किसी से या परिस्थिति से या दूसरे किसी से वैसा **इस जीव** से नहीं हो सकेगा। फिर, जीवन का पूरा ही भाग तो नम्रता स्वीकार करके ही जिस तिस के साथ रहने का और जीने का होने पर भी जीवनविकास की साधना में ऐसे प्रकार की कक्षा आती है, कि जिसमें साधन के लिए ज्ञानभक्तिपूर्वक की रखी नम्रता स्वयं ही तेजस्विता में प्रकट होती है। वह स्वयं एक शक्तिस्वरूप में पलट जाती है। ऐसी स्थिति में कौन उसे समझे और पहचाने और कौन उसका सही रूप का मूल्यांकन करे ? **सच्चे हृदय की नम्रता उस भेड़ जैसी नहीं होती है। उसमें तो अग्नि का प्रचंड तेज और शक्ति विद्यमान हैं।**

ऊर्ध्वीकरण का ही उद्देश्य

किन्तु हमें उसका ज्ञान और भान होते नहीं हैं। वैसे लोगों को समझने की हमारी समझ और भूमिका योग्य हुई नहीं होती है। इससे कुछ कुछ मानने का और सोचने का भिन्न-भिन्न **जीव** स्वजन अलग-अलग तरह से किया करते होते हैं। अमुक तो किसी एक प्रसंग को योग्य ढंग से समझने जितनी थोड़ी बहुत हकीकतें उसके पास मौजूद होती हैं, तब भी वे वैसा नहीं कर सकते हैं - ऐसी तो **जीव**स्वभाव की लाचारी होती है ! **इस जीव** ने तो प्रभु के कृपाबल द्वारा पूरी कसौटी पर चढ़कर और स्वजनों की अग्निपरीक्षा से पार होकर, स्वजन के हृदय में वास यदि उस प्रिय को करवाना हो तो करना है और वह भी जीवन का ऊर्ध्वीकरण करवाने के लिए ही।

महा कठिन मार्ग

ऐसा जीवन होने या बनाने के लिए कहीं कोई सलामत स्थिति में रह सकना तो बिलकुल असंभव हकीकत है। इसमें तो अनेक प्रकार की उथलपुथल, बड़े भूकंप, महा भयंकर तूफान, महान विप्लव, महान न कल्पना कर सके ऐसे बदलाव समाये हुए हैं। जीवनविकास की भावना

के उत्कर्ष के लिए उन सभी को सत्कारने की, स्वीकार करने की और उस अनुसार प्रेम से सहकार देने की जिस **जीव** की तैयारी हृदय के संपूर्ण उत्साह के साथ है, वैसे ही **जीव** उस मार्ग पर जाने को शक्तिमान होनेवाले हैं, यह जानना। यह चढ़ाव कठिन तो है। सभी **जीवों** से उस अनुसार हो पाना दुष्कर है। वैसा **यह** मार्ग तो दुष्कर दुष्कर है।

इसीलिए हमारे संतों, भक्तों, ज्ञानी पुरुषों ने सबसे सरल मार्ग संतसमागम का कहा है, कि जिससे उनमें यदि हमारा मन, चित्त, प्राण, मति, अहम् और हृदय का राग यदि हुआ तो हमारा उनमें प्रकटा हुआ राग हमें ऊँची भूमिका में प्रवेश कराये बिना नहीं रह सकेगा, परंतु उसके साथ साथ संतसमागम की — हमारे मन, चित्त, प्राण, मति, अहम् और हृदय की — भूमिका प्रेमभक्तिज्ञानवाली होनी चाहिए। उसमें दूसरा कुछ भी मिश्रित हुआ नहीं होना चाहिए, तभी हमारा उनमें वैसा राग होना पर्याप्त संभव है।

घर्षण में भी टिके वह राग

हृदय में हृदय से राग होना अर्थात् वैसे दो *जीवों* का निकट आना हो पाना। जैसे जैसे ऐसे दो परस्पर भिन्न-भिन्न दिशा के **जीवों** का पास आनापन होते वहाँ भारी मुठभेड़, मंथन, कठिनाइयाँ, उलटी समझ, संग्राम खड़े होंगे ही और हमारा उनके प्रति हृदय का जागा हुआ या प्रकट हुआ राग हमें उनके प्रति चिपके हुए यदि वह रखाया करे, तो हमारा उनमें राग प्रकट हुआ है, यह हकीकत सत्य है ऐसा मानना और समझना। यह तो मात्र समझ की रूपरेखा दिखलाई है।

संताप के सद्हेतु को प्रेम से स्वीकार करो

इसके लिए प्रत्येक **जीव** को अपनी मान ली हुई समझ में ही जीया करना छोड़ना ही पड़ता है, यह निश्चित बात है। इससे **इस जीव** की तुम सभी को इस पत्र द्वारा प्रार्थना है कि किसी कोई लेख द्वारा या वैसे वर्तन द्वारा यदि **इस जीव** का संताप लगे तो जानें कि उसके द्वारा वह स्वजन के जीवन में अच्छी तरह अंतर में प्रवेश होना चाहता है। उसे

प्रेमभक्तिभाव से वैसी नैसर्गिक सरलता देने का मन हो तो करना, पर वह कठिनाई से और खिन्नता से नहीं, परंतु उसमें हमारे जीवन का विकास है, ऐसा अंतर में अंतर से ज्ञानभक्तिभाव से लगे तब ही, यद्यपि ऊपर के **इस जीव** के वैसे भाव को ऊपर की तरह कोई नहीं स्वीकार करेगा, तो उसके सामने मुझे कोई शिकायत नहीं है। न स्वीकार करनेवाले उनकी उनकी भूमिका पर से सच्चे भी हो।

प्रेमभक्ति से ही ज्ञान

परंतु उसके साथ-साथ हमें स्वयं को गलत ठहरना आये, तो वैसा करके भी सामने उस **जीव** को न्याय देने की सद्वृत्ति हम में जागे तो वह बहुत उत्तम है। सज्जनता के अनेक लक्षणों में से वह भी एक लक्षण है। इसलिए अमुक कोई हकीकत **इस जीव** की न समझ में आये, तो मात्र वह समझाने से ही समझ आ जायेगी ऐसा कुछ नहीं है। उसे सर्वश्रेष्ठ प्रकार से सभी माने ऐसा कुछ भी इस **जीव** की समझ में नहीं है। वैसा किसी को कहने का भी नहीं होता। वह तो हृदय में प्रेमभक्तिज्ञान जागते-जागते वह यदि सच्चा ही होगा, तो अपनेआप ही समझ में आ जायेगा। हमारी धीरज को तो कोई अंत नहीं है।

सत्पुरुष के प्रवेश की शर्त

इस जीव ने श्रीगुरुमहाराज की कृपा से और प्रभुकृपा से जीवन की साधना की है, उसकी तो हकीकत और प्रमाण है। कुटुंब की अत्यंत गरीब दशा होने पर भी, स्थूल रूप से उस प्रकार के जीवन में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ और हैरानी भोगने पर भी, श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ सेवा के लिए उसने समग्र जीवन बिताया है, यह भी ठोस हकीकत है। **जीव** में विश्वास, श्रद्धा रखने के लिए **जीव**स्वभाव की भूमिका पर से भी जितनी पर्याप्त योग्य हकीकत मिलनी चाहिए या होनी चाहिए उतनी उसमें है, यह तो स्पष्ट भरोसे से अनुभव कर सके ऐसा है। **जीवनविकास के हेतु के लिए सभी प्राप्त स्वजनों की श्रद्धा, विश्वास, प्रेमभक्ति और जीवनविकास के लिए की तमन्ना हृदय में प्रकट हुए बिना इस *जीव***

के सभी प्राप्त स्वजन के जीवन में मन, चित्त, प्राण, मति, अहम् आदि में प्रवेश करने का और जीवनविकास के लिए काम करना असंभव ही बनता होता है ।

अलख

इससे **इस जीव** की तो आप सभी के पास ऐसी माँग है । भिक्षा की झोली रखकर आप सभी के आंगनों में भटकता करता हूँ । अभी किसी के पास से वह मिलता नहीं है, अलख पुकारते जाता हूँ । मेरा भगवान सच्चा है, उसका भरोसा है । **इससे तो उस प्रिय की आशा पर जीये चला जा रहा हूँ । जिन जिन स्वजनों को जीवनविकासार्थ हृदय से उनकी कृपाबल से लगे रहना हुआ है, वह कोटि जन्म होने पर भी उनसे बिछुड़ना नहीं होगा ।**

प्रेमभक्ति ही काम की

व्यापार की कला में व्यापार की लगनी लगे बिना पारंगत नहीं हो सकते । इसमें भी लगनी लगे बिना और वैसी लगनी लगने के बाद जीवन के जो अनेक प्रकार के संग्राम के अलग-अलग प्रकार के मोरचों में गुजरने के बाद वह **जीव** जिस रूपांतर को पाता है, उसे पहचानने और समझने की शक्ति तब उसमें पैदा होती रहती है, यह समझना । सामान्य व्यवहार में भी चालाक, दक्ष, निपूण, व्यवहारकुशल मनुष्य को हम पूर्ण परख नहीं पाते, तो ऐसों को किस तरह से परख सकते हैं ? इसलिए ऐसों को परखने या समझने की खटपट में पड़े बिना उसके साथ हृदय की ही प्रेमभक्ति से जितना राग कर सकते हैं, उतना राग हृदय से किया करें । उसके वचनों को हमारी समझ से नहीं, पर 'किसी योग्य प्रकार का तथ्य होगा, और उसमें कुछ उत्तम होगा', ऐसा उस उस पल में ऐसे प्रकार के जीवित श्रद्धाविश्वास भक्ति से जितना हृदय के उत्साह से वह स्वीकार कर सकने का हो सके उतना वैसा करें वह हमारे लिए उत्तम है । इससे कोई आप सभी का लाखों का तो नुकसान नहीं होनेवाला है । कोई उलटा, टेढ़ामेढ़ा, भूकंप होनेवाला नहीं है यह जानें ।

वैसी स्वीकार करने की भूमिका में उस समय कहीं कोई गिनती न हो या दूसरी कहीं कोई वृत्ति नहीं होनी चाहिए अथवा तो 'चलो ! **मोटा** को इससे अच्छा लगेगा', ऐसी वृत्ति भी न हो या रहनी चाहिए । इसमें एकमात्र समझ, जीतीजागती समझ, अपने जीवनविकास के प्रति की होनी चाहिए । अथवा उनके वचनों को न स्वीकार करने का हो तब भी हरकत नहीं है । **वह मात्र माँगता है सभी स्वजनों का प्रेमभक्ति - भावभरा सत्कार, स्वीकार, सहकार और सहचार ।** वैसा हो तभी परस्पर एकराग हो सकते हैं। राग यदि सचमुच दिल में प्रकट हुआ हो तो हम परस्पर चिपके समझो । इस प्रकार का राग भी अभी किसी स्वजन में लगा हुआ नहीं है। जीवनविकास के उत्कर्ष का मार्ग अमुक अनिवार्य शर्तों को माँग लेता है। उन शर्तों का हृदयपूर्वक का प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक का पालन यह एक सबसे बड़ा **इस** मार्ग का साधन है ।

पूज्य बा के मौन में बैठने से पहले पैर दुख रहे थे और बहुत दर्द हो रहा था। वह तो सब पहले ही दिन से दुखना बंद हो गया था। बातरोग बा को बाधित नहीं करता। धून तो सतत लगाती है।

This is an appeal from the Heart, of the Heart, to the Heart.

(यह हृदय से निकलता अंतरतम हृदय का स्वजन के अंतरतम हृदय को पुकार और आरजू है ।)

स्वजनों को अनेक प्रकारों से करके प्रभुकृपा से मुझे तो मिश्रित करने का करवाना है या करना है, यह जाननाजी ।

• • •

हमारा आदर्श और कुटुंबिओं

कुंभकोणम् ॥ हरिः ॐ ॥ ता. १९-३-१९४९

आपने जो आदर्श अमुक बाबत में अमुक वस्तु की बाबत का कहा है, उस अनुसार जो **जीव** समझकर बरतते हो तो वह उत्तम हैं, पर जो **जीव** उस तरह से वर्तन नहीं कर सकते हैं, मन ही मन में उस वस्तु के लिए वे आतुर होते हैं और उसके लिए लाचारी भोगने की दशा तक

आ पहुँचते हैं, उससे अच्छा तो वे उस वस्तु को भोगे वह ठीक कहलाएगी, ऐसा मानना है । जिस आदर्श को हम मानते हों और जिस अनुसार जीने चाहते हों और जिस अनुसार जीते भी हों उस अनुसार जो सभी हमारे साथ रहनेवाले होते हैं, वे तब ही वर्तन कर सकते हैं और वह भी हृदय के उत्साह से, प्रेमभाव से, जीवन की उस विषयक समझ अपने दिल में उतारकर आचरण कर सकते हैं – कि जब उसकी योग्यता का भान और उसकी उत्तमता का ज्ञान हृदय में वे प्रकट हो सके हो ।

दबाव से हानि

हमारे अपने जीवनआदर्श की समझ किसी **जीव** को बलपूर्वक से कभी भी प्रकट नहीं कर सकेंगे । वैसा करने पर उस **जीव** के जीवन में और मन में उलटा असंतोष और संताप ही पैदा हो जाता है । हमारे अपने आदर्श की योग्य समझ हमारे जीवन में जो प्रकट हुई हो, उसकी वास्तविकता और योग्यता हम धीरे-धीरे प्रेमभाव से करके, सामनेवाले **जीव** में सहानुभूति प्रेरित करके, उसके साथ तादात्म्यभाव से वर्तन करके सामनेवाले **जीव** में उसे उतारने में यदि प्रभुकृपा से सफल हो सके, तो वह मार्ग भी उत्तम है । यदि इससे सामनेवाले **जीव** में कुढ़न, संताप, क्लेश, दुविधा, अकुलाहट, दम घुटना आदि होते हैं, तो हम अपने मार्ग में अधिक दृढ़ और अटल रहकर अपने में उतनी और वैसी शक्ति और साधनसामग्री हो, तो दूसरे को उसे उसे मार्ग पर जाने देने में सार है ।

आदर्श और जीवनवर्तन

आज जहाँ तहाँ सर्वत्र लोग अमुक-अमुक चीज का उपयोग करते हो गये हैं । वैसी हवा के स्पर्श से कोई रंगे बिना का रह गया हो वैसे तो बहुत ही कम **जीव** हो । आदर्श जीवन जीनेवाले जगत में हमेशा बहुत ही थोड़े **जीव** होंगे । आदर्श रखनेवाला **जीव**, आदर्श पालन करनेवाला **जीव** और आदर्श को संपूर्ण आचरण करनेवाला **जीव** – इन तीन प्रकार के **जीवों** में भेद होता है । उसमें भी आदर्श को संपूर्ण सौ प्रतिशत आचरण करनेवाला **जीव** सर्वोत्तम होता है । वैसे **जीव** तो सृष्टि में

नाममात्र के ही रहेंगे । आदर्श की संपूर्णता की ऊँचाई में पहुँचते-पहुँचते तो आदर्श का स्वरूप भी विस्तार और विशालता पाता जाता है और आदर्श की रूपरेखा भी बदलती जाती है । आदर्श की परिपूर्णता लगने पर भी, आदर्श की रम्यता, भव्यता, दिव्यता तो अभी दूर और दूर रहा करती है । आदर्श की परछांई के अनुभव में कितने ही **जीव** अपने मूल आदर्श का ही वह अनुभव है ऐसा मान लेकर उसमें संतोष कर लेते हैं । आदर्श को पाते पाते आदर्श स्वयं ही एक के बाद एक उत्कृष्टता में प्रकटता जाता है । इससे आदर्श को जाननेवाले, समझनेवाले, पालन करनेवाले और उसमें भी उसे संपूर्ण यथायोग्य भाव से आचरण करनेवाले **जीव** कम ही होते है ।

वातावरण की असर

जो जो आंदोलन वातावरण में जन्म लेकर चारों तरफ व्याप्त होने लगते हैं, वह वह वातावरण आसपास के **जीव** के भाव को भी स्पर्श करता है । जैसे पश्चिम की संस्कृति का उदय होते, वह यहाँ के जीवन को वैसे का वैसे ज्यों का त्यों रखे यह कभी भी नहीं हो सकता, यहाँ की संस्कृति में प्राण-चेतना जागने या व्यक्त होते, वह पश्चिम की संस्कृति को स्पर्श नहीं करे ऐसा कभी भी नहीं हो सकता है । गंगा, यमुना और सरस्वती के प्रवाहों की तरह, जो तो सब एक-दूसरे में मिश्रित होने के लिए ही सर्जित हुआ है ।

दबाव से हानि ही

उससे अलिप्त तो वही **जीव** रह सकता है, जिसने अपने में से अपनी उस प्रकार की समझ अंतर्गतरूप से पैदा की हो । सामनेवाले **जीव** को बलपूर्वक अपनी समझ की लीक में लाना नहीं हो सकता है । वैसा करने जाये तो, उस **जीव** की समझ को हम उस प्रकार की उस विषय की कक्षा के विषय में ऊँचा भी नहीं ला सकते हैं । उलटा इससे तो उस सामनेवाले **जीव** के दिल में संताप, अकुलाहट, असंतोष और क्लेश पैदा करते हैं, जिसका हमें कुछ भी भान उस समय तो नहीं होता है ।

एकमात्र संभव उपाय : प्रेम

फिर, हमारे दिल के आदर्श की समझ सामनेवाले **जीव** के दिल में पैदा करने के लिए उस दूसरे **जीव** के साथ ज्ञानात्मक तादात्म्यभाव, हृदय की सहानुभूति, हृदय का अपार प्रेमभाव और दूसरे **जीवों** की उसके मन की भूमिका का योग्य समझना और उसे उसका उस उस प्रसंग में जो जो अठीकपन हो, वह उसके गले उताराकर उसे अपने उस विषय की यथायोग्यता पूरी समझाने की जिसे सचमुच संपूर्ण बड़ी लगन रहा करती है, वैसा करके उस उस **जीव** को अपने जीवन के योग्य पहलू में बदलने की हृदय की सचमुच भावनायुक्त इच्छा है, वैसे प्रकार के **जीव** सामनेवाले **जीव** को अपने जीवनआदर्श की समझ में खींच सके ऐसी संभावनावाले होते हैं। वैसे **जीवों** को भी निपटारा करना ही पड़ता है।

अपना ही सँभालो

इससे जिसके जीवन में किसी आदर्श की आग जलती ही न हो वैसे **जीव** को तो दूसरे को कहने जैसा रहता ही नहीं और यदि जलती हो, तो साथ में रहे हुए **जीव** को अपने साथ खींचने की या अपने साथ लेने की या रखने की वृत्ति हम में न रहे वह उत्तम। फिर, जहाँ तक उसे अपने जीवन की यथार्थता और अच्छाई साररूप समझने की दिल की बड़ी लगन और उस प्रकार की प्रेमभक्तियुक्त होशियारी यदि प्रकट न हुई हो तो वहाँ तक दूसरे **जीव** को हमारी शक्ति हो और साधन हो, तो उसे स्वयं अपनी वैसी वैसी मर्यादा की हद में, शक्ति और यदि हृदय की सच्ची प्रेमभक्तियुक्त ताकत जन्मी हो, तो हद के बाहर भी – वैसे **जीव** को अपने आप वर्तन करने की सरलता हुआ करे तो वह उत्तम है।

दूसरे कब अनुशरण करेंगे ?

जीवन में जहाँ तहाँ निपटारे के स्थिति पैदा होती है। जिसे स्वजन गिनता हूँ वैसे किसी **जीव** को लाचारी की स्थिति में रहने देने से तो वह वह चीज भोगता वह बने तो वह अच्छी बाबत है। हम कुछ भी करें

तब भी जगत की हवा लगभग सभी **जीवों** को स्पर्श करे बिना नहीं रह सकेगी। सभी हमारी ही कक्षा में चले वैसा नहीं हो सकता है। हमारा स्तर जीवन की समझ के माप से यदि उत्तम प्रकार का हो तो वह मिले हुए **जीवों** में उतारने के लिए, हमारे में वैसी धधकती सहज तमन्ना, बड़ी लगन, गरज, सहानुभूति, प्रेमभाव, तटस्थता, समता, शांति आदि भावनाएँ जीवन में जाग जानी चाहिए। उसके बिना किसी **जीव** को हम अपने साथ लेकर नहीं जा सकते हैं, इससे जो जो **जीव** मिले हुए हो, उसे उसे संभव हो, शक्ति हो, दूसरी कोई नकारात्मकता उसमें न हो, वहाँ तक उसे उसे उसके समझ के मार्ग पर जाने देकर वैसा होते होते उस **जीव** को प्रेमभक्तिभाव द्वारा हमारे अपने आदर्श की समझ में लाने का जीताजागता तटस्थतापूर्वक हम यदि हृदय से पुरुषार्थ करते रहेंगे तो उसमें जीत पाना संभव रहता है सही। ऐसी मेरी सोच है। तथापि यदि मेरी भूल हो गई हो तो उसके पीछे का मेरा हेतु बुरा नहीं है। फिर वह वह चीज देकर अच्छा दिखने का भी हेतु नहीं है, यह निश्चित रूप से जाननाजी।

● ● ●

अनुष्टुप

कुंभकोणम् ॥ हरिःॐ ॥ ता. २९-१२-१९४९

कहीं कोई गूढ़ योगिओं, योग जो जानते नहीं
ऐसे मानवों को लेकर अपने वश चित्त से,
इच्छा स्वयं की कुछ उस अनुसार चित्त के गहरे
- संस्कारों को कराते पूरा जागृत वहाँ खड़ा।
उस समय का सही लाभ जो कोई उग्र साधक
ले लेगा हृदय में चेतकर पाये लाभ पूरा उर ॥

('कर्मगाथा', पृ. १३७)

श्रीप्रभुकृपा से **यह जीव** कुछ भी यद्वतद्वा करता नहीं होता। आपके चित्त में जो संस्कार पड़े हुए थे और रहे हुए थे, उसे प्रत्यक्ष किसी सूक्ष्म प्रकार की विशिष्ट कला-पद्धति (technique) से उसे प्रत्यक्ष स्पष्टरूप से मौनएकांत में सचमुच आकार रूप में अपनी आँखों से देख सकें वैसा

बता देने में आये हैं । ऊपर जो कविता में पंक्तियाँ लिखी है, उस पर से स्पष्ट समझा जा सकता है कि **इस जीव** में वैसी technique का ज्ञान उसकी कृपा से रहा हुआ है और उस अनुसार उसने उसकी कृपा से करके बतलाया है । उसका कैसा लाभ लेना यह काम प्रत्येक का स्वयं अपना है । **इस जीव** ने तो प्रभुकृपा से जो साबित कर देना था, उसे करके दिखलाया है । कैसा रहना – होना – जीना इस विषय में कोई परवाह नहीं होती है या नहीं रहती है, किन्तु जो कुछ हुआ उसका योग्य, उत्कट सभानपन – जिस भावप्रदेश में खींच ले जाकर दिल को दिल में प्रकटाना चाहिए यह तो उसकी कृपा से किया है । दूसरे किसी ढंग से वैसा होना कभी संभव भी नहीं है इतना तो निश्चित है ।

एक आश्रम में एक ऐसी आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ कि जो दूसरे **जीव** के शरीर में होते विकार को स्वयं शरीर में स्वयं सहन कर लेते थे । वे स्वयं हमारे अपने साथ ही रहते थे । फिर, वह दूसरे **जीव** को हुआ करता था, वह वह हकीकत उस **जीव** के पास से स्वयं सुनने को मिली थी, और शरीर से जिस तरह से वह सहन करते थे, वह उसके ही विषय में था, उसका अनेक प्रकार से प्रमाण मिला था । फिर, एक दूसरे **जीव** की वैसी वृत्ति को उन्होंने अपने पर स्वीकार की थी और उस स्थिति की सेवा-टहल हमने स्वयं की थी । और वह अमुक दिन तक चली थी । उन्हें विकार अवरोधक नहीं है, ऐसा अपने स्वयं के प्रत्यक्ष अनुभवों से वह हकीकत जानी है । इससे ऐसी आत्मा हो ही नहीं सकती ऐसा मानना वह भी ठीक नहीं है । ऐसा ऐसा तो कितनी ही बार उनके शरीर के अणु अणु में से वैसा वैसा गुजर जाता होगा ! ऐसे उपरोक्त दो अनुभव तो हम **जीवों** को भरोसा दिलाने के लिए ही प्रत्यक्षरूप हुआ होना संभव है ।

(समग्र पुस्तक में एक ही **जीव** को संबोधन करके लिखे गये ये पत्र हैं । मात्र अंतिम दो ही पत्र लेखक के एक बुजुर्ग स्वजन को-मामा को-जो उन पर बहुत सद्भाव रखते हैं, उन पर लिखे हुए हैं ।)

॥ हरिःॐ ॥

आरती

ॐ शरणचरण लीजिए, प्रभु शरणचरण लीजिए
पतित को उबार लीजिए (२) कर पकड़ हृदय लगा लीजिए...
ॐ शरणचरण.

मन-वाणी के भाव आचरण में उतरें प्रभु (२)
मन, वाणी और दिल को (२) कृपा कर एक करें...ॐ शरणचरण.

सभी स्वजनों के साथ, दिल में सद्‌भाव जगें, प्रभु (२)
भले अपमान हुए हो (२) तब भी भाव बढ़े...ॐ शरणचरण.

हीन प्रकार की वृत्ति; ऊर्ध्वगमन करने, प्रभु (२)
प्रभुकृपा से मथन करावें (२) चरणशरण पाने...ॐ शरणचरण.

मन के सकल विकार, प्राणयुक्त वृत्ति, प्रभु (२)
बुद्धि की सभी शंकाएँ (२) चरणकमल में द्रवित हो...ॐ शरणचरण.

जैसे भी हो प्रभु, वैसे ही दीखें, प्रभु (२)
मति मेरी खुली रहे (२) स्पष्ट ही परखें...ॐ शरणचरण.

दिल में कुछ भरा हो, उससे सब उल्टा, प्रभु (२)
मुझसे कभी न हो (२) ऐसी मति दें...ॐ शरणचरण.

जहाँ जहाँ गुण और भाव, वहीं दिल मेरा टिके, प्रभु (२)
गुण और भाव की भक्ति (२) मेरे दिल में संचरित करें...ॐ शरणचरण.

मन, मति, प्राण प्रभु । तुम्हारे भाव में तल्लीन रहे, प्रभु (२)
दिल में तुम्हारी भक्ति में (२) उमंगें-तरंगें तरंगित करें...ॐ शरणचरण.

– मोटा

साधना-मर्म

१. मुख से या मन में जागृत रूप से जप, साथ ही हृदय-प्रदेश पर ध्यान तथा चेतना के साथ चिंतन सह भावात्मक भाव का रटन ।

२. प्रत्येक क्षण में सतत समर्पण : अच्छे तथा बुरे दोनों का ।

३. साक्षीभाव, जागृति, विचारों की शृंखला न जोड़ें ।

४. हो सके उतना अधिक वाचिक और मानसिक मौन रखें, अभ्यस्त हो, अत्यधिक शरणभाव से जीवन में चेतनापूर्वक जागृति को व्यवस्थित करें ।

५. आग्रह प्रभु-चिंतन के अलावा सभी आग्रहों को छोड़ें, नम्रता रखें, शून्य होने का ध्येय रखें ।

६. बहुत भावपूर्ण हृदयस्थ हो आर्द्र और आर्तभाव से प्रार्थना करें, भगवान को सभी सुख-दुःख बतलाते रहें, उनके साथ आत्मनिवेदन द्वारा बहुत गहरा व्यक्तिगत संबंध स्थापित करें, मन में कुछ भी विचार न आने दें ।

७. जो भी कार्य करें प्रभु के हैं समझकर करें -जरा भी संकोच किए बिना उसे बहुत प्रेमपूर्वक करें । प्रत्येक प्रसंग, घटना हमारे कल्याण के लिए ही है और प्रत्येक प्रवृत्ति हमारे अपने विकास के लिए है । प्रत्येक प्रसंग के पीछे प्रभु का गूढ शुभ संकेत छिपा है ।

८. आत्मलक्षी-अंतर्मुखी बनें, मात्र अपनी दुनिया में रहें । जान बूझकर अपने आपको न उलझने दें ।

९. अन्य की सेवा ही प्रभु सेवा समझें, सेवा लेनेवाले, सेवा देनेवाले पर, सेवा करने का अवसर देकर उपकार करते हैं । राम ने दिया है और राम को दे रहे हैं, वहाँ मेरा-मेरा कहाँ रहा ? तुम्हारा इस जगत में है क्या ?

१०. प्रत्येक कार्य, प्रत्येक बातचीत, व्यवहार हमारे ध्येय को गति दे ऐसे उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर करें । पढ़ते-लिखते समय और प्रत्येक कर्म करते समय भाव की स्मरण धारणाओं का अभ्यास करते रहें ।

११. वृत्ति का मूल खोजें, उसका पृथक्करण करें । उसमें खोये बिना, उसका तटस्थतापूर्वक और स्वस्थतापूर्वक निरीक्षण करें ।

१२. प्रभु की प्रत्येक कला, सौन्दर्य, रम्यता, विशुद्धता आदि प्रभु के वरदानों में रहे भाव उसके अनुरूप भाव का हमारे में अवतरण हो ऐसी प्रार्थना करें ।

१३. उमंग, आवेश और प्रेमभाव को ऐसे ही न जाने दें, साथ ही उसमें डूब भी न जाएँ । उसका साधना में उपयोग करें, तटस्थता बनाए रखें ।

१४. खाते और पानी पीते हुए जीवन में चेतन शक्ति का तन्मय भाव से प्रार्थना करें, शौच, पेशाब आदि क्रियाओं के समय विकारों, कमजोरियों इत्यादि का विसर्जन के भाव से प्रार्थना करें ।

१५. स्थूलता को त्यागकर सूक्ष्म तत्त्व को ध्यान में रखें । वृत्ति की शुद्धि करें, भाव की वृद्धि करें ।

१६. प्रभु सचराचर है । 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना रखें ।

१७. प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु के उज्ज्वल पक्ष को ही देखें । किसी के भी काजी न बनें, किसी को भी जल्दी से अभिप्राय न दें, वाद विवाद न करें, अपना आग्रह न रखें, दूसरों के शुभ उद्देश्य में मदद करें, मानसिक और सार्वत्रिक उदारता जीवन में प्रगट करें, अत्यधिक प्रेमभाव बनाए रखें, प्रकृति का रूपान्तर करना है, प्रकृतिवश सहज न होनेवाले कर्मों को नजरअंदाज कर आगे बढ़ें, फल की आसक्ति त्यागें, स्वयं पर होते अन्यायों, आ पड़ती कठिनाइयों आदि का मूल हम में ही है, ऐसा दृढ़तापूर्वक मानें, गुरु में प्रेम भक्तिभाव को बनाते रहें, तटस्थता, समता और समर्पण के त्रिवेणी संगम को नित्य बनाए रखें, सदा प्रसन्नता बनाए रखें, कृपा और पुरुषार्थ के युगल को जीवन में उतारें, प्रत्येक कर्म के आदि, मध्य और अंत में प्रभु की स्मृति बनाए रखें, मन को निःस्पंद करें, रागद्वेष निर्मूल करने की जागृति सदैव रखें, आध्यात्मिक अनुभवों को नित्य के जीवन में आचरण में लावें, कहीं भी किसी भी दायित्व से भागें नहीं, जो भी प्रभु-इच्छा से प्राप्त हो उसे प्रभु-प्रसाद समझ कर प्रसन्नता से लें । कहीं भी किसी से तुलना या ईर्ष्या न करें, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति यह मन का भ्रम है, जीवन-साधना के लिए सब कुछ सानुकूल ही होता है, प्रभुमय—उनके मूक यंत्र—होने की एक तमन्ना जीवन में बनाए रखें ।

१८. कर्म में, कर्म का महत्त्व नहीं है, परन्तु जीवन के भाव का सतत एक समान, सजग चिंतन रहा करे, यह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है । ऐसा सजग अध्ययन कर्म करते हुए प्रत्येक क्षण में बनाए रखें ।

-श्रीमोटा

॥ हरि:ॐ ॥

पूज्य श्रीमोटा के जीवन का परिचय

जन्म	:	ता. ४-९-१८९८ भाद्रपद कृष्ण चतुर्थी, वि. सं. १९५४
स्थान	:	सावली, जिला वडोदरा (गुजरात)
नाम	:	चूनीलाल ।
माता	:	सूरजबा ।
पिता	:	आशाराम ।
जाति	:	भावसार ।
उपनाम	:	भगत ।
१९०३	:	कालोल में निवास, गरीबी का आरंभ ।
१९०६	:	मजूरी के काम ।
१९१५	:	तौला की नौकरी ।
१९१६	:	पिता की मृत्यु ।
१९०५ से १९१८	:	टुकड़ों में पढ़ाई के साथ कठिन मजदूरी ।
१९१९	:	मैट्रिक उत्तीर्ण ।
१९१९-२०	:	वडोदरा कॉलेज में ।
दि.६-४-१९२१	:	कॉलेज का त्याग ।
१९२१	:	गुजरात विद्यापीठ में ।
१९२१	:	विद्यापीठ का त्याग । हरिजन सेवा का आरंभ ।
१९२२	:	मिरगी की बीमारी से तंग आकर गरुड़ेश्वर की चट्टान से आत्महत्या का प्रयास, दैवी रक्षा; 'हरि:ॐ' जप से रोग मिटाने का सफल प्रयोग । श्रीबालयोगीजी द्वारा दीक्षा । श्रीसद्‌गुरु केशवानंद धूनीवाले दादा के दर्शन के लिए सांईखेड़ा गए । रात्रि को श्मशान में साधना और दिनभर प्रभुप्रीत्यर्थ हरिजन सेवा ।
१९२३	:	'तुज चरणे' तथा 'मनने' की रचना ।
१९२४	:	डाकोर में श्रीनथ्थुराम (मगरमच्छ) से मिलन, हिमालय की प्रथम यात्रा ।
१९२६	:	विवाहहस्तमिलाप के अवसर पर समाधि का अनुभव । हरिद्वार कुंभमेले में श्रीबालयोगीजी की तलाश ।
१९२८	:	हरिजन आश्रम, बोडाल में सर्पदंश -परिणाम स्वरूप 'हरि:ॐ' जप अखंड हुआ ।

१९२८	:	'तुज चरणे' के प्रथम संस्करण का प्रकाशन।
१९२८	:	दूसरी हिमालय-यात्रा ।
१९२८	:	साकुरी के पूज्य श्रीउपासनीबाबा का नडियाद में आगमन, उनके आदेश पर साकुरी गये, वहाँ मलमूत्र के बिस्तर में मुख-तरस, सख्त पत्थर-मार सहन करते दस-ग्यारह दिन ध्यान, समाधि अवस्था में ।
१९३०	:	मन की नीरवता का साक्षात्कार ।
१९३० से ३२	:	इस दौरान साबरमती, विसापुर, नासिक और यरवडा जेल में हेतु देशसेवा का नहीं, साधना का। कठोर परिश्रम और लाठी चार्ज के दौरान प्रभुस्मरण-मौन । विद्यार्थियों को समझाने के लिए विसापुर जेल में सरल गुजराती भाषा में श्रीमद् भगवद्गीता को लिखा—'जीवनगीता' ।
१९३३	:	तीसरी हिमालययात्रा । बर्फ में रहते महात्मा मिले ।
१९३४	:	सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार। मल-मूत्र के आधार पर पचीस दिन की साधना ।
१९३४ से १९३९	:	दौरान हिमालय में अघोरीबाबा की मुलाकात बाद में नर्मदा धुंआँधार के प्रपात के पीछे की गुफा में साधना। चैत्र मास में ६३ धूनियाँ जलाकर नर्मदा किनारे खुले में शिला पर नग्न बैठकर साधना। कराची में नर्क चतुर्दशी की रात्रि को समुद्र में शिला पर ध्यान, चालीस दिन के रोजे, 'समुद्र में चले जाने का हुक्म और ईद के दिन पूरे शहर में नग्न अवस्था में घूमकर घर जाने सांईबव सांईबाबा का हुक्म। शिरडी के सांईबाबा के प्रत्यक्ष दर्शन—आदेश—साधना के अंतिम चरण का मार्गदर्शन।
१९३९	:	दि. २९-३-३९ : रामनवमी विक्रम संवत १९९५ काशी में निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार । हरिजन सेवक संघ से त्यागपत्र । 'मनने' के प्रथम संस्करण का प्रकाशन ।
१९४०	:	दि. ९-९-४० : हवाई मार्ग से अहमदाबाद से कराची जाने का गूढ़ आदेश ।
१९४२	:	माता का अवसान ।
१९४२	:	हरिजन सेवक संघ से अलग होने पर भी हरिजन कन्या छात्रालय के लिए मुंबई में चन्दा इकट्ठा किया। दो बार सख्त पुलिसमार—देहातीत अवस्था के प्रमाण ।

१९४३	:	२४, फरवरी गाँधीजी के पेशाब के जहरीले जन्तुओं का अपने पेशाब में दर्शन । नैमित्तिक तादात्म्य का अनुभव ।
१९४५	:	हिमालय की यात्रा - अद्‌भुत घटनाएँ ।
१९४६	:	हरिजन आश्रम, अहमदाबाद मीराकुटिर में मौनएकांत का आरंभ ।
१९४७	:	आश्रम स्थापने का विचार ।
१९५०	:	दक्षिण भारत के कुंभकोणम् (तामिलनाडु) में कावेरी नदी के किनारे हरिःॐ आश्रम की स्थापना । (सन १९७६ में देहत्याग के बाद आश्रम बंद कर दिया गया ।)
१९५४	:	सूरत तापी नदी के किनारे कुरुक्षेत्र जहाँगीरपुरा के श्मशान में मौनएकांत का आरंभ ।
१९५५	:	दि. २८-५-५५ : जूना बिलोदरा, शेढी नदी के किनारे, नडियाद, गुजरात, हरिःॐ आश्रम की स्थापना ।
१९५६	:	दि. २३-४-५६ सूरत (गुजरात) तापी नदी के किनारे, कुरुक्षेत्र जहाँगीरपुरा में हरिःॐ आश्रम की स्थापना ।
१९५९	:	१६-८-१९५९ हरिःॐ आश्रम, सूरत में मौनमंदिर का उद्घाटन । (श्रीमोटा का ता. १६-८-१९५९ का पत्र श्री पी. टी. पटेल को)
१९६२	:	समाजोत्थान की प्रवृत्ति, उत्सव मनाने की संमति ।
१९७० से १९७५	:	शरीर में पीडाकारी वेदना के साथ सतत प्रवास, वार्तालाप और साधना का इतिहास, श्रद्धा, निमित्त, रागद्वेष, कृपा आदि भाववाही विषयों पर लेखन - प्रकाशन ।
१९७६	:	१९-७-१९७६ देहत्याग का संकल्प, हरिःॐ आश्रम नडियाद । २२-७-१९७६ देहत्याग विधि का प्रारंभ : सायंकाल ४ बजे से फाजलपुर (जि. वडोदरा, गुजरात) मही नदी के किनारे श्री रमणभाई अमीन के फार्म-हाउस में ।
२३-७-१९७६	:	देहविसर्जन : श्री रमणभाई अमीन के फार्म-हाउस नजदिक मही नदी के किनारे फालजपुर (जि. वडोदरा, गुजरात)

● ● ●

हरि:ॐ आश्रम सूरत में उपलब्ध हिंदी पुस्तकों की यादी

क्रम	पुस्तक	प्र. आ.
१.	पूज्य श्रीमोटा एक संत	१९९७
२.	कैंसर का प्रतिकार	२००८
३.	सुख का मार्ग	२००८
४.	दुर्लभ मानवदेह	२००९
५.	प्रसादी	२००९
६.	नामस्मरण	२०१०
७.	हरि:ॐ आश्रम (श्रीभगवान के अनुभव का स्थान)	२०१०
८.	श्रीमोटा के साथ वार्तालाप	२०१२
९.	विवाह हो मंगलम्	२०१२
१०.	बालकों के **मोटा**	२०१२
११.	विद्यार्थी **मोटा** का पुरुषार्थ	२०१२
१२.	मौनमंदिर का मर्म	२०१३
१३.	मौनमंदिर का हरिद्वार	२०१३
१४.	मौनएकांत की पगडंडी पर	२०१३
१५.	मौनमंदिर में प्रभु	२०१४

●

English books available at Hariom Ashram, Surat.
January - 2020

No.	Book	F. E.
1.	At Thy Lotus Feet	1948
2.	To The Mind	1950
3.	Life's Struggle	1955
4.	The Fragrance Of A Saint	1982
5.	Vision of Life - Eternal	1990
6.	Bhava	1991
7.	Nimitta	2005
8.	Self-Interest	2005
9.	Inquisitiveness	2006
10.	Shri Mota	2007
11.	Rites and Rituals	2007
12.	Naamsmaran	2008
13.	Mota for Children	2008
14.	Against Cancer	2008
15.	Faith	2010
16.	Shri Sadguru	2010
17.	Human To Divine	2010
18.	Prasadi	2011
19.	Grace	2012
20.	I Bow At Thy Feet	2013
21.	Attachment And Aversion	2015
22.	The Undending Odyssey (My Experience of Sadguru Sri Mota's Grace)	2019
23.	Pujya Shri Mota Glimpses of a divine life (Picture Book)	2020
24.	Genuine Happiness	2021

●

॥ હરિ:ॐ ॥

॥ हरि:ऊँ ॥

माँ का दृष्टांत

कुंभकोणम् ॥ हरि:ॐ ॥ ता. २२-४-१९५२

मुझे किसी भी **जीव** के बारे में कोई निराशा नहीं होती है। आशा रहती है, क्योंकि जो **जीव** हृदय की भावना से संबंध में आया होगा, उसका संबंध तो टिकेगा ही। हृदय का जो प्रेमभाव है, वैसे प्रेमभाव में आशा केवल मात्र होती है वैसा भी नहीं है। हृदय का प्रेमभाव जब शिक्षक के क्षेत्र में उतरता है, तब वैसे भाव में भी उसे उतरना ही पडता है। माँ जैसे बालक के प्रति अमूक बार नाराज भी होती है, उसका कारण उसका बालक के प्रति का प्रेम ही होता है। बालक को हठीला, जिद्दी और अशोभनीय आचरण करते देख, वह किसी तरह भी नहीं मानता ऐसी उसकी वृत्ति को देखकर माँ के दिल में उसके लिए वैसा होता है। वह कभी बालक पर गुस्सा भी होती है, यद्यपि यह सब **जीव**दशा में हुआ करता है, पर तब भी अंतर्गतरूप से माँ का बालक पर का प्रेमभाव इससे कम नहीं होता है।

– **श्रीमोटा**

'जीवनसोपान',
प्रथम संस्करण, पृष्ठ २३२